साहित्य, संस्कृति एवं शिक्षा की सार्थक अभिव्यक्ति

अनभै

पुस्तक संस्कृति विशेषांक

सम्पादक
प्रांजल धर
अमिय बिन्दु

साहित्य, संस्कृति एवं शिक्षा की सार्थक अभिव्यक्ति

अनभै

पुस्तक संस्कृति विशेषांक

वर्ष : 10 अंक 37 जनवरी-मार्च 2013

साहित्य, संस्कृति एवं शिक्षा की सार्थक अभिव्यक्ति

अनभै

पुस्तक संस्कृति विशेषांक

संपादक

प्रांजल धर

अमिय बिन्दु

दो दशकों से साहित्य, कला एवं संस्कृति के प्रति समर्पित

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास

अनभै
पुस्तक संस्कृति विशेषांक

प्रधान संपादक
रतन कुमार पाण्डेय

संपादक
प्रांजल धर
अमिय बिन्दु

संपादकीय सहयोग
सुभाष चन्द्र राय
शशिप्रभा तिवारी
हूबनाथ पाण्डेय
अर्जुन चव्हाण
राधारमण त्रिपाठी

आवरण
रामबाबू कुमार
बब्लू कुमार

इस अंक की सहयोग राशि
दो सौ रुपये मात्र

कार्यालय : 11 लक्ष्मी बिल्डिंग, ज्योतिबा फुले रोड,
दादर, मुंबई - 400014

मुद्रक : एस.के. प्रिन्टर्स, कमला नगर,
दिल्ली - 110007

ईमेल : *anbhai@gmail.com*

प्रकाशक
नीरज कुमार
अध्यक्ष, राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास
206, द्वितीय तल, विराट भवन, कॉमर्शियल कॉम्प्लेक्स
डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली - 110009
दूरभाष : 011-47027661, 65029239
ईमेल : *dinkarsmriti@yahoo.co.in*
वेबसाइट : *www.dinkarnyas.com,*
www.dinkarnyas.org

स्वामी विवेकानंद की 150वीं जयंती के अवसर पर
कथक सम्राट
पंडित बिरजू महाराज जी
को
समर्पित

संपादकीय

चलती हुई ट्रेन में अपनी सीट से चिपका हुआ जब कोई व्यक्ति किताब खोले बैठा हो, किसी अनजानी, अनदेखी पीढ़ी के साथ उसका एकालाप चल रहा हो और बाकी सारे लोग सो रहे हों तो उस व्यक्ति को देखकर लगता है कि वह इस दुनिया का प्राणी नहीं है, जैसे वह किसी और दुनिया में गोते लगा रहा है। किताबें पढ़ना, उड़ने के समान अनुभव देता है। कल्पना की दुनिया में, विचारों की दुनिया में, भावों की दुनिया में और सबसे बढ़कर सूचनाओं की दुनिया में आप मुक्त होकर उड़ने का अनुभव कर सकते हैं। बच्चों को किताबें पकड़ा दीजिए और वे धीरे-धीरे अनदेखी दुनिया के बारे में जानने लगते हैं, बिना घर से बाहर कदम रखे भी। यह उड़ना नहीं तो और क्या है? किताबों की अपनी निराली दुनिया है, उसकी अपनी संस्कृति भी है। भारत में पढ़ने की बहुत लम्बी परम्परा रही है और पढ़ना जीवन का एक अनिवार्य अंग माना जाता है। दुनिया में शायद ही किसी अन्य देश में अखण्ड-रामायण (उत्तर भारत में चौबीस घण्टे तक लगातार चलने वाला पाठ जिसमें तुलसीकृत रामचरितमानस सस्वर पढ़ा जाता है) जैसा धार्मिक-साहित्यिक समागम इतने व्यापक स्तर पर होता हो। इसे केवल धर्म से ही नहीं बल्कि बौद्धिक चेतना के उन्नयन से जोड़कर भी देखा जाता है।

प्राचीन समय में जबकि पढ़ना आजीविका के साथ नहीं जुड़ा था, तब भी लोगों से अपेक्षा की जाती थी कि वे कुछ न कुछ अवश्य पढ़ें। धार्मिक ग्रन्थों के साथ-साथ सामान्य विषयों पर उपलब्ध किताबें प्राचीन काल में लोगों की रुचि को अभिव्यक्त करती हैं। खालिस आध्यात्मिक चर्चाओं पर आधाारित उपनिषदों से लेकर यौन गतिविधियों पर लिखी कामसूत्र भारत के पुस्तक खजाने को किसी भी सभ्यता से अधिक समृद्ध बनाती है। इतना ही नहीं बच्चों के लिए हितोपदेश की कहानियाँ, पंचतंत्र की कहानियाँ महज किताबें नहीं हैं बल्कि उनमें वर्णित चरित्रों का अपना अलग संसार है। हालांकि कुछ समय से उनकी उपयोगिता को नजरअन्दाज कर खालिस पाठ्यक्रम आधारित पुस्तकों पर जोर दिया जाने लगा था परन्तु अब फिर से बच्चों को सीखने के लिए किस्सागोई-आधारित पाठ्यपुस्तकों की मांग उठने लगी है।

भारत में पुस्तक संस्कृति का अध्ययन केवल पुस्तकों के प्रकाशन से सम्बद्ध नहीं है बल्कि यह लोगों में पढ़ने की रुचि, पढ़ने की जरूरत, उनके लेखन, प्रकाशन और उनके व्यापक वितरण से भी जुड़ा है। विद्यालयी शिक्षा हेतु चित्रित-लिखित रूप में पाठ्य-पुस्तकों का प्रचलन भारतीय सभ्यता के लिए अपेक्षाकृत बहुत नई बात है। अभी दो शताब्दी पहले भी पुस्तकों के माध्यम से विद्यालयी शिक्षा यहाँ के लिए अनजानी बात थी। फिर भी केवल मौखिक उच्चारण के बल पर इतनी वृहद शिक्षा

व्यवस्था का लगातार शताब्दियों तक स्थानान्तरण संसार की सभ्यताओं में अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता। आधुनिक अर्थों में प्रिण्टिंग और प्रकाशन का कार्य भारत में सोलहवीं शताब्दी में ईसाई मिशनरियों के प्रयासों से हुआ परन्तु शुरू में केवल उनके धार्मिक साहित्य और मिशनरी संदेशों का प्रकाशन होता रहा। सर्वप्रथम अठारहवीं शताब्दी में जाकर क्षेत्रीय भाषाओं, वह भी मुख्यत: बांग्ला भाषा में गैर धार्मिक पुस्तकों का प्रकाशन शुरू हो सका और चित्रित किताबें आमजनों की पहुँच में आ सकी। इसे भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण की शुरूआत के रूप में देखा जाता है। बांग्ला भाषा की इस शुरूआत का बाद में अन्य क्षेत्रीय भाषाओं और राज्यों द्वारा अनुकरण किया गया।

प्रारम्भ में भारतीय प्रकाशनों का क्षेत्र, उनके विषय और उनकी संख्या बहुत कम रही और आज के अर्थों में प्रकाशन गृहों का विकास अठारहवीं शताब्दी में भी दूर की कौड़ी ही साबित हुआ। वर्तमान किस्म के प्रकाशन गृहों की स्थापना मुख्यत: बीसवीं शताब्दी की शुरूआत की घटना है, जो ब्रिटिश अधिकार वाले कुछ प्रकाशन गृहों जैसे मैकमिलन, लांगमैन और ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस के माध्यमों से ही हुई। इस काल में भारत में कुछ महान लेखक भी हुए जिन्होंने स्थानीय क्षेत्रीय भाषाओं में रचनाएँ की परन्तु उनकी पुस्तकें उन छोटे-छोटे प्रकाशकों ने प्रकाशित कीं जिनके लिए प्रकाशन एक कुटीर उद्योग की तरह था। भारत में प्रकाशन कार्य बहुत बाद तक भी व्यावसायिक और लाभदायक उद्योग के रूप में विकसित नहीं हो सका। कमोबेश हिन्दी और अन्य क्षेत्रीय भाषाओं में प्रकाशन गृहों की स्थिति आज भी ऐसी ही है। लेखक आज भी अपनी रायल्टी और लाभ के लिए प्रकाशन गृहों की कृपा पर निर्भर रहता है। न लेखक के लिए ही यह लाभदायक व्यवसाय बन सका है और न ही प्रकाशकों के लिए। यह पुस्तक संस्कृति की नींव को कमजोर करने के लिए मुख्यत: उत्तरदायी है।

आजादी के बाद पुस्तकों के प्रकाशन में अच्छी प्रगति दर्ज की गई और आज भारत विकासशील देशों ही नहीं बल्कि विकसित देशों में होने वाले प्रकाशनों से प्रतियोगिता करने की स्थिति में है। प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली नई पुस्तकों की संख्या के मामले में लगभग पचासी हजार नये प्रकाशनों के साथ भारत का विश्व में सातवां स्थान है। इसके पहले अमरीका, ब्रिटेन, चीन, रूस, जर्मनी और स्पेन जैसे विकसित देश ही हैं। यद्यपि भारत में प्रतिवर्ष प्रकाशित होने वाली पुस्तकों की संख्या सम्मानजनक है परन्तु प्रतिव्यक्ति, प्रतिवर्ष पढ़े जाने वाले पृष्ठों की औसत संख्या के मामले में इसकी हालत बहुत ही पतली है। भारत का औसत, विश्व औसत से बहुत ही कम है, जहाँ विकसित देशों में यह औसत प्रति व्यक्ति तीन हजार पृष्ठ प्रतिवर्ष के लगभग है, वहीं भारत में यह औसत प्रति व्यक्ति साठ-सत्तर पेज प्रतिवर्ष के आसपास है। इसके अतिरिक्त किसी पुस्तक की कितनी प्रतियाँ छपती हैं, इस मामले में भी भारत की हालत बहुत नाजुक है। जहाँ अन्तरराष्ट्रीय औसत किसी पुस्तक के लिए पन्द्रह हजार प्रतियों से भी ऊपर है वहीं भारत के मामले में यह औसत एक-दो हजार प्रतियों के बीच रहता है। इससे कई बातें प्रभावित होती हैं। एक तो कम प्रतियों के छपने से प्रिण्टिंग में खर्च बहुत

अधिक लगता है, अधिकतर किताबें केवल अपना खर्च भर निकाल पाती हैं वहीं दूसरी ओर लेखक को प्रोत्साहन के लिए कोई उल्लेखनीय राशि रायल्टी के रूप में नहीं मिल पाती है।

प्रकाशन की एक प्रकृति यह भी है कि भारत में आज भी तथाकथित पाठ्यपुस्तकों का प्रकाशन ही सबसे अधिक होता है। पाठ्यपुस्तकों में भी सबसे अधिक प्राथमिक स्कूलों के लिए प्रकाशन होता है जिसकी सबसे बड़ी एजेन्सी एनसीईआरटी है। इसके अतिरिक्त अन्य राज्य सरकार और निजी संस्थाएँ भी इसमें भागीदारी करती हैं। स्कूली पाठ्यपुस्तकों के बाद उच्च शिक्षा के पाठ्यपुस्तकों का स्थान आता है जिसके प्रकाशन में अधिकांशतः निजी प्रकाशक गृह लगे हैं। पुस्तकों के प्रसार और पुस्तक उद्योग के लाभकारी होने के लिए सबसे मौलिक जरूरत है कि लोगों में पढ़ने की रुचि पैदा हो। यह रुचि किसी जरूरत से पैदा हो या कि इसे बढ़ाने के लिए कोई अलग अभियान चलाया जाए यह प्रश्न व्यापक है। लोगों को पाठ्यपुस्तक के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें पढ़ने का कोई प्रोत्साहन ही नहीं मिलता। न तो परीक्षाओं की दृष्टि से और न ही अच्छे अंक पाने के लिए अतिरिक्त पढ़ने की जरूरत है। जैसे कि हिटलर के समय में जर्मनी में सामूहिक रूप से पुस्तकें जला दी गई थीं कि कोई पढ़ने न पाए, उसी का संस्कारित रूप यह है कि बच्चों को केवल पाठ्यपुस्तकें ही उपलब्ध कराई जाएँ।

भारत में पुस्तकों के पढ़ने की अच्छी परम्परा रही है। साक्षरता बढ़ने के साथ ही भारत पुस्तकों के बाजार के रूप में विकसित होता जा रहा है तथा विभिन्न पश्चिमी देश इस बाजार की ओर ललचाई नजरों से देख रहे हैं। लेकिन हमें यह बात सदैव ध्यान में रखनी चाहिए कि उनके लिए हम बाजार की इकाई की तरह हैं। उनका उद्देश्य हम तक ज्ञान की बातें पहुँचाना या भारत की संस्कृति में ढालना बिल्कुल नहीं है। बस वे हमें ग्राहक के रूप में देखते हैं और कुछ जूठनों को हमारे लिये छोड़ देते हैं। लोकप्रिय साहित्य की बात छोड़ दें तो पाठ्यक्रम आधारित पुस्तकों के मामले में पश्चिमी प्रकाशक बहुत ही एहतियात बरतते हैं। अमरीका हो, रूस हो या कि ब्रिटेन; उनके यहाँ आज से तीस-चालीस साल पहले प्रकाशित पुस्तकें भी दक्षिण एशियाई क्षेत्रों में स्थापित उनके अपने प्रकाशन गृहों को भी उपलब्ध नहीं कराई जातीं। जो ज्ञान उनके लिए पुराना पड़ चुका होता है केवल उन्हीं से सम्बद्ध पुस्तकों को वे यहाँ प्रकाशन के लिए उपलब्ध कराते हैं और वे पुस्तकें भी भारतीय बाजारों के लिए एक ठण्डी और शीतल बयार की तरह होती हैं। स्प्रिंगर, मैथेमेटिकल एसोसिएशन ऑफ अमेरिका, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, विली समूह, पीएचआई आदि से आने वाली गणित, विज्ञान आदि की किताबें इसी प्रकार की पुरानी पड़ चुकी किताबें होती हैं।

यह भारत के लिए बिडम्बना की बात है कि हम इन किताबों के लिए भी उनके मुखापेक्षी होते हैं क्योंकि हमारी पकड़ इन विषयों पर मजबूत नहीं है। इसके पीछे बड़ा कारण है कि हम अपनी भाषा को अहमियत नहीं दे पाये हैं। गणित, विज्ञान की पुस्तकें हम अंग्रेजी में पढ़ना और अंग्रेजी में लिखना भी चाहते हैं। जाहिर है कि ऐसे लेखन मौलिक विचार पर आधारित न होकर नकल या जूठन जैसे होते हैं। यह भारतीय पुस्तक प्रेमियों के लिए बिडम्बना की बात है कि अंग्रेजी के प्रति हमारी लोलुपता

कम नहीं हो पा रही है। मौलिकता से अधिक जोर लोगों का अंग्रेजी भाषा पर है। स्थानीय भारतीय भाषाओं के लिए यह भयावह स्थिति है। पचास करोड़ लोगों द्वारा समझी जाने वाली हिन्दी की बात छोड़ दें तो भी मातृभाषा के रूप में बांग्ला आठ करोड़ लोगों की, तेलगू साढ़े सात करोड़ लोगों की, मराठी सात करोड़ लोगों की, तमिल छः करोड़ लोगों की तथा उर्दू पांच करोड़ लोगों की भाषा है। और इन लोगों में से अधिकांश लोग कोई दूसरी भारतीय भाषा भी जानते और समझते हैं। जितने लोग अंग्रेजी को प्रथम भाषा के रूप में मानते हैं, उतने लोगों द्वारा प्रयोग की जाने वाली भारत में सैकड़ों भाषाएँ हैं, जिन्हें संविधान की सूची में भी दर्ज नहीं किया गया है। भारत में पुस्तक संस्कृति मुख्यतः इसकी बहु-भाषिकता, बहु-सांस्कृतिकता और बहु-जातीयता वाले समाज के प्रयोग पर निर्भर करती है। भारतीय संविधान में कुल बाईस भाषाओं को स्थान प्राप्त है और ध्यान देने योग्य महत्वपूर्ण बात यह है कि ये सभी भाषाएं मात्र बोलियों के समान नहीं हैं बल्कि इनकी एक विकसित और लम्बी परम्परा रही है। लाखों लोग इन भाषाओं का नियमित इस्तेमाल करते हैं और सबसे बढ़कर तमिल आदि कुछ भाषाएं तो संस्कृत के समान शास्त्रीय भाषा का दर्जा रखती हैं, जिनका दो हजार वर्ष से ज्यादा पुराना साहित्यिक इतिहास है।

आज विचारों, प्रयोगों, ज्ञान और सूचना की दुनिया के सार्वत्रीकरण की बात कही जाती है और प्रचार किया जा रहा है कि इन चीजों पर राष्ट्रीय सीमाओं का असर धीरे-धीरे कम हो रहा है। इसी आधार पर भारत की बहुभाषिकता को एक समस्या की तरह दिखाकर अंग्रेजी को उसके समाधान के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। ऐसा कहा जाने लगा है कि इतनी भाषाओं के बीच एकता स्थापित करने में अनावश्यक रूप से अधिक थकावट और लम्बी दूरी तय करनी पड़ेगी। अतः कहीं अधिक अच्छा है कि दूसरी अन्तरराष्ट्रीय भाषा अंग्रेजी को अपना लिया जाए। इसके पीछे तर्क यह है कि अंग्रेजी आज सबसे प्रमुख अन्तरराष्ट्रीय भाषा होने के साथ ही बाजार और तकनीक की भाषा भी है। यह लोभ दिया जाता है कि भारत को इस मामले में बढ़त हासिल है कि यहां के औपनिवेशिक इतिहास के कारण लोगों का एक बड़ा वर्ग अंग्रेजी भाषा में दक्ष है। ऐसे लोग इस मामले में चीन से आगे होने का भी दम्भ भरते हैं। इस वर्ग का ऐसा भी सोचना है कि राष्ट्रीय भाषा का प्रश्न केवल राजनीतिक आकांक्षाओं और भावनाओं के तुष्टीकरण तक सीमित रह गया है। वे यह भी जोड़ते हैं कि राष्ट्रीय भाषा के प्रश्न को हल करने के चक्कर में कई और क्षेत्रों में प्रगति छूट जायेगी जिसे उसी साधन और श्रम के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। लेकिन यह सोच रखने वाले लोग भूल जाते हैं कि दूसरी भाषा को सीखकर उस आंतरिक विचार और संस्कारित अनुभूति को नहीं पाया जा सकता जो कि मातृभाषा के व्यवहार से सम्भव होता है।

यह पूर्णतः हम पर निर्भर करता है कि हम बाजार की ताकतों के सामने घुटने टेक दें या कि अपनी बहुभाषिकता और बहु-सांस्कृतिकता की रक्षा करें। मात्र रक्षा ही नहीं बल्कि आक्रामक होकर उन्हें अच्छा जवाब भी दें। भारत की बहुभाषिकता को देखते हुए तथा उनकी जरूरतों तक पहुँच बनाने

के लिए विभिन्न भारतीय भाषाओं की पुस्तकों का परस्पर अनुवाद भी महत्वपूर्ण है जिस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। एक ओर तो अन्तरराष्ट्रीय क्षेत्र में स्थान बनाने हेतु और गणित, विज्ञान जैसे विषयों के ज्ञान हेतु अंग्रेजी की पुस्तकों का भारतीय भाषाओं में अनुवाद हो, वहीं दूसरी ओर भारतीय भाषाओं में परस्पर अनुवाद जैसे कि बांग्ला भाषा की पुस्तक का उड़िया या गुजराती में अनुवाद तथा तमिल, तेलगू की पुस्तकों का असमिया, बांग्ला आदि में अनुवाद।

भारत में पुस्तकों का वितरण भी, पुस्तक संस्कृति के सिमटने का एक महत्वपूर्ण कारक रहा है। देश की स्थिति, आकार तथा भाषायी और सांस्कृतिक विविधता को देखते हुए वितरण में समस्या आती है। कस्बाई और ग्रामीण इलाकों में वितरण की समस्या सबसे विकराल है। अभी भी सत्तर प्रतिशत से अधिक लोग गांवों में निवास करते हैं। इसके साथ ही शहरों में निवास करने वालों में भी ज्यादातर लोग अर्द्धशहरी क्षेत्रों या कस्बाई क्षेत्रों में रहते हैं। छोटे दुकानदारों के लिए समस्या यह होती है कि वे पुस्तकों में विविधता नहीं रख पाते और सस्ती के नाम पर घटिया पुस्तकें ही लोगों को उपलब्ध हो पाती हैं। एक मुख्य समस्या यह भी है कि विभिन्न भाषाओं के लोग किसी क्षेत्र विशेष तक सीमित नहीं हैं और जो लोग पढ़ने में रुचि रखते हैं वे प्रायः हर क्षेत्र में मिल जाते हैं। इससे होता यह है कि विशेष भाषाओं की किताबों का प्रकाशन कुछ क्षेत्रों तक सीमित नहीं रह पाता तथा उनके विपणन और बिक्री तथा व्यापक प्रचार प्रसार में काफी कठिनाई आती है।

प्रकाशकों के द्वारा अपनी पुस्तकें बेंचने के लिए सामान्यतया डाक द्वारा भेजने की सुविधा, समाचार पत्रों में विज्ञापन, पुस्तक समीक्षाओं का प्रकाशन और बिक्री प्रतिनिधियों का सहारा लिया जाता है। आजकल इण्टरनेट के द्वारा पुस्तकों की बिक्री नया ट्रेण्ड है परन्तु उसमें भी मुख्य शहरों या मार्गों से स्थलों की आंतरिक दूरी, विभिन्न स्थलों का जुड़ाव प्रमुख समस्या है। डाक द्वारा पुस्तकों का वितरण भी समस्या से मुक्त नहीं है तथा रास्तों में पुस्तकों के खोने की समस्या तथा ग्राहक तक न पहुँचने की समस्या बेहद आम है। भारत जैसी विविधता वाले विशाल देश में कुछ गैर-परम्परागत विधियों का भी प्रयोग किया जाना चाहिए। जैसे कि पेट्रोल पम्पों, ब्लाक विकास केन्द्रों, उचित मूल्य के किराना स्टोरों, कपड़ों के फुटकर दुकानों तथा रेलवे स्टेशनों और बस अड्डों आदि पर दुकानों के द्वारा बिक्री की कोशिश की जानी चाहिए।

आजकल कई प्रकाशकों द्वारा पाठक प्रोत्साहन योजना के अन्तर्गत व्यक्तिगत पुस्तकालय योजना, घरेलू लाइब्रेरी योजना या पुस्तक क्लब योजनाएं चलाई जा रही हैं। इन योजनाओं को ग्रामीण इलाकों, दूरस्थ क्षेत्रों में लोकप्रिय करने की आवश्यकता है। इसके साथ ही पुस्तक मेलों का आयोजन देश के आंतरिक क्षेत्रों में भी किये जाने की जरूरत है जिससे कि लोग उन तक पहुँच सके। मेलों के आयोजन से केवल लोगों को पुस्तकों की जानकारी ही नहीं मिलती बल्कि ये मेले ऐसे अवसर भी होते हैं जहाँ पुस्तकों के अनुवाद, नये विषयों पर पुस्तकों की जरूरत, पुस्तकों के पुनर्प्रकाशन की आवश्यकता का पता चलता है। मेले पुस्तकों की लोकप्रियता के बैरोमीटर होते हैं जिनसे देश में चलने वाले ट्रेण्ड को

भी मापा जा सकता है। पुस्तक मेले अन्य सभी माध्यमों की अपेक्षा अधिक प्रभावी और व्यापक सिद्ध होते हैं। अत: इनके आयोजनों को और अधिक भागीदारीपूर्ण तथा कम अन्तराल पर किये जाने की जरूरत है।

किताबों के लिए बच्चे भविष्य के ग्राहक हैं अत: उनमें पढ़ने की आदत को बढ़ावा देने के लिए विभिन्न माध्यमों का प्रयोग किया जाना चाहिए। कुछ संस्थाएं जो इस दिशा में कार्य कर रही हैं। उन्हें और भी अधिक सक्रिय भागीदारी निभानी है। विद्यालयों में पुस्तकालय को अद्यतन पुस्तकों से युक्त होना चाहिए तथा उनकी उपलब्धता बच्चों के बीच भी होनी चाहिए। बच्चों के विकास का मापन इस प्रकार का होना चाहिए कि पाठ्यचर्या के अतिरिक्त अन्य पुस्तकें पढ़ने की जाँच हो सके और उन्हें पुस्तकें पढ़ने के लिए प्रोत्साहित किया जा सके। केवल जाँच से जोड़कर इसे मशीनी नहीं बनाना है बल्कि बच्चों को भी इसमें आनन्द मिले, इस बात की जरूरत और भी ज्यादा है। गाँवों में प्रचलित रामलीला और कृष्णलीला की पुरानी परम्पराओं को नाटकों, नुक्कड़ नाटकों, साहित्य बैठकों, काव्य चौपालों आदि के द्वारा जीवंत करके भी बच्चों के बीच पुस्तक संस्कृति को सुदृढ़ किया जा सकता है।

छोटे शहरों में हाल के वर्षों में हुए सर्वेक्षणों में खुलासा हुआ है कि पिछले सात-आठ सालों से लोगों की पुस्तक पढ़ने की आदत में कमी आ रही है, विशेषकर कम उम्र के बच्चों में। इन क्षेत्रों के प्रकाशकों और दुकानदारों का मानना है कि पुस्तक के ग्राहकों में अधिकांशत: प्रौढ़ व्यक्ति ही होते हैं तथा पन्द्रह से तीस वर्ष के बीच की आयु के बच्चों की संख्या सबसे कम होती है। इस दौरान दुकानों पर पुस्तकों को देखकर उनका विश्लेषण करने तथा उनका आस्वाद लेने के बाद खरीदने की आदत में भी कमी आई है तथा लोग अब कम समय दुकानों पर व्यतीत करते हैं। विभिन्न औद्योगिक घरानों द्वारा महानगरों में शुरू की गई 'क्रासवर्ड' और 'रिलायंस टाइम-आउट' जैसी शृंखला दुकानों में इतनी अच्छी अवसंरचना के बावजूद कभी भीड़ नहीं दिखती है। जबकि वहां किताबों के अतिरिक्त सीडी, डीवीडी, गेम्स, म्यूजिक, खिलौने, कला के सामान आदि भी मिलते हैं।

आदतों में यह बदलाव बढ़ते इलेक्ट्रानिक मीडिया का भी प्रभाव है। हालांकि यह देखा गया है कि बड़े शहरों में जहाँ यह बदलाव आये दशक होने को आये हैं, अब उल्टा चलन दिख रहा है। अर्थात अब लोग इण्टरनेट की वर्चुअल दुनिया को छोड़कर थोड़ा किताबों की ओर मुड़े हैं परन्तु चिन्ता का विषय यह है कि उनका यह झुकाव बस लोकप्रिय सतही साहित्यिक किताबों तक है जो कि अच्छे ढंग की कल्पनाओं को भी नहीं बढ़ाते। भारत के किसी भी बड़े शहर में सड़क पर रेड लाइट का इंतजार करते हुए ऐसी पुस्तकों को देखा जा सकता है, वहाँ बिकने वाली पाइरेटेड पुस्तकों से लोगों की रुचि को भी मापा जा सकता है। इससे स्पष्ट होता है कि साहित्य के नाम पर लोकप्रिय या पुरस्कार प्राप्त पुस्तकों की माँग एक नया ट्रेण्ड बनता जा रहा है। यह मात्र संयोग नहीं है कि जिस समय में इंग्लैण्ड और अमरीका जैसे देशों में यह मान्यता बढ़ रही थी कि भारत किताबों का अच्छा बाजार बनता

जा रहा है, लगभग उसी समय से भारतीय लेखकों की किताबों को बुकर पुरस्कार मिलने शुरू हुए हैं। उन वर्षों के दौरान उन देशों में लगने वाले पुस्तक मेलों को याद करें तो वहां 'थीम कन्ट्री' या 'फोकस कण्ट्री' के रूप में भारत का स्टाल लगा होता था।

भाषिक या साहित्यिक उपनिवेशवाद, सांस्कृतिक उपनिवेशवाद का एक हिस्सा मात्र है परन्तु सतह पर यही सबसे अधिक दिखलाई पड़ता है क्योंकि यह सीधे विचारधारा के निर्माण से जुड़ा है। संस्कृति के बाकी चिन्ह तो गहरे दबे होते हैं और बहुत अधिक प्रचलित होने के बाद ही दिखलाई पड़ते हैं परन्तु विचारों का प्रकटीकरण तो हमारे हर कार्य में होता है। अत: विचारों पर छाने की जिम्मेदारी उन पश्चिमी देशों ने ले रखी है। वर्तमान दौर की सच्चाई है कि सामान्य सी किस्सागोई की किताबें जो सरल भारतीय अंग्रेजी में लिखी गई हों तथा भारत की विभिन्न समस्याओं को रेखांकित करती हों, भारतीय साहित्य का पर्याय बनती जा रही हैं। बेस्टसेलर की नई परम्परा की शुरूआत हो रही है और किताब आने के बाद एकाएक छा जाने की कला जो जानता है वही बेस्टसेलर बन जाता है। ऐसे बदलते हालात में केवल यही सन्दर्भित किया जा सकता है कि बुद्धिजीवियों को भारतीय शिक्षा व्यवस्था की गहरी समीक्षा करनी चाहिए। दूसरे देशों की बात छोड़ दीजिए अपने देश में ही उन राज्यों को देखिए जो अपनी मातृभाषाओं पर गर्व करते हैं और उन राज्यों को देखिए जो अंग्रेजी के पीछे लट्टू हुए हैं, उसी से सारा अन्तर पता चल जाएगा।

बाजारवादी शक्तियाँ यह गहरे से स्थापित करती हैं कि यदि आपके पास मल्टी मीडिया के कुछ निर्देशक, संपादक, प्रस्तुतकर्ता हों; विभिन्न कलाओं की व्याख्या करने वाले लोगों का हुजूम हो; सौन्दर्य प्रदर्शन कर भीड़ जुटा सकने की क्षमता हो तो आप भी साहित्यकार हो सकते हैं। एक बार साहित्य के प्रति गिरते लगाव को देखते हुए दिनकर जी ने कठोर टिप्पणी की थी कि आज ''संकलनों में कविता के पहले कवि का वक्तव्य छापा जाता है। ... पाठकों का अन्तर्मन कहता है, कविता की खोज में अब क्या धरा है, कवि की खोज करो।'' यह उसी सोच का विस्तार है कि अब साहित्यकार को उसके संबंधों के आधार पर जाना जाता है कि वह कितनी अधिक गैर-साहित्यिक विधाओं में 'भी' अपनी दखल रखता है। कोई कूटनीतिज्ञ है, राजनीतिज्ञ है, प्रशासक है, अभिनेता है, फैशन डिजायनर है, प्रबन्धक है तो वह कहीं अधिक अच्छा साहित्यकार हो सकता है क्योंकि साहित्य का अर्थ यही रह गया है कि पुस्तक प्रकाशित हुई हो, अंग्रेजी में हो और किसी भारतीय समस्या के बारे में हो। बस इतना ही काफी है बिकने के लिए। बिकेगा कितना? यह भी उसके संबंधों पर निर्भर करेगा। यदि विश्वविद्यालय में हैं तो नये पाठ्यक्रम शुरू हो सकते हैं, यदि वह इलेक्ट्रानिक माध्यमों के क्षेत्र में है तो उस पर डॉक्यूमेण्ट्री बन सकती है, यदि फिल्म उद्योग में है तो उस पर फिल्में बन सकती हैं, यदि पुस्तक कविता संग्रह है तो उसे फिल्मी संगीत में ढाला जा सकता है अर्थात जितने अधिक आयाम उतनी ही अधिक बिक्री की संभावना। यह एकाधिक आयाम रचनाओं में होना जरूरी नहीं बल्कि रचनाकार के व्यक्तित्व में होना चाहिए।

स्थिति चाहे जितनी भी भयावह हो, वरिष्ठ जनों के विचार देखकर हम कह सकते हैं कि भारत में पुस्तक संस्कृति बहुत समृद्ध है। यहाँ सभी प्रकार के लेखन के लिए उर्वर जलवायु है, तकनीकों से पूर्ण प्रिण्टिंग उद्योग है, स्थानीय रूप से पैदा किया जाने वाला कागज है, सम्पादन की कला में माहिर लोगों का प्रबुद्ध समूह है, किताबों के विपणन के लिए अच्छी तरह से संजाल बनाये वितरकों की जमात है और सबसे बढ़कर उदीयमान पाठकों की भारी भीड़ है। ये सारी बातें प्रेरित करने में सक्षम हैं कि हम भारतीय साहित्य, भारतीय पुस्तकों का नया आकाश तैयार कर सकते हैं, जो इतना वृहद और विशाल होगा कि अंग्रेजी साहित्य के उपनिवेशवाद से बाहर निकलने में स्वयमेव सक्षम होगा। विभिन्न विचारकों द्वारा उठाए गए प्रश्नों से अपने मस्तिष्क में हलचल मचने दीजिए, यह चुप रहने का समय नहीं है बल्कि मात्र चार हजार जाग्रत जनों की जरूरत है जो इस कार्य को उस सीमा तक पहुँचा सकते हैं। बाजारी शक्तियाँ आंतरिक क्षेत्रों तक नहीं जाना चाहतीं, उनकी भावना में 'लाभ' का घर्षण है, जो उसे उन क्षेत्रों तक जाने से रोकेंगी जिन क्षेत्रों तक रेल लाइनें औपनिवेशिक काल में नहीं पहुँच सकी थीं। हम चार हजार सुधी पाठकजन मिलकर अपने सर्वकालिक कर्तव्य के रूप में यदि पुस्तक संस्कृति को बढ़ाने का संकल्प ले लें तो यह कार्य असम्भव से सहज की श्रेणी में आ जाएगा।

कवि दिनकर ने अपनी रचनाओं से देश की सांस्कृतिक आत्मा को जगाने का प्रयास किया। वे मानते थे कि आज से तीन हजार वर्ष पूर्व भारतीय संस्कृति का जो रूप था, वह आज भी मूलतः वैसा ही है। मिस्र, बेबीलोन और यूनान में भी प्राचीन सभ्यताएँ जन्मी थीं। किन्तु काल ने उन्हें ध्वस्त कर दिया। केवल भारत ही एक ऐसा देश है, जिसका अतीत कभी मरा नहीं। वह बराबर वर्त्तमान के रथ पर चढ़कर भविष्य की ओर चलता रहा है। भारत का अतीत कल भी जीवित था, आज भी जीवित है और कदाचित आगे भी जीवित रहेगा।

आज जब तेजी से हमारे नैतिक व आध्यात्मिक मूल्यों, सामाजिक सरोकारों, रीति-रिवाजों और पर्व-त्यौहारों से हमारा साथ छूटता जा रहा है, तब इन्हें संरक्षित और संवर्द्धित करने की चुनौती हमारे सामने और विकराल है। हम भूल रहे हैं कि विश्व में हमारी पहचान और हमारी संस्कृति अनूठी रही है। ऐसी संस्कृति जिसमें जीवन, संस्कृति है और संस्कृति, जीवन है। उसमें खान-पान, पोशाक, पर्व-त्यौहार, गीत-संगीत, धर्म, संस्कार सभी एक ही सिक्के के दो पहलुओं की तरह हैं। हम जानते हैं कि संस्कृति केवल कृत्रिम रोशनी से नहीं चमकती है। यह सभ्यता के भीतर से प्रकाशित हो उठने जैसा है। देश के पहले प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू का मानना था कि संस्कृति के कुछ राष्ट्रीय पहलू भी हैं। इसलिए हमें संस्कृति को नितांत वैयक्तिक स्तर पर अपनी सुविधानुसार सोचने की बजाय राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य में देखना चाहिए। संस्कृति का एक आयाम किताबों से जुड़ा है। वे किताबें, जो हमें अक्षर ज्ञान से लेकर तत्वज्ञान तक देती हैं, उन्हीं से पुस्तक संस्कृति की असल नींव पड़ती है।

स्वामी विवेकानन्द ने पहली बार जब विश्व को भारतीय धर्म और दर्शन से परिचित करवाया था, तब उनकी मार्गदर्शक भी किताबें बनीं थी। उनकी 150वीं जयंती के अवसर पर राष्ट्रीय और अंतरराष्ट्रीय

संदर्भ में पुस्तक संस्कृति का आह्वान करना उचित होगा। राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास द्वारा चलाए जा रहे पुस्तक एवं पुस्तकालय अभियान का ध्येय है कि लोगों को पुस्तकों में निहित कल्याणकारी संदेशों को समझने के लिए अधिक से अधिक जागरूक बनाया जा सके। करीब दो दशक पूर्व नालंदा की पुण्यभूमि में न्यास की स्थापना कवि दिनकर की स्मृति में हुई थी। न्यास साहित्य, कला एवं संस्कृति के प्रति निरन्तर सक्रिय, समर्पित एवं कटिबद्ध रहा है। यह देश की एकता और अखण्डता को अक्षुण्ण बनाए रखने हेतु राष्ट्र की मुख्यधारा के साथ कदम से कदम मिलाकर आत्मनिर्भर, सुशिक्षित, सुसंस्कृत एवं समृद्ध भारत के निर्माण में अपना सतत योगदान दे रहा है। न्यास द्वारा नई दिल्ली के रामलीला मैदान में आयोजित राष्ट्रीय पुस्तक मेला सह शिक्षा-संस्कृति महोत्सव से देशव्यापी पुस्तक-संस्कृति अभियान को बल एवं दिशा मिली जिसकी ध्वनियाँ हमारी संसद में अनेक बार गूँजी। इसका रचनात्मक परिणाम नेशनल मिशन ऑन लाइब्रेरी (एन. एम. एल.) के रूप में हम सबके सामने आ चुका है।

पुस्तक-संस्कृति अभियान वास्तव में मानवता के बुनियादी मूल्यों की रक्षा और उनके प्रचार-प्रसार का अभियान है। नीति, न्याय, नियम, नैतिकता, सदाचार, परम्परा और विरासत इस अभियान के ही विभिन्न आयाम हैं। यह अभियान मुख्य रूप से इस बात से जुड़ा है कि लोग पुस्तकों के महत्ता को समझें और पुस्तकों में निहित ज्ञान के खजाने से जीवन को दिशा देने की कोशिश करें। आज जब पुस्तकों को इण्टरनेट और डिजिटल माध्यमों से नित नई चुनौतियाँ मिल रहीं हों, तब यह बात और भी प्रासंगिक हो जाती है। पुस्तक-मित्र पंचायत और पुस्तकालय अभियान पुस्तक संस्कृति के ही अभिन्न अंग हैं। इसी क्रम में प्राचीन पुस्तकालयों का जीर्णोद्धार एवं नवीन पुस्तकालयों का निर्माण आवश्यक हो जाता है। सुखद है कि न्यास ने देश के कोने-कोने में जिन सांस्कृतिक महोत्सवों का आयोजन किया, उनके नाम महान पुस्तकों के आधार पर ही रखे गए। पिछले वर्ष बिहार के गया में आयोजित मगध पुस्तक मेला सह सांस्कृतिक महोत्सव में न्यास द्वारा बुके के स्थान पर बुक यानी पुस्तक भेंट करने की परम्परा शुरू की गई। न्यास के कर्मठ एवं कटिबद्ध युवा कार्यकर्त्ताओं में अपने काम के प्रति उत्साह, उमंग और लगन है, जो सराहनीय है।

पुस्तक-संस्कृति हमें सिखाती है कि हम पहले स्वयं को ज्ञान से आत्मदीप बनाकर, फिर सम्पूर्ण विश्व को उस दीप के आलोक से आलोकित करें। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने किताबों को ज्ञान राशि का संचित कोष माना। इसी प्रकार हमारे राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी की प्रेरणा भगवद्गीता पुस्तक ही रही। वे कहते थे कि गीता से मुझे प्रेरणा और प्रकाश मिलता है। आज के समय की माँग है कि हम अच्छी व ज्ञानवर्द्धक किताबों की ओर मुस्तैदी से लौटें ताकि हम जीवन को मात्र सफल ही नहीं, बल्कि सार्थक भी बना सकें। पुस्तक-संस्कृति के पुनर्स्थापन और पुस्तकालय आंदोलन को और गति देने के लिए न्यास ने पुस्तक-मित्र पंचायत आरंभ किया है। खुशी की बात है कि इस पंचायत में देश भर के करीब एक लाख पुस्तक मित्र शामिल हुए हैं। आशा है, जैसा कि स्वामी विवेकानंद ने भी कहा था

कि साहस का सूर्य उदित हो चुका है, भारत का उत्थान अवश्य होगा। किसी में यह दम नहीं कि वह अब भारत को रोक सके। भारत अब फिर से निद्रा में नहीं पड़ेगा।

भारत मात्र भौगोलिक इकाई का नाम नहीं है, इसकी सांस्कृतिक पहचान सभी भौतिक सीमाओं का अतिक्रमण करती है और अपने उत्कृष्टतम रूप में भारत का हर नागरिक अपने को भारतीय इसलिए नहीं कहता कि वह केवल उस भूखण्ड में निवास करता है। उसके भारतीय होने के पीछे उसकी सांस्कृतिक मजबूती होती है और वह स्वयं को सनातन संस्कृति का अंग महसूस करता है।

जवाहरलाल नेहरू ने भारत की संकल्पना एक एहसास के रूप में की थी जिसके जड़ में भारतीय संस्कृति की सुवासित महक थी। परन्तु स्वतंत्रता के छः दशक बाद भी हम ऐसी स्थिति में नहीं आ पाए कि देश में संग्रहालय और पुस्तकालय संस्कृति जैसे आचरणों का विकास कर सकें। न ही ऐसी स्थिति में आ सके हैं कि प्राथमिक विद्यालयी स्तर या कि वैश्विक स्तर पर समकालीन भारतीय कला के बारे में ज्ञान का प्रसार कर सकें।

कुछ लोगों का मानना है कि राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति जैसी किसी नीति का नाम ही असंगत है, इसके निर्माण की बात तो बहुत दूर की कौड़ी है। इनका यह भी मत है कि इस तरह की कोई भी एकल सांस्कृतिक नीति भारत जैसे बहु-सांस्कृतिक देश के लिए मुनासिब नहीं है। जो लोग पहले से ही पूर्वाग्रह से ग्रसित हैं कि जो भी सांस्कृतिक नीति बनेगी वह भारत की बहुसांस्कृतिकता के अनिवार्य रूप से खिलाफ होगी, उनसे किसी रचनात्मक नीति की उम्मीद कैसे की जा सकती है? पर गौर से देखें, तो कहा जा सकता है कि नाम के भले ही कई विकल्प हो सकते हैं, लेकिन एक अखिल भारतीय सांस्कृतिक नीति की आवश्यकता से इन्कार नहीं किया जा सकता। क्या भारत के एकल संविधान से भारत की विविधता नष्ट हो गई है? क्या संस्कृति किसी धर्म, सम्प्रदाय, समुदाय का अपना एकल एजेण्डा है? इसमें तो आदिकाल से ही वसुधैव कुटुम्बकम् और सबके कल्याण की भावना निहित रही है।

प्रांजल धर
अमिय बिन्दु

बसंत पंचमी, 15 फरवरी 2013

अनुक्रम

संपादकीय **7**

आलेख

कृष्ण कुमार : पुस्तक-संस्कृति विकसित करने की जरूरत है **21**

शंभूनाथ : किताबों के देश में **30**

डॉ. माधुरी अनिल जोशी : पुस्तक वाचन **50**

रतन कुमार पाण्डेय : पुस्तकें! मनुष्यता की अमूल्य धरोहर **57**

परमानन्द श्रीवास्तव : भूमण्डलीकरण के दौर में किताबें **94**

रवीन्द्र कात्यायन : ई-बुक के बरक्स पुस्तक-संस्कृति **97**

प्रभाकर श्रोत्रिय : सांस्कृतिक स्मृतियों में पुस्तकें **110**

अरुण माहेश्वरी : सांस्कृतिक यात्रा से पुस्तकें लोकप्रिय होंगी **114**

चन्द्रकान्त देवताले : किताबें और मैं **122**

डॉ. सुनील परीट : पुस्तक-संस्कृति में साहित्यकार की भूमिका **126**

यश मालवीय : सूचना के दौर में शब्द और संस्कृति **128**

वसुधा पु. कामत : पुस्तकों को डिजिटल माध्यमों से चुनौतियाँ **130**

डॉ. सुधाकर मिश्र : भक्तिकाव्य और पुस्तक-संस्कृति **136**

मोहन स्वरूप भाटिया : पुस्तक अक्षय निधि **144**

रजनी गुप्त : पुस्तकें जीने का पर्याय बनती गई **147**

डॉ. अर्जुन घरत : महाराष्ट्र में वाचन संस्कृति का विकास **150**

रोहिताश्व : पुस्तकों की अपनी दुनिया है **155**

प्रसंग

डॉ. रणजीत : मैक्सिम गोर्की - किताबें पढ़ने के बारे में **35**

चित्रा मुद्गल : किताबें मेरी विरासत **40**

हरिवंश : सांस्कृतिक स्रोत हैं किताबें **43**

अशोक वाजपेयी : पुस्तकें धरोहर हैं **45**

डॉ. मैनेजर पाण्डेय : सामाजिक बनाती हैं किताबें **47**

डॉ. हरि जोशी : अमेरिका में पुस्तक-संस्कृति **53**

डॉ. रघुवंश प्रसाद सिंह : संस्कृति को समृद्ध बनाती हैं पुस्तकें **112**

कृष्ण कुमार : चार हजार रिक्त पद **132**

प्रयाग शुक्ल : पुस्तक - एक वैकल्पिक संसार **135**

शशिप्रभा तिवारी : कलाओं का मकसद प्रभु को पाना है... **138**

सूरज प्रकाश : अच्छी किताबें पाठकों की मोहताज नहीं **141**

अनुसूइया सिंधात्रा : ब्रिटेन की एक घटना **146**

व्यंग्य

रवीन्द्र पारेख : वाचन कला **60**

शरद जोशी : पुस्तकों के सरकारी गोदाम **62**

सत्यपाल सिंह सुष्म : पुस्तक चोर **64**

विरासत

धर्मवीर भारती : मेरी लाइब्रेरी की पहली किताब **32**

मनोहर श्याम जोशी : जीवन और किताब **34**

रवीन्द्र नाथ तिवारी : प्राचीन भारतीय पुस्तक-संस्कृति **87**

मुन्ना पाठक : परंपरा में पुस्तक-संस्कृति **108**

डॉ. श्रीकान्त सिंह : नालन्दा की खोज में **116**

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' : पुस्तकालय, पुस्तक-पाठ और इसका महत्व **154**

विमर्श

अर्जुन चव्हाण : पुस्तक-संस्कृति - समकालीन सरोकार **67**

अमिय बिन्दु : आवश्यक है राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति **75**

राजेश चन्द्र : राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति का प्रारूप **101**

अशोक कुमार पाण्डेय : प्रकाशन के दुश्चक्र में किताबों का बाजार... **119**

अंकुर

यशस्वी वर्मा : मेरी कहानी **124**

कविता

वीरेन्द्र मिश्र : शब्द का संसार **158**

ए कीर्तिवर्द्धन : किताबें **159**

मुन्ना पाठक : पुस्तक चौपाई **159**

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी : पुस्तकें **160**

भास्कर बंधु 'राही' : पुस्तक प्रार्थना **161**

राम प्रवेश रजक : सिसकती किताबें **161**

रचना भण्डारी : किताबें **162**

विशेष

रामधारी सिंह 'दिनकर' : कर्मठ वेदान्त - स्वामी विवेकानन्द **163**

पुस्तक संस्कृति विकसित करने की जरूरत है

कृष्ण कुमार

मैं एक ऐसी बात कहना चाहूँगा जो शायद आपको कुछ नागवार गुजरे। कोई भी इस बात से असहमत नहीं है कि स्कूलों में लाइब्रेरी होनी चाहिए और पढ़ने पर जोर होना चाहिए। बावजूद तमाम सहमति के स्कूलों में पुस्तकालय नहीं हैं या जो हैं भी वे ठीक से नहीं चल पा रहे हैं। पढ़ने की क्षमता का विकास करने वाली परिस्थितियाँ स्कूलों में क्या, शिक्षकों के प्रशिक्षण संस्थानों में भी नहीं हैं। और बहुत करके हमारे महाविद्यालयों में भी नहीं हैं तो शायद इसका एक कारण है कि आज हमारी शिक्षा व्यवस्था जिस भी स्थिति में है, इस शिक्षा व्यवस्था को दरअसल लाइब्रेरी की जरूरत नहीं है। और जिस चीज की जरूरत नहीं है अगर वह पैदा नहीं होती या पैदा किए जाने पर भी अगर वह पल्लवित नहीं होती तो न तो बहुत चकित और न ही बहुत निराश होना चाहिए। जिस चीज की जरूरत नहीं है वह अगर ठीक से काम नहीं कर रही है तो कौन-सा आश्चर्य है। इस बात को कहते हुए मैं वास्तव में इस दृष्टिकोण से विचार करना चाहता हूँ कि क्या हमारी स्कूल व्यवस्था में लाइब्रेरी की आवश्यकता है?

मुदालियार आयोग, जो 1952-53 में स्थापित हुआ था, से लेकर कोठारी आयोग से गुजरते हुए राममूर्ति इत्यादि आयोगों से होते हुए और अभी जो राष्ट्रीय पाठ्यचर्या की रूपरेखा यानी नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क-2005 बना है (और जो अब एक नीति बन चुकी है), वहाँ तक आएँगे तो आपको लगेगा कि भारत में आजादी के पहले से ही लगातार इस बात को लेकर सहमति रही है कि स्कूलों में लाइब्रेरी होनी चाहिए।

मुझे लगता है कि सबसे पहले इसकी पुरजोर वकालत मुदालियार आयोग ने शुरू में ही कर दी थी। अगर उसके भी पीछे जाएँ तो आजादी के बाद के पहले राधाकृष्णन आयोग ने भी विश्वविद्यालयी शिक्षा के सन्दर्भ में लाइब्रेरी के महत्त्व पर बहुत गहरा प्रकाश डाला था। तो हर दस्तावेज ने माना है कि लाइब्रेरी होनी चाहिए, ठीक से चलनी चाहिए। और जहाँ तक लाइब्रेरी चलाने के लिए विशेषज्ञों की जरूरत है या प्रशिक्षण की जरूरत है, उसके भी पर्याप्त साधन हमारे देश में विकसित हुए हैं।

हम देखते हैं कि बी॰ लिब॰, एम॰ लिब॰ कोर्सेज आजकल अनेक विश्वविद्यालयों में दिए जा रहे हैं। तो ऐसा नहीं कि लाइब्रेरियन नाम का व्यक्ति बनाने की ओर ध्यान नहीं गया है। ये सब हुआ है और राष्ट्रीय और प्रान्तीय स्तर पर भी कुछ-कुछ प्रयास होता ही रहा है। राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता एक राष्ट्रीय स्तर की संस्था है, सम्मानित है भले ही कई समस्याओं और दुविधाओं से ग्रस्त है लेकिन फिर भी इसका एक महत्त्व है। राजा राममोहन राय नाम से एक न्यास यानी एक ट्रस्ट केन्द्र सरकार ने स्थापित किया था। यह देश भर में प्रान्तीय सरकारों और गैर सरकारी संगठनों को पुस्तकालय चलाने के लिए अनुदान देने का भी काम कर रहा है और उसके अनुदान से कई पुस्तकें पहुँच भी रही हैं।

इस तरह से देखें तो ऐसा लगता है कि जहाँ तक दस्तावेजों और नीतियों का प्रश्न है, कोई भी इससे असहमत नहीं दिखता है कि लाइब्रेरी नहीं होनी चाहिए। फिर भी मैं यह बात आपसे कुछ जोर देकर और मजाक के तौर पर नहीं वास्तव में कहना चाहता हूँ कि हमारी व्यवस्था में दरअसल लाइब्रेरी की जरूरत नहीं है। इसका एक कारण है और मेरी इस बात का कारण दरअसल आपको मालूम है। अगर आप अपने इर्द-गिर्द बहुत

अच्छे नम्बर पाने वाले लड़के-लड़कियों पर गौर करें जो कि दसवीं व बारहवीं की परीक्षा में ऊँचे अंक लेकर निकलते हैं तो आप पाएँगे कि उनकी इस उपलब्धि स्तर में पुस्तकालय का योगदान नाममात्र का या प्रतीक जैसा भी नहीं है।

अगर आप देखना चाहते हैं जमीन के स्तर पर, तो किसी आला से आला समझे जाने वाले स्कूल में पूरा दिन बिताइए। देखिए कि उस दिन का कितना हिस्सा अध्यापकों ने या बच्चों ने लाइब्रेरी में बिताया। अगर एक दिन से आपको बहुत सन्तुष्टि नहीं मिलती है और आप सोचते होंगे कि आज सोमवार हो सकता है या कोई विशिष्ट दिन, तो हम मंगलवार को चलते हैं। मेरा आपसे आग्रह है कि आप पूरा सप्ताह वहाँ बिताएँ। चाहे उदयपुर, जयपुर या दिल्ली में या ऐसी संस्था में जो अच्छी खासी फीस लेती हो। अँग्रेजी माध्यम स्कूल हो, यह सब चीजें उसमें हों और आप पूरा सप्ताह वहाँ बिताएँ और देखें कि लाइब्रेरी का उपयोग कितने बच्चों ने किया? कितने अध्यापकों ने किया तो आप यह देखकर हैरान होंगे कि लाइब्रेरी का कोई विशेष इस्तेमाल पूरे सप्ताह में नहीं होता।

दरअसल अगर आप इस प्रश्न की थोड़ी और गहराई में जाएँगे तो आप पाएँगे कि ये कोई देखने लायक बात ही नहीं है। क्योंकि हमारी शिक्षा व्यवस्था में परीक्षा इतनी प्रमुख है कि उसके लिए शिक्षा के किसी भी मूल्य की बलि चढ़ाना, किसी भी मूल्य को एकदम छोड़ देना भी उपयोगी माना जाता है। मान लीजिए कि परीक्षा के विषय में आप जो पढ़ें ईमानदारी से पढ़ें, समझ कर पढ़ें और जितना आता है ईमानदारी से उतना बताएँ। अगर इन उसूलों पर कोई लड़का या लड़की चले तो वह शायद पास भी नहीं हो सकता। फर्स्ट क्लास या मेरिट लिस्ट में आना तो सम्भव ही नहीं होगा। बहुत ऊँचे अंक आप तभी लेकर आ सकते हैं परीक्षाओं में, जब आप उसूलों पर न चलें। यानी आप ज्यादा से ज्यादा ज्ञान रट लें, उसको समझने में ज्यादा ध्यान न दें। गणित हो चाहे विज्ञान हो, आप बार-बार अभ्यास करें। आप बगैर समझे हुए इतना अभ्यास करें कि प्रश्न क्या है, आप उसका उत्तर लिख सकें तो आप पाएँगे कि ऐसा करने पर आपके अंक बढ़ जाएँगे।

यही कारण है कि इस तरह की ट्रेनिंग देने वाली संस्थाएँ इतना पैसा हमारे शहरी माता-पिताओं से कमा रही हैं। इन संस्थाओं को कोचिंग इन्स्टीट्यूट बोलते हैं। नेशनल करिकुलम फ्रेमवर्क में इनको 'स्कूल आउट साइड द स्कूल' की संज्ञा दी गई है। वो स्कूल जहाँ बच्चे स्कूल के बाहर जाते हैं। वहाँ उनको ऐसी दक्षताएँ दी जाती हैं जिनसे कि वो इम्तिहानों में अच्छे अंक पा सकें। सिर्फ इम्तिहानों में ही नहीं वो हमारे देश की सर्वोच्च मानी जाने वाली आई॰आई॰टी॰ और मेडिकल कॉलेजों में प्रवेश के लिए होने वाली परीक्षाओं में भी अच्छे से अच्छे अंक लेकर अपनी प्रतियोगी हैसियत बना सकें। उस पूरी प्रक्रिया के लिए कहीं इस तरह की चीज का कोई महत्त्व नहीं है कि कोई लाइब्रेरी जाकर किताबों में मशगूल रहने वाला हो, तरह-तरह की किताबें पढ़ता हो। ऐसा बच्चा आज आई॰आई॰टी॰ में प्रवेश नहीं पा सकता, किसी मेडिकल कॉलेज में नहीं आ सकता। मेरा तो अन्दाज है कि वो दिल्ली विश्वविद्यालय में या कि और विश्वविद्यालयों में भी नहीं आ सकता क्योंकि इन विश्वविद्यालयों में एक सघन प्रतियोगिता से आप गुजरते हैं, तभी आप पहुँच पाते हैं। यह प्रतियोगिता पूरी तरह परीक्षा पर आधारित है। और आज की परीक्षा व्यवस्था में इस बात की गुंजाइश नहीं है कि वह इस बात पर ध्यान दे कि किसी बच्चे को लाइब्रेरी के कैटलॉग का इस्तेमाल करना आता है कि नहीं। क्या उसने बगैर किसी के कहे कुछ वर्ष में आठ-दस किताबें खुद अपनी रुचि से पढ़ीं या कि उसमें किताबें पढ़ने की रुचि है भी कि नहीं।

यह मुद्दा सिर्फ परीक्षा व्यवस्था का ही है, ऐसा मत सोचिए। आप किसी नामीगिरामी स्कूल के रिपोर्ट कार्ड पर विचार करें। अब तो सरकारी स्कूलों में भी ऐसे कार्ड बनने लगे हैं जिनसे हर महीने हर यूनिट टेस्ट के बाद माता-पिताओं को बताया जाता है कि क्या-क्या चीजें उनके बच्चे में ठीक से चल रही हैं। तो आप पाएँगे कि उसमें अलग-अलग विषयों के नम्बर लिखे होंगे। साथ में कुछ और विशेषताएँ भी लिखी होंगी कि उसका व्यवहार कैसा है, उसमें नेतृत्व की क्षमता है कि नहीं, दूसरों से सहयोग करता है कि नहीं। एक्स्ट्रा करिकुलर एक्टीविटीज में उसकी रुचि है कि नहीं। इससे आशय होता है कि कला में रुचि है कि नहीं इत्यादि। लेकिन आपको किसी कार्ड पर ऐसा नहीं मिलेगा कि इस वर्ष उसने कितने उपन्यास पढ़े। क्या उसकी बाल साहित्य में रुचि है? क्या वह अपने आप कुछ किताबें ढूँढता है? अच्छे से अच्छे स्कूल में आपको प्राइमरी या अपर प्राइमरी स्तर पर, सैकण्डरी स्तर पर कहीं ऐसा कोई उल्लेख रिपोर्ट कार्ड में नहीं मिलेगा। इसलिए अगर किसी बच्चे की पढ़ने में रुचि जागृत हो गई है और वह पढ़ता है, व ढूँढकर किताबें पढ़ता है तो इसका कोई प्रतिबिम्ब आपको उसकी प्रगति पुस्तिका में नहीं मिलेगा।

इस पूरे दृष्टान्त से मैं यह सिद्ध करना चाहता था कि अगर आज स्कूल में पुस्तकालयों की दशा अच्छी नहीं है तो हमें इस बात पर भी विचार करना चाहिए कि हमारी शिक्षा व्यवस्था में पुस्तकालय की जरूरत कैसे पैदा की जाए? क्योंकि आज वह जरूरत नहीं है।

इस सब में आप यह भी जोड़ लें कि जिस सांस्कृतिक स्थिति में स्कूल चल रहा है, उसमें भी दरअसल बच्चों के लिए पुस्तकें पढ़ना कोई बहुत अच्छी बात नहीं मानी जाती है। एक

सिनेमा भाग-भागकर देखना हमारी पीढ़ी के लिए एकमात्र विकल्प था। उस पीढ़ी में भी किसी शिक्षाविद् ने इस पर विचार नहीं किया कि क्या कारण है कि मार-मारकर तो बच्चा स्कूल जाता है लेकिन भाग-भाग कर सिनेमा जाता है? ऐसा क्या आकर्षण है सिनेमा में, जो स्कूल में नहीं है? वह जीवन का कौन-सा पक्ष है, जीवन के कौन से आयाम हैं जिन्हें स्कूल नहीं खोल पा रहा है?

बड़ा भारी फर्क हमारी व्यवस्था करती है। हमारी संस्कृति भी करती है। एक वो जिन्हें पाठ्यपुस्तक कहा जाता है–पढ़ने लायक किताब। और दूसरी पुस्तकें, दीन-हीन पुस्तकें, जो पाठ्य नहीं है। पाठ्यपुस्तक क्यों पाठ्य है? क्योंकि परीक्षा उससे जुड़ी हुई है। अगर पाठ्यपुस्तक कोई बच्चा कायदे से पढ़ेगा तो परीक्षा में उसके अच्छे अंक लेकर आने की सम्भावना बढ़ जाएगी। श्रेष्ठ बालक तो वो माना जाता है जो न केवल पाठ्यपुस्तक पढ़ता है बल्कि सिर्फ पाठ्यपुस्तक पढ़ता है और अन्य पुस्तकों की ओर देखता भी नहीं है। अगर आप माता-पिताओं का सर्वेक्षण करें (ऐसे सर्वेक्षण सन् 50 के दशक से ही लगातार होते रहे हैं) तो ऐसा विचार आपको आमतौर पर सुनने को मिलेगा कि बच्चा अनाप-शनाप किताबें पढ़ता रहता है। जो पढ़ने लायक है, उस पर ध्यान नहीं देता है।

सामान्य किताबों को लेकर, खासकर साहित्य को लेकर लड़के और लड़कियों दोनों के सन्दर्भ में एक संशय हमारी संस्कृति में बहुत समय से विद्यमान रहा है। यह संशय लड़कियों के सन्दर्भ में विशेष इस्तेमाल किया जाता है। लड़कों के सन्दर्भ में कुछ कम, लेकिन दोनों के ही सन्दर्भ में इस्तेमाल होता है। यह संशय कुछ-कुछ उन्हीं रूपों में प्रकट होता है। हम लोगों की पीढ़ी में तो कहा ही जाता था कि सिनेमा देखोगे तो बरबाद हो जाओगे। सिनेमा भाग-भागकर देखना हमारी पीढ़ी के लिए एकमात्र विकल्प था। उस पीढ़ी में भी किसी शिक्षाविद् ने इस पर विचार नहीं किया कि क्या कारण है कि मार-मारकर तो बच्चा स्कूल जाता है लेकिन भाग-भाग कर सिनेमा जाता है? ऐसा क्या आकर्षण है सिनेमा में, जो स्कूल में नहीं है? वह जीवन का कौन-सा पक्ष है, जीवन के कौन से आयाम हैं जिन्हें स्कूल नहीं खोल पा रहा है? कुछ-कुछ यही हिस्सा साहित्य पर लागू होता है।

अनेक जीवनियों में आप ऐसे किस्से पढ़ेंगे कि जिन लोगों को साहित्य पढ़ने की इच्छा थी बचपन में उन्होंने भी पाठ्यपुस्तक में छिपाकर उपन्यास पढ़ा। खासकर उपन्यास की विधा तो हमारी संस्कृति में बहुत समय से, जब से इसका जन्म हुआ तभी से बदनाम रही है। क्योंकि उपन्यास को एक तो पढ़ने में समय लगता है और उसमें जीवन की कथा होती है। और बड़ों और बच्चों के बीच हमारे समाज में आधुनिक समय में रिश्ता ही कुछ ऐसा बना है कि बड़े यह नहीं चाहते हैं बच्चों को बचपन में ही जीवन के बारे में मालूम चल जाए। बहुत से प्रश्नों के उत्तर में बच्चों से बड़े कह भी देते हैं कि जब बड़े हो जाओगे, तब सब समझ जाओगे। अभी तो नकाब पहनकर सिर्फ पढ़ाई करो।

कुछ बच्चों में येन-केन प्रकारेण किसी प्रकार रुचि हो भी जाती है, बावजूद इसके कि हर व्यक्ति इस रुचि को तोड़ने की कोशिश करता है, हतोत्साहित करता है। पढ़ने की किताबों से वंचित रखने का प्रबन्ध हमारी संस्कृति-घरेलू भी, सामाजिक भी और स्कूल की संस्कृति भी करती है, जिससे वह साहित्य की ओर कहीं प्रवृत्त न हो जाए। कविता भी कुछ इस तरह से काफी समय तक बदनाम रही है। कई बार मुझे लगता है कि आजकल जो हमारे समय में हिन्दी में कविता लिखी जाती है, जिसको आधुनिक कविता कहते हैं, वैसे ही लोकप्रिय नहीं है। उसके जन्म का संस्कार भी ऐसे ही पड़ा होगा कि अब यह कविता ऐसे लोगों को आकर्षित नहीं करेगी, तो कम से कम बदनाम तो नहीं होगी वरना पहले के समय में कविता के बारे में भी यही भावना थी कि इसमें जज्बात होते हैं, भावनाएँ होती हैं। कम से कम लड़कियों के लिए जो जज्बात उपयोगी नहीं माने जाते हैं। आजादी के आन्दोलन में ही यह बात विकसित होने लगी थी, जब लगता था कि एक देश प्रेमी बनने के लिए जिस तरह का पौरुष जरूरी है साहित्य उस तरह के पौरुष को हटाएगा।

इस पूरे माहौल का कुछ-कुछ एहसास मुझको पहली बार अपनी एक ऐसी यात्रा में हुआ जिसमें एक बहुत ही अनोखी बात देखी। कुछ वर्ष पहले जब बर्लिन विश्वविद्यालय में एक दिन रहकर एक बहुत बड़ा आँगन देखने का मौका मिला। बहुत

ही बड़ा आँगन! उस विशाल आँगन के बारे में हमें बताया गया था कि इस आँगन में 1930 के दशक के मध्य में बहुत बड़ी तादाद में विश्व साहित्य को जलाया गया था। इसको 'बुक बर्लिन ब्लास्ट' के रूप में जाना जाता है। इसकी स्मृति में वहाँ बहुत खूबसूरत स्मारक बर्लिन विश्वविद्यालय ने बनवाया। हर वर्ष जिस दिन यहाँ किताबें बड़ी मात्रा में जलाई गई थीं, उस दिन बर्लिन विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों की ओर से एक बहुत बड़ा आयोजन होता है। उस मैदान को किताबों से भर दिया जाता है और उस मैदान पर उन हजारों लेखकों व कवियों के नाम भी लिखे जाते हैं जिनकी पुस्तकें वहाँ जलाई गई थी। संयोग से मैं उस दिन वहाँ था, जिस दिन यह आयोजन होना था। उन नामों से गुजरते हुए निगाहें एक नाम पर पड़ी– टैगोर की 'गीतांजलि' पर। 'गीतांजलि' को भी वहाँ जलाया गया था।

मेरे एक मित्र जो कि वहाँ प्रोफेसर हैं, मैंने उनसे पूछा कि ये किताबें किस आधार पर चुनी गई थीं? उनकी संख्या दसियों हजार में थी। तो उन्होंने बताया कि ये हिटलर के उत्कर्ष का युग था। नाजीवाद में मान्यता थी कि जो भी साहित्य मनुष्य की भावनाओं को जगाता है या भावनात्मक रूप से उसको गहराई देता है, वो साहित्य जर्मनी को सबल नहीं बना सकता। अगर जर्मनी को एक मजबूत देश बनना है, एक पुरुषार्थी देश बनना है जो कि दुनियाभर पर हमला करके उसे जीत ले, तो ऐसा देश बनने के लिए ऐसे कमजोर लोगों से काम नहीं चल सकता है, जिनकी भावनाएँ रह-रहकर उमड़ती हों, इसलिए ऐसे सभी लेखकों को चुना गया था। ऐसे सभी कवियों को चुना गया था जो मनुष्य की भावनाओं को अभिव्यक्त करते हैं। भारत से यह गौरव रवीन्द्रनाथ ठाकुर की मशहूर कृति 'गीतांजलि' को प्राप्त हुआ था जिसको नोबेल पुरस्कार मिला है। आँगन में उस दिन विश्व साहित्य का शायद ही कोई नाम होगा जो न लिखा हो। उस दिन की स्मृति में पूरे बर्लिन शहर में जगह-जगह किताबों को पढ़कर सुनाया जाता है। छोटे-छोटे बच्चों को लेकर दर्जनों की तादाद में माँ, पिता, आम लोग आते हैं। छोटे-छोटे कमरों में बैठकर रेस्तराँओं में बैठकर, चौराहों पर बैठकर, पार्क में बैठकर पूरे दिन पूरे शहर में देख सकते हैं कि लोग कोई किताब पढ़कर सुना रहे हैं। ऐसा माना जाता है कि नाजीवाद की तरह यह दिन भी जर्मनी के इतिहास का काला दिन था। इसलिए ऐसा दिन फिर कभी न आए, ऐसा करने के लिए इस दिन को एक महत्वपूर्ण तारीख मान लिया गया है।

बहुत-सी ऐसी गुत्थियाँ हैं जो मेरे दिमाग में अपने देश को लेकर रही हैं और आज भी हैं। कुछ-कुछ उस दिन समझ में आईं कि हम लोग क्यों बच्चों के हाथ में किताब देने से संकोच करते हैं? क्यों सोचते हैं कि केवल मान्य पाठ्यपुस्तक जिसको सरकार ने लिखवाया हो, वही बच्चों के हाथ में जानी चाहिए। कोई अनाप-शनाप किताब उनके हाथ में न चली जाए। कौन-कौन सी शंकाएँ हमारे मन में हैं? कैसा संशय है किताब को लेकर? हमारे मन में इन संशयों ने आधुनिक समय में एक नया रूप भी हासिल किया है। आप देखते होंगे कि अक्सर शिक्षा व्यवस्था की आलोचना करते समय जिन जुमलों का, नारों का प्रयोग होता है उनमें से एक नारा यह भी होता है कि 'बुकिश लर्निंग', क्या किताबी कीड़ा बन रहे हो, 'कुछ करके देखो।' मेरी प्रिय संस्था 'किशोर भारती' और 'एकलव्य' ने भी एक नारा इसी तरह दिया था 'लर्निंग बाइ डूइंग' जो कोई नया नारा नहीं है। उन्होंने हिन्दी में इसको प्रचारित किया और एक आन्दोलन खड़ा कर दिया, 'खुद करके देखो'। हालाँकि यह नारा विज्ञान के सन्दर्भ में था, पर यह कहीं न कहीं एक गहरे स्तर पर लोगों को किताब में दिए गए ज्ञान से कुछ-कुछ विरक्त और अपने हाथ से किए गए, अपने अनुभव से पैदा किए गए ज्ञान के प्रति कुछ-कुछ अनुरक्त बनाने के लिए एक सूक्ष्म स्तर पर काम करता है। एक ऐसी संस्कृति में जहाँ किताब पहले ही दुर्लभ है, अगर प्रकट भी होती है तो प्रायः बदनाम हो जाती है। ऐसी संस्कृति में जो बुकिश लर्निंग या किताबी कीड़ा बनने से परहेज करने वाली जो बातें हैं, ये भी कहीं न कहीं उस संस्कृति को उत्साहित करती है जिसमें किताब को सन्देह की दृष्टि से देखा जाता है।

सौ-डेढ़ सौ साल पहले आधुनिक शिक्षा की जो संस्कृति जन्मी उसमें भी तरह-तरह से आँख के काम या ज्यादा बारीकी से काम करने वाले विद्वान का मजाक उड़ाया जाता था। पहले इसलिए भी क्योंकि वो अँग्रेजी पढ़ लेना था लेकिन कुछ-कुछ इसलिए भी क्योंकि उससे हाथ से काम करने की प्रवृत्ति घट जाती थी। बहुत-सा आधुनिक शिक्षा-विज्ञान अगर आप इस दृष्टिकोण से देखें तो आपको लगेगा कि किताब को हटाकर हाथ के काम को प्रमुख बनाने का विज्ञान है। कोई आश्चर्य भी नहीं कि गाँधी को भी स्वयं यह काम करना पड़ा क्योंकि वास्तव में हमारे धर्म में यह बहुत महत्वपूर्ण हिस्सा था कि हम कैसे हाथ के अनुभव को महत्त्वपूर्ण बनाएँ। इसलिए किताब की, किताबी आदमी की जिसकी आँख कमजोर हो गई है, जिसको चश्मा लग गया है, ऐसी चीजों की आलोचना करते हुए कुल मिलाकर हम किताबी संस्कृति की आलोचना करना उचित मानते हैं। भारतेन्दु ने 19वीं सदी के उत्तरार्द्ध में ही लिख दिया था कि "घड़ी, छड़ी, चश्मा भये, छन्नि के हथियार।" ऐसी संस्कृति आई है कि नई शिक्षा में क्षत्रियों ने तलवार की जगह अब चश्मा लगाना शुरू कर दिया है और कटार की जगह कलम इस्तेमाल करने लगे हैं। ये पूरा सन्दर्भ मैं इसलिए नहीं दे रहा हूँ

जिससे कि कोई अनोखी, नई बात कही जाए बल्कि इसलिए दे रहा हूँ जिससे कि हम इस बात को समझें कि अगर पुस्तकालयों को, पुस्तक पढ़ने की संस्कृति को, वास्तव में एक जरूरत बनाना है समाज की, शिक्षा की, स्कूली व्यवस्था की, तो इसमें काम और सोच दोनों स्तर पर ही काफी गहराई से कार्य करना होगा।

भारत लगातार एक बदलता हुआ देश है। इसने बहुत कम समय में, मुश्किल से 150-200 वर्ष में कई ऐसी यात्राएँ की हैं जिनको यूरोप ने 400-500 वर्षों में किया। कई ऐसी यात्राएँ अभी भी चालू हैं जो हमारे जीवन में पूरी नहीं होगी बल्कि कई पीढ़ियाँ इन यात्राओं में निकल जाएँगी। इन्हीं में से एक यात्रा है पढ़ने-लिखने की। पढ़ने-लिखने की संस्कृति को सामान्य बनाने की, हर इन्सान को किताबों के प्रति आकर्षित करने की, और किताब को एक ऐसा माध्यम बनाने की जिससे समाज में एक-दूसरे की बात सुनने की, एक दूसरे की बात सहने की, अपनी बात आत्मविश्वास के साथ कहने की तहजीब पैदा हो, चिल्लाकर कहने की नौबत न आए। हथियार उठाने की नौबत न आए। शान्ति की संस्कृति जो कि अपनी बात कहती है लेकिन उससे जब कोई सहमत नहीं होता तो इतना गुस्सा नहीं करती कि दूसरे को लगे कि उसकी बात बिल्कुल व्यर्थ है। यह एक राजनीतिक मसला भी है। इसमें एक सांस्कृतिक अनुगूँज है, एक ऐतिहासिक मसला भी है, और इसकी राजनीति आज के समय में आप देख ही रहे होंगे जहाँ किताबों का चयन अपने आप में अक्सर एक राजनीतिक प्रश्न बन जाता है। फिर पाठयपुस्तकों का निर्माण ही नहीं बल्कि सामान्य पुस्तकों का चयन भी एक राजनीतिक प्रश्न बन जाता है क्योंकि ये डर लगता है कि हमारी किताबें आएँगी या उनकी किताबें आएँगी। अगर किताबें पहुँचनी हैं तो बच्चों के हाथ में किनकी किताबें पहुँचें? क्योंकि हमारे माहौल में बच्चों पर भरोसा नहीं है किसी का, हर आदमी सोचता है कि हम बच्चों को अपनी तरह का इन्सान बना दें। बच्चे खुद कैसे इन्सान बनेंगे, इस बात में हमारा यकीन नहीं है। इसलिए लगातार एक कशिश, एक तनाव, समाज में उठने वाली हिंसा– मतों को लेकर, विचारों को लेकर, बातों को लेकर, पैदा होती रहती है।

दरअसल दूसरा हिस्सा जो मुझे अपनी बात का कहना है, वह यह कि आप पुस्तकालय की संस्कृति बनाने निकलते हैं। लाइब्रेरियों का निर्माण करने निकलते हैं, सोचते हैं कि हम हर स्कूल में लाइब्रेरी बनाएँगे। हर कक्षा में लाइब्रेरी बनाएँगे या कि नगर-नगर में, गाँवों में लाइब्रेरी होगी, तो किन समस्याओं से हम पेश आते हैं। उनमें से कुछ का नजारा, कुछ की बानगी आपको नजर आ गई होगी। और शायद इनमें दो समस्याएँ सबसे प्रमुख हैं जिनकी ओर मैं संक्षेप में इशारा करना चाहूँगा। दोनों ही ऐसी समस्याएँ हैं जिनसे उस हर शख्स को पेश आना पड़ेगा जो एक छोटी-सी भी लाइब्रेरी बनाने के लिए निकला है। इसलिए पेश आना पड़ेगा क्योंकि लाइब्रेरी एक सार्वजनिक संस्था है।

अगर आप अपने घर में लाइब्रेरी बना रहे हैं तो एक अलग मसला है। अगर लाइब्रेरी का अर्थ ही है कि वह जगह जहाँ चार अपरिचित लोग आएँगें, तो आपका वास्ता इन दो समस्याओं से जरूर पड़ेगा जिनकी ओर मैं इशारा करने जा रहा हूँ। इनमें से पहली समस्या है चयन की, जिसकी ओर थोड़ा-सा इशारा मैंने आपसे पहले किया–कि कौन सी किताबें आएँगी यहाँ? कौन चुनेगा इन किताबों को? किस आधार पर चुनेगा इन किताबों को? कौन होता है वो चुनने वाला? ये चारों प्रश्न एक साथ प्रकट होंगे। जब ये प्रश्न सरकारी सन्दर्भों में प्रकट होते हैं तो प्रायः इतने प्रच्छन्न रूप से प्रकट होते हैं कि आम जन को दिखाई नहीं देते कि ये कितने गम्भीर प्रश्न हैं। क्योंकि किताबों का मसला ऐसा नहीं है कि आप जेब में पैसे लेकर निकलें और बाजार से कुछ किताबें खरीदकर लाएँ। किताबें मिठाइयाँ नहीं है जो पहले से पता हो कि फलाने की दुकान पर मिलती हैं। किताबों का मसला बहुत ही जटिल है। अव्वल तो इतनी किताबें हैं और उनमें से कुछ को ही खरीदने की हमारी कूवत है। दूसरे, किताबें जगह लेती हैं और जगह लेती हैं तो इस तरह से लेती

हैं कि पसरकर बैठ जाती हैं। एक बार आपने कुछ किताबें खरीद लीं तो जो जगह आपके स्कूल में या आपकी संस्था में थी, वो आपने भर ली। अब अगर आपको कुछ वर्ष बाद ये दिव्य ज्ञान हो भी कि वो किताबें बहुत अच्छी नहीं थीं, तो उन किताबों से मुक्ति पाना बड़ा मुश्किल काम है। क्योंकि अगर आप किताबों को हटाते हैं तो चार लोग आपकी आलोचना करना शुरू कर देंगे कि देखो किताबें हटा रहे हैं। आप उनको फाड़ेंगे, जलाएँगे तो वही समस्या आएगी जो मैंने आपसे पहले बताई। आपके मन में भी एक प्रश्न होगा कि मैं भी किताबों को नष्ट करने वाला बन गया। कैसा आदमी हूँ? आप सोचेंगे कि अच्छा होता किसी को दे देते। तो आपके मन में दो बार यह ख्याल ज़रूर आएगा कि जिन किताबों को मैं नहीं रखना चाहता वो दूसरों को देना कोई अच्छी बात है क्या? अगर ये किताबें अच्छी होतीं तो मैं ही इनको रखता और हम इन्हें दूसरों को दे रहे हैं, जिसके पास मेरी तुलना में भी कम किताबें हैं। तो मैं उसको ऐसी किताब दूँ जो कि कुछ बेहतर हो लेकिन मैं वो किताबें दे रहा हूँ जिन्हें कि मैं हटाना चाहता हूँ। ये सारे प्रश्न किताबों को लेकर आपके मन में आएँगे।

किताबों का चयन एक बहुत ही मुश्किल काम है। जब सरकारें ऐसी समिति बनाती हैं जिसको ये जिम्मा दिया जाता है कि भई कुछ किताबों की सूची बनाओ तो समिति के सामने इस तरह के बड़े पेचीदा सवाल उभरते हैं कि हम कैसे ये सूची बनाएँ? अव्वल तो कोई ऐसा इन्सान नहीं होता जिसको पता हो कि दुनिया में जितनी तमाम किताबें हैं उनमें से कौन-सी लेने लायक हैं। अगर पता हो, तो भी यह प्रश्न उठता है कि उस समिति में हर व्यक्ति की राय किस तरह शमिल हो पाएगी? सरकारी समितियों के साथ जो सबसे बड़ी सीमा होती है, समय की होती है। समिति आज बनी और उससे कहा जाता है कि 25 तारीख तक सूची जमा कर दो। उस बीच दस हजार किताबों में से उसको आठ सौ चुननी हैं। अगर वो व्यक्ति अरस्तू भी हो तो भी उसके लिए बड़ा मुश्किल है कि वो दस हजार किताबें 25 तारीख तक पढ़कर उसमें से आठ सौ चुन ले। अगर चार-छह आदमी उसमें हैं तो आप समझिए कि यह असम्भव है। तो प्रायः किताबों को यूँ ही पलटकर देखकर कह देते हैं कि हाँ भाई ठीक है ले लो। यहाँ पर अनेक प्रकार की भावनाएँ, अनेक प्रकार के पूर्वाग्रह काम आते हैं। बहुत से लोगों को वो किताबें ठीक लगती हैं जो उन्होंने खुद पढ़ रखी हैं बचपन में। बहुत से लोगों को नागवार गुजरती हैं जो उनके शत्रुओं ने पढ़ी हों। बहुत से लोगों को किताबें देखकर एहसास हो जाता है कि ये लेने लायक हैं या नहीं। हमारी व्यवस्था में तो आप जानते हैं इम्तिहान की कॉपी देखकर ही बहुत से लोगों को पता चल जाता है कि इसको 'साठ' नम्बर मिलने चाहिएँ, इसको 'चालीस'। हमारे यहाँ इस तरह की बुक रीडिंग बहुत होती है या नोट बुक रीडिंग। ऐसी स्थिति में ये बड़ा मुश्किल होता है कि किताबों का चयन दिए गए समय में कैसे किया जाए? चयन के लिए प्रायः पुस्तकें पर्याप्त मात्रा में एक जगह उपलब्ध भी नहीं होती। और यहाँ आता है दूसरा पहलू जो इसी सन्दर्भ में मुझे आपके सामने रखना है। वो पहलू है एक ऐसे बाजार का जिसके अपने कोई नियम नहीं है। किताबों का बाजार, किताबों के निर्माण का उद्योग।

आप बहुत ज्यादा बुरा न मानें। हो सकता है आपकी भावनाओं को मैं आहत करूँ, इसलिए मैं पहले से ही भूमिका दे रहा हूँ। किताबों का बाजार, किताबों का उद्योग, उद्योगों में अगर गिना जाए तो सबसे भ्रष्ट उद्योगों में से है। इसमें आज एक प्रकार की ऐसी तलछट देखने को मिलती है जिसमें से कोई चीज कायदे से ढूँढ़कर निकालना बड़ा मुश्किल है। कौन-सी किताब छपेगी? कौन-सी नहीं छपेगी? इसका आधार अधिकांश प्रकाशकों के पास नहीं है। अनाप-शनाप सब कुछ छपता है। और क्यों छप रहा है इसके भी अनेक कारण होते हैं। बहुत-सी पुस्तकें केवल इसलिए छपती हैं, जिससे वे सरकारी बिक्री में आ सकें। बहुत से प्रकाशक अनेक नामों से पुस्तकें छापते हैं। बहुत से लेखक अनेक नामों से पुस्तकें लिखते हैं। इस पूरे जगत में कोई सामान्य इन्सान पहुँच जाए तो उसको वास्तव में लगेगा कि मैं कहाँ आ गया। इससे अच्छा तो मैं उस दुनिया में था जहाँ कोई किताब नहीं थी, जहाँ पेड़ ही थे, जानवर थे। वरना इस जगह पर यह तय करना कि ये किताब मुझ तक कैसे पहुँची, बड़ा मुश्किल काम है।

कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए हमको इस बात से कि अगर आप आज किसी डाइट के पुस्तकालय में जाएँ, सर्व शिक्षा अभियान के अन्तर्गत बहुत बड़ी मात्रा में किताबों की खरीद हुई है, गाँव-गाँव में पुस्तकें पहुँची हैं। ज्यादा नहीं, तीस-चालीस ही सही। पर आप वो स्कूल खुलवाकर उसकी लाइब्रेरी की अलमारी खुलवा कर गौर करें तो आप कुछ विलाप की मुद्रा में तुरन्त आ जाएँगे कि ये किताबें ली गई हैं। इन किताबों को कौन पढ़ेगा? बहुत-सी किताबें इसलिए ली गई हैं कि देखने में कुछ शोख लग रही थीं, कुछ-कुछ इस तरह के उनके कवर थे जिस तरह से एक शादी का कार्ड होता है, चमकदार तेज रंग वाले चित्र उसमें थे। थोड़ा बारीकी से आप देखेंगे तो बड़े क्रूर चेहरे, अटपटी भाषा मिलेगी। किसी चीज़ पर कोई ध्यान नहीं दिया गया था फिर भी बिक गई क्योंकि मूल्य बहुत कम था। मूल्य इसलिए बहुत कम था क्योंकि असली मूल्य पहले ही दिया जा चुका था। तो जो छपा हुआ मूल्य है बहुत आकर्षक लगता है समिति को। नियम भी कुछ इस तरह के हैं कई बार, कि कोई

अगर हम अपनी स्कूली व्यवस्था में परीक्षा प्रणाली, अध्यापकों के प्रशिक्षण, इन तमाम चीजों पर अधिक ध्यान देकर और उन तमाम सांस्कृतिक, शैक्षणिक प्रश्नों से जूझ भी लें जिनकी ओर मैंने पहले इशारा किया ओर एक पढ़ने का माहौल और एक लाइब्रेरी की ज़रूरत पैदा कर भी दें, तो भी ये प्रश्न रहेगा कि इसमें किस प्रकार सामग्री पहुँचे?

किताब आठ रुपये में मिल रही है और उसके बरअक्स दूसरी किताब अड़तालीस रुपये में है, तो आठ रुपये वाली को प्राथमिकता मिलेगी। भले ही सबको पता हो कि आठ रुपये में आज कोई किताब नहीं छप सकती।

सरकार भी बहुत से संशय लेकर चलती है और कोशिश करती है कि भ्रष्टाचार कम से कम हो। पर किताबों का व्यवसाय ही ऐसा है कि जितने नियम भ्रष्टाचार को कम करने के लिए बनाए जाते हैं, ठीक उन्हीं नियमों की आड़ में भ्रष्टाचार बढ़ जाता है। और इस तरह से एक ऐसी परिस्थिति पैदा होती है जिसमें रह-रहकर बार-बार पैसा दिए जाने के बावजूद हमारी शिक्षण संस्थाओं में ऐसी किताबें नहीं पहुँच पाती हैं जो बच्चों को आकर्षित कर सकें, जो अध्यापकों को आकर्षित कर सकें। अगर आप पिछले 60-62 साल की कई योजनाओं पर विचार करें तो पाएँगे कि पहली योजना से लेकर आज 12वीं योजना तक शायद ही कोई पंचवर्षीय योजना रही हो जिसमें किताबों की खरीद के लिए प्रावधान न किया गया हो। एक-दो योजनाएँ तो बहुत किताबों की खरीद लेकर आईं, जैसे कि ऑपरेशन ब्लैकबोर्ड, जो कि नई शिक्षा नीति के सन्दर्भ में चला और उसमें भी ऐसे कई कांड हुए जिनमें से अभी भी कई का समाधान हो रहा है। किताबों की खरीद को लेकर बहुत बड़ी समस्याएँ उस पूरे ऑपरेशन में आईं। जब ये किताबें स्कूल पहुँचती हैं तो इनका चूँकि ऐसा कोई कारण स्कूल में इस्तेमाल का नहीं है, जैसा मैंने पहले भी कहा, तो ये किताबें पड़ी रहती हैं। इसलिए आने वाले अधिकारियों को भी लगता है कि ये पैसा बर्बाद हुआ। अब क्यों फिर से पैसा लगाया जाए।

तो मुझे आशा है कि आप में से बहुत से लोग इन प्रश्नों पर भी विचार करेंगे कि अगर हम अपनी स्कूली व्यवस्था में परीक्षा प्रणाली, अध्यापकों के प्रशिक्षण, इन तमाम चीजों पर अधिक ध्यान देकर और उन तमाम सांस्कृतिक, शैक्षणिक प्रश्नों से जूझ भी लें जिनकी ओर मैंने पहले इशारा किया और एक पढ़ने का माहौल और एक लाइब्रेरी की ज़रूरत पैदा कर भी दें, तो भी ये प्रश्न रहेगा कि इसमें किस प्रकार सामग्री पहुँचे। एक ऐसे बाज़ार से होकर इस सामग्री को पहुँचना है, जो बाज़ार अपने आप में बहुत नैतिक बाजार नहीं है। और इस वजह से उस पर निर्भर होना बहुत मुश्किल काम है।

तो एक तरह से जरूरत और समस्याओं के बाद मैं अपने तीसरे और अन्तिम हिस्से पर आता हूँ जहाँ पर मुझे साधनों की बात करनी है। इस पूरे परिदृश्य में बदलाव लाने के क्या साधन हैं? खासकर दो साधनों की मुझे आपसे बात करनी है। एक तो शैक्षणिक साधनों में सबसे महत्त्वपूर्ण साधन शायद वे साधन हैं जो कि पढ़ना सिखाने के शिक्षण को प्रभावित कर सकते हैं। यह एक ऐसा विषय है जिस पर एन॰सी॰ई॰आर॰टी॰ इस समय काफी गहराई से काम करने का प्रयास कर रही है। एन॰सी॰ई॰आर॰टी॰ ने एक रीडिंग डिवेलपमेंट सेल सर्व शिक्षा अभियान के अनुदान से खोला है। इस सेल में हमारी कोशिश है कि हम लोग नए तरह से पढ़ना सिखाने के कौशलों का प्रशिक्षण देश में प्रचारित कर सकें। इस सिलसिले में बाल साहित्य का इस्तेमाल, कॉमिक पुस्तकमाला का इस्तेमाल, नई तरह की सामग्री का इस्तेमाल हम देश के राज्यों में प्रसारित करने की कोशिश कर रहे हैं। इस पूरी परियोजना के पीछे पढ़ने को लेकर एक दृष्टि है। वो दृष्टि पढ़ने की स्थापित संस्कृति से विपरीत है या उसकी विपरीत दिशा में जाती है। पढ़ने की स्थापित संस्कृति आज पढ़ने को यह यांत्रिक कौशल के रूप में विकसित करती है। अगर आप जुलाई के आरम्भ में कक्षा एक में जाएँ, तो अधिकांश सरकारी स्कूलों में और बहुत से प्राईवेट स्कूलों में भी आपको यही दृश्य देखने को मिलेगा कि बच्चे अक्षरों की आकृति से परिचित हो रहे हैं। उनके नाम याद कर रहे हैं और कुछ इस तरह से आवाज़ें आपको स्कूल से गुजरते समय आएँगी "क का कि की कु कू" या कि "अ आ इ ई" या "क पे उ की मात्रा कु। ग पे उ की मात्रा गु"। इस तरह से बच्चे रटते हुए आपको मिलेंगे जो कि अक्षरों और ध्वनियों के बीच सम्बन्ध बना रहे हैं। और ये सिलसिला कई महीनों तक चलेगा।

मगर विज्ञान की दृष्टि से देखें तो ये सिलसिला न केवल पूर्णत: अवैज्ञानिक है, इसलिए अमान्य है, बल्कि साथ में ये एक बहुत दु:ख भरा सिलसिला भी है क्योंकि बच्चों के बारे में हम जानते हैं कि अगर बच्चों में सबसे तीव्र किसी बात की इच्छा होती है तो वो यही होती है कि वो संसार को समझें। ऐसा कोई भी अनुभव जो उनकी समझने की इच्छा को प्रोत्साहित नहीं करता, उद्दीप्त नहीं करता, ऐसा अनुभव उनको नागवार गुजरता है। ऐसे अनुभव से पेश आते समय उनको बड़ा कष्ट होता है। ये जो अनुभव है अक्षरों की आकृतियाँ पहचानना, वर्णमाला याद करना, उसके क्रम को समझना और उसके बाद ध्वनियों को याद करना और फिर अक्षरों और ध्वनियों में सम्बन्ध बिठाना, फिर मात्राओं को याद करना और इसके बाद कहीं जाकर पहला शब्द पढ़ने का मौका मिलना, जैसे कि "क म ल" कक्षा एक के बच्चे के लिए बहुत-ही बड़ी त्रासदी है।

यह कोई आश्चर्य नहीं है कि हमारे अनेक अध्ययन यह सिद्ध करते हैं कि पढ़ना सिखाने की यह पारम्परिक विधियाँ बहुत बड़े पैमाने पर बच्चों को स्कूल में आते रहने को निरुत्साहित करती हैं। क्योंकि पढ़ना सिखाने की ऐसी पद्धति जो कि उबाऊ हो और जिसमें बार-बार प्रयास करने पर भी बच्चा पढ़ना न सीख पाए, अन्तत: बच्चे को न केवल निराश करती है बल्कि दूसरों की निगाह में बदनाम भी करती है। दो-तीन महीने, चार महीने बाद भी अगर बच्चा कुछ नहीं पढ़ पाता तो जो ऐसे माता-पिता हैं जिन्होंने स्वयं पढ़ना नहीं सीखा था, वे बच्चे से पूछते हैं कि तुम चार महीनों से जा रहे हो, पढ़ना नहीं सीख पाए? इसका मतलब? इसका मतलब वो यह नहीं समझते हैं कि स्कूल में कोई कमी है। इसका मतलब वो समझते हैं कि बच्चे में कोई कमी है। वो कहते हैं इसका मतलब तुम बुद्धू हो। और अगर वो बच्चा लड़की हुआ तो आप मानकर चलिए कि उसको इससे ज्यादा समय नहीं दिया जाएगा। ठीक है तुम बकरी चराओ, छोटे बच्चों को देखो, पढ़ने से तुम्हारा कोई वास्ता नहीं है। तुम्हारा इतना दिमाग नहीं है। कक्षा एक से पांच के बीच में ये दुर्घटनाएँ लगातार होती हैं। बहुत से सन्दर्भों में आप कई जगह, कई इलाकों में देखेंगे कक्षा पांच का बच्चा भी स्वतन्त्र रूप से पढ़ नहीं सकता है। बहुत से लोग इसी को लेकर व्यवस्था पर पिल पड़ते हैं कि "अरे आपने पाँचवीं में पहुँचाया ही क्यों?"

इस तरह के प्रश्न तमाम उठते हैं और मुझे आशा है कि आप भी इस पर विचार करेंगे। लेकिन इस पूरी चर्चा को यहाँ लाने का मैंने इसलिए सोचा कि जब तक पढ़ना सिखाने की विधियों का और वह भी एकदम शैशव काल में, बचपन में विकास नहीं होगा, बदलाव नहीं होगा, तब तक हमारा ये जो अरमान है कि लाइब्रेरी स्कूल का अंग बने, उसकी जरूरत बने और बच्चों में पढ़ने की इच्छा हो यह कभी पूरा नहीं होगा। हमारी आज की स्कूली शिक्षा व्यवस्था या तो परीक्षार्थी बनाती है या बहुत साक्षर बनाती है। वो पाठक नहीं बनाती किसी को। इसी कारण से हम अपनी भाषाओं में देखते हैं कि बहुत अच्छे लेखक की किताब की हज़ार दो हजार प्रतियाँ बिक पाती हैं। बल्कि दो हजार प्रतियाँ अगर हिन्दी में किसी उपन्यास की बिक जाएँ तो बहुत माना जाता है। भले ही हिन्दी 47 करोड़ लोगों की भाषा है। ये बड़ा भारी प्रश्न है कि हमारी शिक्षा व्यवस्था इतना समय लगाती है फिर भी पाठक क्यों नहीं बना पाती। माँग-माँगकर पढ़ने वाले बच्चे क्यों नहीं आ पाते?

कुछेक प्रदेश हैं जैसे केरल, बंगाल जिनमें पाठक बनते हैं। शिक्षा व्यवस्था की वजह से बनते हैं या कोई और सांस्कृतिक कारण है क्योंकि इन प्रदेशों में अपेक्षाकृत अधिक मात्रा में किताबें बिकती हैं? यहाँ सार्वजनिक प्रयास हुए हैं। जैसे कि केरल शास्त्र साहित्य परिषद् ने बहुत बड़े पैमाने पर पुस्तकों की संस्कृति को केरल में विकसित किया। सार्वजनिक पुस्तकालयों के लिए 1930 के दशक से ही केरल में एक आन्दोलन जैसा चला जिसकी वजह से आज वहाँ के गाँव-गाँव में पुस्तकालय मिलते हैं। कई समस्याओं को जिनको हम हिन्दी प्रदेश में आज भी झेल रहे हैं, उन समस्याओं को केरल जीत चुका है। ऐसा नहीं है कि वह चयन के प्रश्न को जीत चुका है। नहीं जीता, बल्कि अभी आपने देखा कि पिछले दिनों केरल में एक पुस्तक को लेकर इतना झगड़ा हुआ कि एक हेडमास्टर की हत्या कर दी गई जबकि उस पुस्तक से उसका कोई लेना देना नहीं था। उस पुस्तक की प्रतियाँ जलाई गईं उस प्रदेश में जिसको देश का सबसे साक्षर प्रदेश कहते हैं। ज़ाहिर है वह साक्षर तो हो गया लेकिन किताबों की संस्कृति के मामले में अभी बहुत निरक्षर है या कि असहनशील है। वरना एक किताब को जलाने की नौबत नहीं आती। उस किताब में कुछ ऐसा लिखा था, जिससे लोग सहमत नहीं थे, तो वे दूसरी किताब लिखते क्योंकि अन्तत: किताब का जवाब तो किताब ही है। किताबों का जवाब तो हर बच्चे के पास है, हर नागरिक के पास है। क्योंकि वह अगर सचमुच एक जीवित लोकतंत्र का नागरिक है तो उसमें इतनी कूवत होगी कि कौन-सी किताब में बकवास लिखी है और कौन-सी किताब में कोई ढंग की बात लिखी है ये निर्णय अन्तत: नागरिक का है, बच्चे का है। उसके हाथ से किताब छीनकर पहले ही जला देना या छिपा देना जिससे वह न पढ़ने पाए, यह दृष्टिकोण कुछ कुछ वैसा ही है जैसा कि मैंने कुछ समय पहले जर्मनी का दृष्टांत देते हुए आपके सामने रखने की कोशिश की थी।

अन्त में वो दूसरा साधन जिसकी ओर आजकल बहुत लोग आशा के दृष्टिकोण से देखते हैं, यह जो नई सूचना प्रोद्योगिकी

है जिसको आई॰सी॰टी॰ के नाम से जाना जाता है। क्या ये नई संस्कृति किताबों की संस्कृति को प्रोत्साहित कर सकती है? अगर किताबों को छोड़ भी दें, तो क्या यह पढ़ने की संस्कृति को प्रोत्साहित कर सकती है। बहुत पेचीदा प्रश्न है क्योंकि इसमें सन्देह नहीं कि इस टेक्नॉलॉजी की मदद से आज यह सम्भव हुआ है कि बहुत से लोग जो कि किताबों से वंचित रखे गए हैं, जिनके गाँव, शहर तक किताबें नहीं पहुँचती, वे भी किसी प्रकार उन विचारों को खुद पढ़ सकें। आज यह सम्भव हुआ है और इस दृष्टिकोण से देखें तो ये टेक्नॉलॉजी हमारे सामने एक ऐसी सुबह होने जा रही है जैसी सुबह कभी किसी ने देखी नहीं है। लेकिन परेशानियाँ भी हैं।

परेशानियाँ इस कारण है कि जो समस्याएँ किताबों के जंगल से किताबें बीनकर खरीदने में होती थीं वह इंटरनेट के जंगल में भी वैसी ही हैं। क्योंकि इंटरनेट का जंगल भी कोई बहुत नैतिक जंगल नहीं है। डार्विन ने कहा था कि जंगल का मतलब ही यह है कि जहाँ शक्ति का बोलबाला हो, नीति का स्थान न हो। वह बात तो वहाँ भी लागू होती है और हर तरह की सूचना वहाँ उपलब्ध है। दुनिया में हजारों की मात्रा में गुमराह किए जाते हुए युवक भी इंटरनेट के विश्वविद्यालय से ही पढ़ रहे हैं। लाखों की मात्रा में निराश होते हुए विकृत मानसिकता की ओर बढ़ते हुए बच्चों के लिए भी इंटरनेट का रास्ता खुला हुआ है। इंटरनेट पर किसी का जोर नहीं है। अगर इंटरनेट का इस्तेमाल करना है, स्कूल की संस्कृति में पढ़ने-लिखने की जगह बनाने के लिए, सुनने-सुनाने की जगह बनाने के लिए, एक अहिंसक शांतिपूर्ण जगह बनाने के लिए, तो भी अंत में हमारे पास इसका कोई विकल्प नहीं होगा कि हम एक ऐसे जगत की कल्पना करें जिसमें क्या बकवास है और क्या नहीं है, यह निर्णय करने का अधिकार भी विद्यार्थी के पास हो और इस निर्णय को करने की क्षमता भी उसमें विकसित की जा चुकी हो।

एक और मसला है, आई॰सी॰टी॰ के विद्वान भी बहुत स्पष्ट नहीं बता पा रहे हैं कि क्या आई॰सी॰टी॰ में वह क्षमता है या वह क्षमता उस पीढ़ी को दिखलाई दे रही है, जो किताबों की मदद से जिज्ञासा पैदा कर सकी, बनाए रख सकी? लेकिन कल के दिन अगर सिर्फ आई॰सी॰टी॰ ही होगी और किताबें नहीं होंगी तो क्या वैसा माहौल पैदा हो पाएगा कि हम बच्चे से उम्मीद करें कि वह कोई प्रश्न लेकर मन में चले और उसका तुरन्त उत्तर न मिलने पर निराश न हो, महीनों तक उसकी खोज करता रहे, अनेक तरह की चीजें पढ़ता रहे, देखता रहे तब जाकर उसके मन में कोई विचार बने।

शिक्षा के बहुत महत्वपूर्ण मूल्यों में से एक है अनिश्चय में रहना, फिर भी सुखी रहना। आई॰सी॰टी॰ की संस्कृति में कहीं न कहीं समय का प्रबन्धन एक बहुत बड़ा प्रश्न है। जैसे कि पारम्परिक लाइब्रेरी के निर्माण में जगह का प्रबन्धन एक बहुत बड़ी समस्या थी वैसे ही आई॰सी॰टी॰ के संदर्भ में समय का प्रबन्धन बहुत मुश्किल है। क्योंकि ये जो नई टेक्नॉलॉजी हैं, ये जगह तो नहीं माँगती लेकिन समय को लेकर एक नई समस्या पैदा करती है कि इनके आने के बाद किसी में धैर्य नहीं रहता। लोग तुरन्त अपने प्रश्न का उत्तर चाहते हैं और तुरन्त अगर कोई जवाब नहीं मिलता तो निराश हो जाते हैं। मैं देखता हूँ कि अगर आप किसी के ई-मेल का जवाब हफ्ता दो हफ्ता न दें तो वह सोचता है कि अब आप सचमुच सरकारी अधिकारी बन गए। यानी कि अब आप कुन्द हो गए। ई-मेल लिखने वाले को लगता है कि जितना समय मुझे इसको भेजने में लगता है उतना ही समय आपको इसको समझने में लगना चाहिए। इतने ही समय में आपको इसका जवाब दे देना चाहिए। ई-मेल, इंटरनेट का एक पहलू भर है लेकिन वह इसकी सांस्कृतिक संरचना भी है। वह एक मानसिक संरचना भी है। किताबों की संस्कृति और आई॰सी॰टी॰ की संस्कृति में समय के प्रबन्धन को लेकर एक गहरी बहस छिपी हुई है, फंसी हुई है। मुझे आशा है आप इस बहस को आज शुरू करेंगे छोटे समूहों में। इससे जुड़े हुए प्रश्न उभारेंगे।

□□□

किताबों के देश में

शंभुनाथ

याज्ञवल्क्य ने स्त्री गार्गी के लगातार सवाल करने से गुस्सा होकर कहा था, 'इससे आगे कुछ पूछा तो तुम्हारे सिर के टुकड़े हो जाएँगे।' याज्ञवल्क्य किताबों के देश से बहुत दूर थे। किताबें सवालों से जन्मती हैं। इसलिए किताबों की जरूरत तब तक बनी रहेगी, जब तक समाज के लोगों में प्रश्न करने, सन्देह करने का जज्बा है। दुनिया में जब पहली बार किताबें छपनी शुरू हुईं, सबसे ज्यादा वे घबराए, जिनका ज्ञान पर एकाधिकार था। किताबों के 500 सालों के इतिहास ने दुनिया में अनगिनत बहसों को जन्म दिया, आजादी की नयी-नयी मंजिलों के स्वप्न दिये और परिवर्तन का बिगुल बजाया। पुस्तकें हैं तो तर्क है, अनुभूति है और आजादी की बाकी लड़ाई है।

पुस्तक-संस्कृति मनुष्य की कल्पनाशीलता और विचारशक्ति को बचाने के लिए जरूरी है। व्यापारिक बुद्धि की गुलामी और दु:स्वप्नों से बाहर आने के लिए पढ़ना जरूरी है। जिन्दगी के बारे में गहराई से कुछ जानने के लिए पढ़ना जरूरी है। उस समाज के लोगों के लिए पढ़ना और ज्यादा जरूरी है, जहाँ अन्याय और दमन के अनगिनत मायावी रूप हैं। पढ़ना, लड़ना है। पढ़ना, स्वाधीन होना है, जिसका कोई विकल्प नहीं है। 21वीं सदी की एक बड़ी लड़ाई पुस्तक-संस्कृति और इसके जरिये मनुष्य की कल्पनाशीलता, संवेदनशीलता और विचारशक्ति को बचाने की है।

एक अच्छे लेखक की किताब पढ़ना, इस जीवन-विरोधी माहौल में, जीवन में लौटना है। यह पराजय और साहस के बीच पुल बनाना और किसी ऊँचे मानव-स्वप्न में साझा करना है। लग सकता है कि पुस्तकों की जगह अब टी॰वी॰ और ट्विटर ने छीन ली है। उदाहरण दिया जाता है कि 'अरब स्प्रिंग' ट्विटर क्रान्ति का ही नतीजा था। सलमान रुश्दी ने कहा, अब लेखक की आवाज़ असर पैदा नहीं करती। लेकिन क्या नतीजा हुआ अरब स्प्रिंग का? मिस्र में एक कट्टरवाद गया, दूसरा कट्टरवाद आया। खुले दिमाग के लोग फिर हाशिए पर चले गये। ट्विटर से जो क्रान्ति आएगी, उसमें कोई ऊँचा मानव-स्वप्न नहीं होगा। दो दशकों में जो सूचना क्रान्ति आयी है, इसने समाज-विपन्नता, बौद्धिक उथलेपन और व्यक्तिवाद को कितना बढ़ावा दिया है, यह कहने की जरूरत नहीं है। इन्टरनेट निश्चय ही उपयोगी है, पर सूचना क्रान्ति बहुत जल्दी सूचना-भ्रान्ति में बदल गयी। क्यों?

समाज के समाज बने रहने के लिए पाठक का होना जरूरी है। पुस्तक का पाठक होने

का अर्थ है चेहराहीन भीड़ से बाहर आना। यह इतिहास में प्रवेश करना है। हमें पाठ्य माध्यम की विलक्षणता को समझना होगा। पढ़ते समय व्यक्ति का 'स्व' हमेशा जाग्रत और सक्रिय रहता है, जबकि टी॰वी॰ देखते समय आदमी टी॰वी॰ के सामने बुद्धू-सा बैठा रहता है, निठल्ला! वह पढ़ते समय पाठ के किसी बिन्दु पर ठहर कर सोच सकता है, कल्पना कर सकता है, जबकि टी॰वी॰ के धारावाहिक और विज्ञापन के सामने वह एक निष्क्रिय, विमुग्ध और वेध्य दर्शक होता है—विज्ञापनदाताओं के हाथों बेच दी गयी एक वस्तु!

किताबें दर्शक को पैसिव से एक्टिव बनाती हैं, उसे स्तब्ध से आत्मसक्रिय करती हैं। उसके भोक्तृत्व पर कर्तृत्व की प्रतिष्ठा होती है। दर्शक का पाठक बनना, कुछ सोचना शुरू करना है। पाठक को महज पॉप संगीत का श्रोता या टी॰वी॰-दर्शक बना देना उसके अन्त:करण का संहार है। इसलिए इलेक्ट्रॉनिक मीडिया के बावजूद किताबों का कोई विकल्प नहीं है, जैसे कोल्ड ड्रिंक्स के बावजूद पानी का विकल्प नहीं है।

हिन्दी के पाठकों को लेकर अक्सर रोना-धोना होता है। वे जो ज्यादा पढ़-लिख लेते या हुनरमन्द हो जाते हैं, वे अंग्रेजी किताबों की तरफ चले जाते हैं। पश्चिमी देशों की तुलना में उन देशों में अंग्रेजी के पाठकों की संख्या ज्यादा बढ़ी है, जहाँ उपनिवेशवाद था। आज भारत में अंग्रेजी प्रकाशकों के फेस्टिवल ही फेस्टिवल है। ऐसे बौद्धिक उपनिवेशवाद से निकलकर भाषायी पुस्तक-संस्कृति को विकसित करने का अर्थ है आत्मविसर्जन को रोकना, राष्ट्रीय आत्मपहचान की रक्षा करना।

हिन्दी पट्टी के लोग नकली, रंगीन और चमत्कारपूर्ण चीजों की तरफ ज्यादा आकर्षित होते रहे हैं। यही वजह है कि जड़ता को तोड़ने के लिए सबसे अधिक विद्रोह हिन्दी क्षेत्र में हुए। ऋषियों, कवियों, विद्वानों और कलाकारों ने समय-समय पर आवाज उठाई। हिन्दी क्षेत्र में महान् भारतीय ग्रन्थ रचे गये। अभी भारी पूँजी पर खड़े-बढ़े मनोरंजन उद्योगों का बहुत बड़ा निशाना हिन्दी क्षेत्र है। सस्ती लोकप्रियतावादी चीजों का चारों तरफ बोलबाला है, सच्ची चीजों की यह ऐसी चुनौती है जिसका सामना उन नागरिकों, लेखकों और पाठकों को करना है, जो पुस्तक संस्कृति के अंग हैं। हिन्दी क्षेत्र में रूढ़िवादी संकीर्णता और अमेरिकी संस्कृति एक साथ दोनों इसलिए छाती जा रही हैं कि 'पढ़ने की संस्कृति' को केन्द्र में रखकर वैसा कोई आन्दोलन नहीं है जैसा पर्यावरण, एड्स, साक्षरता आदि मुद्दों पर है।

मनुष्यता, मनुष्य की तर्क करने की प्रवृत्ति और उसकी आलोचनात्मक दृष्टि हाशिए पर जाएगी तो पुस्तकें भी महत्वहीन होती जाएँगी। आशय ऐसी पुस्तकों से है, जो 'सूचनाओं के डिब्बे' से अधिक हैं। आज हमला पुस्तकों पर ही नहीं है, मनुष्यता, मनुष्यों की तर्क करने की प्रवृत्ति और उसके विवेक पर भी है। इसलिए पुस्तक-संस्कृति को नवयौवन देने का अर्थ है उस मनुष्य को फिर उद्‌बुद्ध करना जो तेजी से भोग पशु होता जा रहा है। किताबों के देश में होना थोड़ा और मनुष्य हो उठना है। किताबें हमें हमेशा नयी यात्रा में ले जाती हैं। वे हमें स्वाधीन मनुष्य बनाती हैं, सच्चा आनन्द देती हैं।

यह किताबों का देश उनका है, जो शब्द से प्यार करते हैं। पाठकों के बिना निर्जन रेगिस्तान है। यह खुलासा करने की अधिक जरूरत नहीं है कि पुस्तक-संस्कृति के तीन मुख्य अंग हैं—लेखक, प्रकाशक और पाठक। प्रकाशकों की भूमिका पुस्तक-संस्कृति को विकसित करने में महत्वपूर्ण है। यह जरूरी है कि पुस्तकों की पाठकों तक पहुँच बनाने और लेखकों से रिश्ता दुरुस्त रखने के लिए कुछ नियमों और आदर्शों पर आम राय बनाई जाये। प्रकाशक बदलती दुनिया को देखते हुए बदलें और आपस में सहकारिता विकसित करें। भाषायी पुस्तक-संस्कृति में जान फूँकने के लिए पुस्तकों का व्यापक प्रचार जरूरी है। इसके अलावा एक ब्राण्ड के तहत हिन्दी पुस्तकों की खुदरा बिक्री की एक पारदर्शी राष्ट्रीय शृंखला जरूरी है। बड़ी सरकारी खरीद की बाइपास सर्जरी से पुस्तक संस्कृति की जिन्दगी ज्यादा लम्बी नहीं होगी, वैकल्पिक उपाय करने होंगे। किताबों के देश के प्रथम नागरिक पाठक हैं।

साहित्य का पाठक किसी खास अस्मिता का प्रतिनिधित्व नहीं करता। यह इकहरी अस्मिता का आदमी भी नहीं होता। लेखक ऐसा हो भी, मगर पाठक ऐसा नहीं होता। यही वजह है कि लेखक किसी अनजाने कोने में यह दबाव झेलता है कि उसकी रचना में कहीं ऐसा 'स्पेस' हो, जहाँ दूसरी अस्मिता या विचारधारा वाले लोग भी उसके अनुभव को बाँट सकें। एक अच्छे लेखक में यह आकांक्षा स्वाभाविक है कि वह 'विशिष्ट' के साथ 'सार्वभौम' को भी छू ले। सम्भवत: एक लेखक का जन्म यहीं होता है, क्योंकि ऐसी जगहों के बिना पाठक भी जिन्दा नहीं रह सकता।

हर जीवित समाज में पाठक होते हैं। हमें जितना अन्दाजा है, दरअसल उससे कहीं बहुत अधिक हिन्दी पाठक हैं। वे किताबें पढ़ते हैं। वे घरों, मेले-ठेलों, शिक्षा-संस्थानों, शहर-चौराहों और यात्राओं में कभी नजर आते है कभी छिपे होते हैं। अब शिक्षा के प्रसार से नयी-नयी जगहों से पाठक आ रहे हैं। दर्शक अपनी मूकता में छटपटा रहे हैं। दर्शक की मुक्ति है किताबों के देश में।

□□□

मेरी लाइब्रेरी की पहली किताब

धर्मवीर भारती

ईनाम में स्कूल से दो अंग्रजी किताबें मिली थी। एक में दो छोटे बच्चे घोसलों की खोज में बागों और कुंजों में भटकते हैं और इस बहाने पक्षियों की जातियों, उनकी बोलियों और उनकी आदतों की जानकारी उन्हें मिलती है। दूसरी किताब थी 'ट्रस्टी द रग' जिसमें पानी के जहाजों की कथाएँ थीं। जहाज कितने प्रकार के होते हैं? कौन-कौन-सा माल लाद कर लाते हैं? कहाँ से लाते हैं? कहाँ ले जाते हैं? नाविकों की जिन्दगी कैसी होती है? कैसे-कैसे जीव मिलते हैं? कहाँ व्हेल होती है? कहाँ शार्क होती है? आदि बातें उसमें वर्णित थीं।

इन दो किताबों ने एक नयी दुनिया का द्वार मेरे लिए खोल दिया। पक्षियों से भरा आकाश, और रहस्यों से भरा समुद्र। पिता ने आलमारी के एक खाने में अपनी चीजें हटा कर जगह बनायी और मेरी दोनों किताबें उस खाने में रखकर कहा, 'आज से यह खाना तुम्हारी अपनी किताबों का है। यह तुम्हारी अपनी लाइब्रेरी है।' यहाँ से आरम्भ हुई उस बच्चे की लाइब्रेरी। बच्चा किशोर हुआ, स्कूल से कॉलेज, कॉलेज से यूनिवर्सिटी गया, डॉक्टरेट हासिल की, यूनिवर्सिटी में अध्यापन किया, अध्यापन छोड़कर इलाहाबाद से मुम्बई आया, सम्पादन किया उसी अनुपात में अपनी लाइब्रेरी का विस्तार करता गया।

बरस दर बरस इकट्ठी होती गईं, ये तमाम किताबें। पर आप पूछ सकते हैं कि किताबें पढ़ने का शौक तो ठीक, किताबें इकट्ठी करने की सनक क्यों सवार हुई। उसका कारण भी बचपन का एक अनुभव है। इलाहाबाद भारत के प्रख्यात शिक्षा केन्द्रों में एक रहा है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी द्वारा स्थापित पब्लिक लाइब्रेरी से लेकर महामना मदनमोहन मालवीय द्वारा स्थापित भारती भवन तक। विश्वविद्यालय की लाइब्रेरी तथा अनेक कॉलेजों की लाइब्रेरी अलग। वहाँ हाइकोर्ट है, अत: वकीलों की निजी लाइब्रेरियाँ, अध्यापकों की निजी लाइब्रेरियाँ भी होती हैं।

अपनी लाइब्रेरी वैसी कभी होगी यह तो स्वप्न में भी नहीं सोच सकता था, पर अपने मुहल्ले में एक लाइब्रेरी थी- हरि भवन। स्कूल की छुट्टी मिली कि मैं उसमें जाकर जम जाता था। पिता दिवंगत हो चुके थे, लाइब्रेरी का चंदा चुकाने को पैसा नहीं था, अत: वहीं बैठकर किताबें निकलवा कर पढ़ता रहता था। उन दिनों हिन्दी में विश्व साहित्य, विशेषकर उपन्यासों के खूब अनुवाद हो रहे थे। मुझे उन अनूदित उपन्यासों को पढ़कर बड़ा सुख मिलता था। अपने छोटे से हरि भवन में खूब उपन्यास थे। वहीं परिचय हुआ बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय

"दो रुपये लेकर देवदास फिल्म देखने गया। पहला शो छूटने में देर थी, पास में किताब की दुकान थी। वहीं चक्कर लगाने लगा। सहसा देखा काउण्टर पर एक पुस्तक रखी है–'देवदास'। मेरा मन पलट गया। दस आने में 'देवदास' खरीदी और जल्दी-जल्दी घर लौट आया।"

की 'दुर्गेशनन्दिनी', 'कपाल कुण्डला' और 'आनन्द मठ' से। टॉलस्टाय की 'अन्ना केरेनिना', विक्टर ह्यूगो का 'पेरिस का कुबड़ा', 'हंचबैक ऑफ नात्रेदाम', गोर्की की 'मदर', अलेक्जेंण्डर कुप्रिन का 'गाड़ीवानों का कटरा' (यामा, दपिट) और सबसे मनोरंजक सर्वा रीज़ का 'विचित्र वीर' (यानी डान क्विक्जोट) आदि से भी यहीं मिला। हिन्दी के ही माध्यम से सारी दुनिया के कथा पात्रों से मुलाकात करना कितना आकर्षक था!

लाइब्रेरी खुलते ही पहुँच जाता और जब लाइब्रेरियन शुक्ल जी कहते कि बच्चा अब उठो, पुस्तकालय बन्द करना है तब बड़ी अनिच्छा से उठता। जिस दिन कोई उपन्यास अधूरा छूट जाता, उस दिन मन में कसक होती कि काश इतने पैसे होते कि सदस्य बनकर किताब ईश्यू करा लाता या काश इस किताब को खरीद पाता तो घर में रखता। एक बार पढ़ता, दो बार पढ़ता, बार-बार पढ़ता। पर जानता था कि यह सपना ही रहेगा। भला कैसे पूरा हो पायेगा।

पिता के देहावसान के बाद तो आर्थिक संकट इतना बढ़ गया कि पूछिये मत। फीस जुटाना तक मुश्किल था। अपने शौक की किताबें खरीदना तो सम्भव ही नहीं था। एक ट्रस्ट से, योग्य पर असहाय छात्रों की पाठ्य पुस्तकें खरीदने के लिए कुछ रुपये सत्र के आरम्भ में मिलते थे। उनसे प्रमुख पाठ्य पुस्तकें 'सेकेंड हैंड' खरीदता था, बाकी अपने सहपाठियों से लेकर पढ़ता और नोट्स बना लेता। उन दिनों परीक्षा के बाद छात्र अपनी पुरानी पाठ्य पुस्तकें आधे दाम में बेच देते और उसे कक्षा में आने वाले नये लेकिन विपन्न छात्र खरीद लेते। इसी तरह काम चलता।

लेकिन फिर भी मैंने जीवन में पहली साहित्यिक पुस्तक अपने पैसों से कैसे खरीदी, यह आज तक याद है।

उस साल इण्टरमीडिएट पास किया था। पुरानी पाठ्य पुस्तकें बेचकर बी॰ए॰ की पाठ्य पुस्तकें लेने एक सेकेंड हैंड बुक शॉप पर गया। उस बार जाने कैसे पाठ्य पुस्तकें खरीदकर भी दो रुपये बच गये थे। सामने के सिनेमाघर में 'देवदास' लगा था, न्यू थियेटर्स वाला। बहुत चर्चा थी उसकी। लेकिन मेरी माँ को सिनेमा देखना बिल्कुल नापसंद था। उसी से बच्चे बिगड़ते हैं, ऐसा उनका मानना था। लेकिन उसके गाने सिनेमा गृह के बाहर बजते थे। उसमें सहगल का एक गाना था 'दुख के दिन अब बीतत नाहीं' उसे अक्सर गुनगुनाता रहता था। कभी-कभी गुनगुनाते हुए आँखों में आँसू आ जाते थे, जाने क्यों। एक दिन माँ ने सुना। माँ का दिल तो आखिर माँ का दिल।

एक दिन बोली, 'दुख के दिन बीत जायेंगे बेटा, दिल इतना छोटा क्यों करता है, धीरज से काम ले।' जब उन्हें मालूम हुआ कि यह तो फिल्म 'देवदास' का गाना है, तो सिनेमा की घोर विरोधी माँ ने कहा, 'अपना मन क्यों मारता है, जाकर पिक्चर देख आ। पैसे मैं दे दूँगी।' मैंने माँ को बताया कि 'किताबें बेचकर दो रुपये मेरे पास बचे हैं।' वे दो रुपये लेकर माँ की सहमति से फिल्म देखने गया। पहला शो छूटने में देर थी, पास में अपनी परिचित किताब की दुकान थी। वहीं चक्कर लगाने लगा। सहसा देखा काउण्टर पर एक पुस्तक रखी है–'देवदास', लेखक शरतचंद्र चट्टोपाध्याय दाम केवल एक रुपया।

मैंने पुस्तक उठाकर उलटी-पलटी तो पुस्तक विक्रेता बोला–'तुम विद्यार्थी हो। यहीं अपनी पुस्तकें बेचते हो। हमारे पुराने ग्राहक हो। तुमसे अपना कमीशन नहीं लूँगा। केवल दस आने में यह किताब दे दूँगा।' मेरा मन पलट गया। कौन देखे डेढ़ रुपये में पिक्चर? दस आने में 'देवदास' खरीदी। जल्दी-जल्दी घर लौट आया और दो रुपये में से बचे एक रुपया छह आना माँ के हाथ में रख दिया।

'अरे तू लौट कैसे आया? पिक्चर नहीं देखी?' माँ ने पूछा।

'नहीं माँ! फिल्म नहीं देखी, यह किताब ले आया।' माँ की आँखों में आँसू आ गये। खुशी के थे, या दुख के यह नहीं मालूम। वह मेरे अपने पैसों से खरीदी, मेरी अपनी निजी लाइब्रेरी की पहली किताब थी।

□□□

जीवन और किताब

मनोहर श्याम जोशी

जो चीज़ जितनी दुर्लभ होती है उसका महत्व उतना ही अधिक होता है। इस दृष्टि से मैं सोचता हूँ कि किताब का महत्व तब कहीं अधिक था जब वे दुर्लभ हुआ करती थी। पोथी शब्द से तो आज भी ऐसा ही लगता है। मेरे बचपन के दिनों तक लोग-बाग हर किताब को आदर की वस्तु समझते थे। अगर उससे पांव लग जाए तो उसे उठाकर सिर-माथे से लगाते थे। पुस्तक फर्श पर गिरा देना, उसे पांव से छू लेना उसका निरादर माना जाता था। पुस्तक का लोगों के लिए पहले जैसा महत्व अब रह नहीं गया है। पहले पुस्तकें कम होती थीं और मनुष्य उन्हें बार-बार पढ़ता था। अक्सर उसे कंठस्थ भी हो जाती थी। अब पुस्तकें बड़े पैमाने पर लिखी और छापी जाती हैं। दूसरे, ज्ञान अब इतनी जल्दी बदलता रहता है कि पुस्तकें बासी पड़ जाती हैं या उनमें दी हुई जानकारी गलत हो सकती है।

आज किताब सहज उपलब्ध है, सर्वत्र उपलब्ध है उसे बेचने के लिए बड़ी-बड़ी दुकानें होती हैं, मेले लगते हैं और सीधे सदस्यों के घर किताबें भिजवाने वाले बुक बैंक हैं। लेकिन एक जमाना ऐसा था जब किताब या पुस्तक या बुक जैसा शब्द धार्मिक ग्रंथ को ध्वनित करता था। आज भी गुड बुक बाईबिल को ही कहा जाता है। इस्लाम में भी अहले-किताब की बात की जाती है। हमारे घरों में भी पहले पुस्तक का मतलब पूजा की किताब हुआ करता था। जब मैं छोटा था, तब भले ही किताब का मलतब धार्मिक चीज नहीं रह गया था, लेकिन उसका संबंध विद्या से जोड़ा जाता था। अब पहले जैसी स्थिति नहीं रही कि आप दादा-परदादा की पढ़ी हुई कोई किताब पढ़ रहे होते हैं और अपने बाप से उसके विषय में कुछ जान-समझ पा रहे होते हैं।

जो भी ज्ञान मानव को अंतदृष्टि देता है, वह व्यक्ति या समाज में परिवर्तन का वाहक बनता है। किताबें ज्ञान का भंडार होती हैं, इसलिए परिवर्तन में उनकी भूमिका असंदिग्ध है। सारे धर्म उनके सहारे फैले हैं। बड़ी-बड़ी सामाजिक क्रान्ति भी उन्होंने करवायी है। आधुनिक युग में मार्क्स की दास कैपिटल ने जो बड़ा परिवर्तन करावाया, जग जाहिर है। व्यक्ति के जीवन में भी पुस्तकें परिवर्तन लाती हैं। व्यक्ति पुस्तक से उपयोगी जानकारी हासिल करके अधिक योग्य और जीवनयापन के लायक बन पाता है। कोई कामकाज सिखाने या कोई भाषा सिखाने या हुनर सिखाने वाली पुस्तक बड़े पैमाने पर बिकती है। उसके पढ़ने से व्यक्तित्व का विकास-निखार भी हो पाता है–सिर्फ इसलिए नहीं कि पढ़ने वाले का ज्ञान बढ़ता है, बल्कि इसलिए भी कि पुस्तकों में व्यक्तित्व निखार के नुस्खे मिल जाते हैं। अमेरिका में भी व्यक्तित्व को आकर्षक बनाने के गुर सिखाने वाली मनोवैज्ञानिक पुस्तकों का अंबार लगा रहता है।

इस व्यक्तित्व परिवर्तन का एक आयाम यह है कि कभी कोई ऐसी पुस्तक आप पढ़ते हैं जो जीवन की दिशा भी बदल देती है। मेरे साथ ऐसा नहीं हुआ। मैं बहुत-सी पुस्तकों से प्रभावित हुआ, लेकिन ऐसा कभी नहीं हुआ कि पुस्तक से मेरे जीवन में कोई नाटकीय परिवर्तन आया हो। लेकिन मैंने ऐसे कुछ लोग देखे हैं, मेरे एक अत्यन्त मेधावी अग्रज तो महर्षि अरविंद का साहित्य पढ़कर सब कुछ छोड़-छाड़कर पांडिचेरी चले गये।

ऐसा बताया जाता है कि जर्मनी में 'वर्टर शो' पढ़ने के बाद आत्महत्या की महामारी सी फैल गयी थी। बहरहाल, मैं ऐसा समझता हूँ कि इधर पुस्तकों का लोगों पर वैसा प्रभाव नहीं रहा जैसा कि पहले हुआ करता था और इसके लिए टेलीविज़न या वेब को दोषी ठहराना ठीक नहीं। □□□

मैक्सिम गोर्की : किताबें पढ़ने के बारे में

डॉ. रणजीत

(गोर्की के प्रसिद्ध उपन्यास 'जीवन की राहों पर' से निम्नलिखित अंश डॉ. रणजीत ने प्रस्तुत किया है)

शनिवार के दिन कपड़े सुखाने के लिए जब मैं ऊपर अटारी में गया तो मुझे किताब का ध्यान हो आया। मैंने उसे बाहर निकाला, उसका कागज खोला और शुरू की पंक्ति पर नजर डाली:

"इंसानों की भाँति घरों की भी अपनी-अपनी शक्ल होती है।" इसकी सच्चाई ने मुझे स्तब्ध कर दिया। मैंने आगे पढ़ना शुरू किया और रोशनदान से सटा उस समय तक पढ़ता रहा जब तक कि ठंड के मारे वहाँ बैठे रहना असंभव न हो गया। सांझ को जब मेरे मालिक गिरजे चले गए तो पुस्तक के साथ मैंने रसोईघर में अड्डा जमाया और पतझड़ के पत्तों की भाँति पीले पड़े उसके जीर्ण पन्नों में इतना डूब गया कि कुछ सुध न रही। उन्होंने मुझे दूसरी ही दुनिया में पहुँचा दिया, नये नामों और नये नाते-रिश्तों की दुनिया में, एक ऐसी दुनिया में जिसमें नेक नायक भी थे और खलनायक भी—इस दुनिया के उन सभी लोगों से भिन्न जिन्हें मैं जानता-पहचानता और अपने चारों ओर देखता था। यह द-मौन्तेपिन का लिखा उपन्यास था। उनके सभी उपन्यासों की तरह वह भी लंबा और पात्रों और घटनाओं से भरे अजीब, द्रुत-प्रवाही जीवन का चित्र था। उपन्यास में हर चीज आश्चर्यजनक रूप से सीधी-सादी और स्पष्ट थी मानो पंक्तियों के पीछे कोई रोशनी छिपी हो जो हर बुरे और भले पहलू को उजागर करती, प्रेम और घृणा करने में मदद देती तथा एकजाल में घने फंसे लोगों के भाग्यों के उतार-चढ़ाव पर अपलक नजर रखने को बाध्य करती थी। कुछ पात्रों को सहारा देने के लिए जी ललक उठता; और कुछ के प्रति घृणा होती, जी चाहता कि उन्हें रोका जाए। यह भूल जाता कि यह सारा जीवन, जो इतने अप्रत्याशित रूप से आँखों के सामने प्रकट हुआ है, केवल पुस्तक के पन्नों तक ही सीमित है, कागज के पन्ने के बाहर उसका कोई अस्तित्व नहीं है। घटनाओं के उतार-चढ़ाव में सब कुछ भूल जाता, एक पन्ने पर हृदय खुशी से नाच उठता और दूसरे पर निराशा के बादल छा जाते।

पढ़ने में इस हद तक पूर्णतया डूब गया कि जब दरवाजे की घंटी बजी तो एकाएक मैं समझ नहीं सका कि उसे कौन बजा रहा है और किस लिए।

मोमबत्ती करीब-करीब सारी जल चुकी थी और मोमबत्ती दान में जिसे मैंने आज सुबह ही चमकाया था, पिघले हुए मोम की परत जमी थी। देव-प्रतिमा का दीया जिसे सदा चेतन रखना मेरा काम था, दीवट से खिसककर बुझ गया था। अपने अपराधों के चिन्हों को छिपाने के लिए मैंने रसोईघर में लपक-झपक शुरू की, किताब को मैंने अलावघर के नीचे खिसका दिया, और देव-प्रतिमा के दीये को ठीक करने लगा।

"बहरा हो गया क्या?" घंटी की आवाज सुनाई नहीं देती? कमरों से भागकर आते हुए आया चिल्लाई।

मैं सदर दरवाजे की ओर लपका।

"क्या सो रहा था?" मालिक ने कड़े स्वर में कहा। उसकी पत्नी मुश्किल से सीढ़ी पर चढ़ते हुए भी चिचियाई कि मेरी वजह से उसे ठंड ने जकड़ लिया है। बुढ़िया ने भी लगे हाथ डांटना-डपटना शुरू कर दिया। रसोईघर में पांव रखते ही जली हुई मोमबत्ती पर उसकी नजर पड़ी और वह पूछताछ करने लगी कि मैं क्या कर रहा था।

मैं चुप था, मानो कहीं ऊँचाई से गिर पड़ा हूँ और भय के मारे मेरी जान सूख गई कि किताब बुढ़िया के हाथों में पड़ जाएगी। और वह चिल्ला रही थी कि मैं एक दिन सारा घर जलाकर राख कर दूँगा। मेरा मालिक और उसकी पत्नी खाना खाने आए। बुढ़िया ने मेरी शिकायत की:

"देखो न, इसने सारी मोमबत्ती जला डाली। घर भी जला डालेगा..."

खाना खाते समय मुँह के साथ-साथ उनकी जुबान भी चलती रही और मुझे भला-बुरा कहने में उन्होंने कोई कसर नहीं छोड़ी। जाने-अनजाने मेरे सभी गुनाहों का उन्होंने जिक्र किया और मुझे चेताया कि मेरा अंजाम बुरा होगा। लेकिन मैं जानता था कि उनकी सारी डांट-फटकार के पीछे न तो कोई बुरी भावना है और न भली, बल्कि यह सब वे अपनी ऊब को डुबाने के लिए बोल रहे हैं। और यह देखकर मुझे बड़ा अजीब लगा कि पुस्तक के पात्रों के मुकाबले में वे कितने तुच्छ और कितने बेहूदा मालूम होते हैं।

खाना खाकर वे बोझिल हो गए और थके-थके सोने के लिए चल दिए। बूढ़ी मालकिन, झुंझलाहट भरी शिकायतों से कुछ देर तक भगवान की नाक में दम करने के बाद अलावघर पर चढ़कर चित्त हो गई। तब मैं उठा, अलावघर के नीचे से किताब निकाली और खिड़की के पास आया। उजली रात थी, आकाश में पूरा चाँद चमक रहा था, लेकिन पुस्तक के छोटे-छोटे अक्षरों को पढ़ना मुश्किल था। हृदय में पढ़ने की ललक इतनी जोरदार थी कि उसे दबा न सका। बरतनों के खाने में से मैंने ताँबे का एक पतीला निकाला और चाँद की किरणों का उस पर जो अक्स पड़ा, उससे पुस्तक के पन्नों को चमकाने की कोशिश की। लेकिन चमकाने के बजाय पन्ने और धुंधले दिखाई देने लगे। तब मैं कोने में रखी बेंच पर खड़ा हो गया और देव-प्रतिमा के दीये की रोशनी में पढ़ने लगा। जब थकान के मारे टांगे जवाब देने लगीं तो मैं वहीं बेंच पर पड़कर सो गया। बूढ़ी मालकिन की चिल्लाहट और घूंसों ने मुझे जगा दिया। केवल रात का गाउन पहने, नंगे पांव, वह वहाँ खड़ी गुस्से से तमतमा रहा था, मेरी पुस्तक अपने हाथ में लिए उसी से मेरे कंधों पर प्रहार कर रही थी, जिससे बड़ा दर्द होता था। अलावघर के बगल में बने सोने के तख्ते से वीक्तर हूक रहा था:

"ओहो, यह चिल्लाना बंद करो, माँ! जीना हराम कर रखा है..." मैं सोच रहा था कि अब किताब की खैर नहीं, बिना फाड़े बुढ़िया दम न लेगी।

सुबह चाय के समय मेरी पेशी हुई।

"यह किताब कहाँ से लाया?" मालिक ने कड़े स्वर में सवाल किया।

स्त्रियाँ एक-दूसरी को टोकते हुए चिल्ला रही थीं। वीक्तर शक में भरा पुस्तक के पन्ने सूंघ रहा था और कह रहा था:

"इसमें से तो इत्र की गंध आती है, खुदा की कसम..."

यह जानकर कि पुस्तक पादरी की है वे सब पुस्तक को उलट-पुलट कर देखने लगे और उपन्यास पढ़ने वाले पादरी पर झुंझलाहट तथा अचरज उतारने लगे। इससे उनका गुस्सा कुछ हल्का पड़ा, हालांकि मालिक मुझे फिर भी देर तक समझाता रहा कि पुस्तकें पढ़ना नुकसानदेह और खतरनाक है। बोला:

"यही किताबें पढ़ने वालों ने तो रेल की पटरियाँ उड़ा दीं, लोगों को मारना चाहते थे..."

तुंगेनेव को तो जैसे मैं एक सांस में पढ़ गया। उसके लिखने का ढंग अद्‌भुत था: एकदम सादगी के लिए, हर बात साफ-साफ समझ में आने लगी, शरद की हवा की भाँति स्वच्छ और पारदर्शी। ऐसे ही उसके पात्र थे—निर्मल और पवित्र। उसकी हर चीज, जिसे वह अत्यंत विनम्र भाव से प्रतिपादित करता, सुंदर थी—सुन्दर और अद्‌भुत। मैं पढ़ता और चकित रह जाता।

पुस्तकें पढ़ने की अपनी इस अचानक धुन के कारण क्या कुछ मुझे नहीं सहना पड़ा: अपमान के कड़वे घूंट मैंने पिये, हृदय में लगी चोटों से मैं कराह उठा। इस सबकी जब मैं याद करता हूँ तो दुख भी होता है और हँसी भी आती है।

कटर की पत्नी पुस्तकें बेहद कीमती लगती थीं, और इस भय से कि बूढ़ी मालकिन उन्हें जला डालेगी। मैंने उससे पुस्तकें लेने का ख्याल तक अपने दिमाग से निकाल दिया, और उस दुकान से जहाँ नाश्ते के लिए मैं पावरोटी खरीदने जाता था, चटख रंग की छोटी-छोटी पुस्तकें लाना शुरू कर दिया।

"स्त्रेत्सी", "यूरी मिलोस्लाव्स्की", "रहस्यमय सन्त" और "तातार घुड़सवार यापांचा"—ऐसी पुस्तकें मैं अधिक पसंद करता, कम से कम मेरे हृदय पर वे कुछ तो छाप छोड़तीं। लेकिन सबसे ज्यादा खुशी मुझे होती संतों की जीवनियां पढ़कर। इनमें गंभीरता होती, उनकी बातों पर यकीन करने को जी चाहता, और कभी-कभी तो वे हृदय में गहरी उथल-पुथल मचा देती। जाने क्यों, महान संतों के बारे में जब मैं पढ़ता तो मुझे 'बहुत कम' का ध्यान हो आता, स्त्री संतों के बारे में पढ़ता तो नानी का चित्र आँखों के सामने घूमने लगता और ऊँचे पादरियों के बारे में पढ़कर मुझे उन क्षणों की याद हो आती जिनमें कि नाना अपने श्रेष्ठतम रूप में दिखाई देते थे।

पुस्तकें पढ़ने के लिए मैं ऊपर अटारी की शरण लेता था फिर सायबान में उस समय पढ़ता जब मैं वहाँ लकड़ियाँ चीरने

इसने पुस्तकें पढ़ने की मेरी लगन को और भी तेज कर दिया। मुझे इसमें जरा भी संदेह नहीं था कि चाहे कोई संत ही क्यों न इस घर में चला आए, मेरे मालिक लोग उसे भी सबक पढ़ाना और उसे अपने मनचाहे सांचे में ढालना शुरू कर देंगे।

जाता। दोनों ही जगहें समान रूप से ठंडी और तकलीफदेह थी। कभी-कभी अगर पुस्तक खास तौर से दिलचस्प होती या किसी वजह से मैं खुद उसे जल्दी में खत्म करना चाहता तो मैं रात को उठ बैठता और मोमबत्ती की रोशनी में पढ़ता। लेकिन बूढ़ी मालकिन की नजरों से यह छिपा न रहा कि रात में मोमबत्तियों को लकड़ी की खपच्ची से नापती और खपच्ची को कहीं छिपाकर रख देती। इस खपच्ची को मैं अक्सर खोज निकालता और तोड़कर उसे भी जली हुई मोमबत्ती की लम्बाई का बना देता। जब कभी मैं ऐसा करने में चूक जाता और सुबह उठने पर वह देखती कि खपच्ची और मोमबत्ती की लम्बाई में अंतर है, तो रसोईघर में इस बुरी तरह शोर मचाती कि सारे घर को सिर पर उठा लेती। एक दिन उसकी आवाज सुनकर वीक्तर झुंझला उठा और उसने तख्ते पर से चिल्लाकर कहा:

"यह टाँय-टाँय बन्द करो माँ, जीना हराम कर रखा है। यह मोमबत्तियाँ जरूर जलाता है, न जलाए तो दुकान से लाई हुई पुस्तके कैसे पढ़ें। मुझे मालूम है। जरा अटारी पर जाकर देखो तो!"

बुढ़िया अटारी की ओर लपकी। एक पुस्तक उसके हाथ लगी जिसे उसने झीर-झीर कर दिया।

कहने की जरूरत नहीं कि यह एक आघात था, लेकिन इसने पुस्तकें पढ़ने की मेरी लगन को और भी तेज कर दिया। मुझे इसमें जरा भी संदेह नहीं था कि चाहे कोई संत ही क्यों न इस घर में चला आए, मेरे मालिक लोग उसे भी सबक पढ़ाना और उसे अपने मनचाहे सांचे में ढालना शुरू कर देंगे। और यह वे अपनी ऊब को डुबोने के लिए करेंगे। अगर उन्हें कभी चीखना-चिल्लाना, दूसरे लोगों पर फतवे कसना और उनका मजाक छोड़ देना पड़े तो वे गूंगे हो जाएँ, बोलने के लिए उनके पास कुछ न रहे और उन्हें अपने प्रति कोई रवैया अपनाए। मेरे मालिक लोग अन्य लोगों के प्रति केवल एक ही रवैया जानते थे– सिखाने वालों और निंदा करने वालों का रवैया। अगर कोई अपने आपको खुद उनके सांचे में ढालने की कोशिश करता तो वे इसके लिए भी उसे आड़े हाथों लेने से न चूकते। यह उनकी घुट्टी में मिला हुआ था।

पढ़ने के लिए मुझे नित्य नये पैंतरे बदलने पड़ते। बूढ़ी मालकिन कई बार मेरी पुस्तकें फाड़ चुकी थी और अचानक मैं दुकानदार का कर्जदार हो गया–पूरे सैंतालीस कोपेक की भारी रकम का बोझ मेरे सिर पर लदा था। दुकानदार तुरंत अदायगी के लिए तकाजा करता और धमकी देता कि पावरोटी खरीदने के लिए जब मैं मालिकों के पैसे लेकर आऊँगा तो वह उनमें से काट लेगा।

पलंग के नीचे पड़े साहित्य ने मेरा एक बड़ा काम किया इन पत्रिकाओं को रसोईघर में ले जाने और उन्हें रात को पढ़ने का अधिकार मैंने जीत लिया।

मेरे सौभाग्य से बुढ़िया बच्चों के कमरे में अपना बिस्तर लगाने लगी–आया ने रात-दिन पीना शुरू कर दिया था। वीक्तर को मेरे पढ़ने न पढ़ने की कोई चिन्ता नहीं थी। जब सब सो जाते तो वह चुपचाप कपड़े पहनता और सज-धजकर सुबह तक के लिए बाहर खिसक जाता। मोमबत्ती मुझे नहीं दी जाती, उसे अपने साथ दूसरे कमरे में ले जाया जाता और मैं बिना रोशनी के रह जाता। मोमबत्ती खरीद लाने के लिए मेरे पास पैसे नहीं थे। तब मैं मोमबत्तियों के पिघले हुए मोम को चुपचाप बटोरने लगा और उसे एक खाली टीन की डिबिया में जमा कर देता। मोम के ऊपर देव-प्रतिमा के दीये में से कुछ तेल भी डाल लेता। फिर धागों को बटकर एक बत्ती बनाता और इस तरह तैयार किए अपने लैम्प को, जो रोशनी से अधिक धुँआ देता था, अलावघर के ऊपर जमा देता।

भारी-भरकम जिल्दों के पन्नों को जब मैं पलटता तो लैम्प की नन्हीं लाल लौ काँपने और दम तोड़ने लगती। बत्ती बार-बार खिसकर पिघले हुए, सुगंध भरे तरल मोम में डूबने लगती, और धुएँ से मेरी आँखें कडुवा उठतीं। लेकिन ये सब झंझट-बाधाएँ उस आनंद में डूब जाती जिसके साथ मैं तस्वीरों को देखता और नीचे छपे परिचयों को पढ़ता।

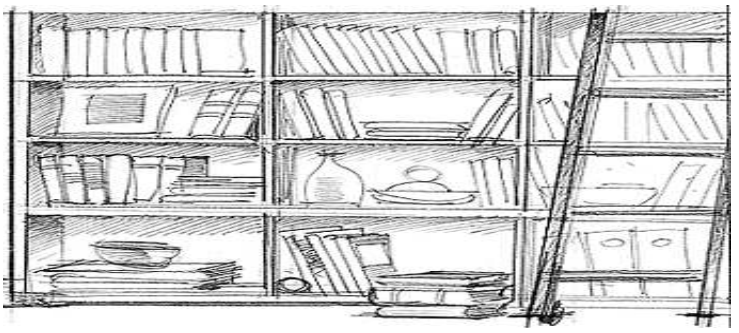

ये चित्र मेरे सामने दुनिया को फैलाते और बढ़ाते जा रहे थे। उन्होंने उसे अद्‌भुत नगरों, गगनचुम्बी पहाड़ों और सुंदर समुद्र तटों से सजा दिया। जीवन में एक सुंदर फैलाव आ रहा था। भाँति-भाँति के नगरों, लोगों और काम-धंधों की बहुलता धरती को और भी आकर्षक बना देती, यह मुझे और भी रंग-बिरंगी मालूम होती। अब वोल्गा के उस पार के विस्तारों को देखते हुए मैं जानता था कि उनमें निरा सूनापन नहीं है। पहले इन विस्तारों को जब मैं देखता था तो अदबदाकर उदास हो उठता था: अन्तहीन सपाट चारागाहें, काले धब्बों सी इक्की-दुक्की झाड़ियाँ, चारागाहों से परे जंगल की कटी-फटी सी दीवार, चारागाहों के ऊपर धुंधली सी ठंडी नीलिमा। सूनी और उदास धरती। मेरा हृदय भी सूना हो जाता। एक कोमल उदासी उसे मथती, सभी अरमान मुरझा जाते, सोचने के लिए कुछ बाकी न रहता, आँखें मूंद लेने को जी चाहता। वीरानी का यह आलम, हृदय की हर आकांक्षा को सोख लेता, आशा उसके स्पर्श से बेजान हो जाती।

चित्रों के नीचे लिखे मजमूनों ने सीधी-सादी भाषा में दूसरे देशों और दूसरे लोगों से मेरा परिचय कराया, अतीत और वर्तमान की बहुत सी घटनाओं के बारे मे बताया जिनमें से कई मेरी समझ में न आती, और इससे मेरा हृदय कचोट उठता। कभी-कभी तीर की भाँति, कुछ विचित्र शब्द मेरे दिमाग से आकर टकराते: 'अधितात्विकी', 'विलियज्म', 'चार्टिस्ट' आदि। ये शब्द मेरे जी का जंजाल बन जाते और मेरे दिमाग में घुसकर इतना फैलते-बढ़ते कि उनके सिवा और कुछ सुझाई न देता, और मुझे ऐसा लगता कि इन शब्दों के अर्थ का पता लगाए बिना मेरी समझ में कभी कुछ नहीं आएगा, मानों ये शब्द प्रहरियों की भाँति सभी रहस्यों के द्वार पर खड़े हों। बहुधा, समूचे के समूचे वाक्य मेरे दिमाग में अटककर रह जाते, मांस में घुसी फांस की भाँति खटकते और मेरे लिए अन्य किसी ओर ध्यान लगाना असंभव कर देते।

एक दिन मैंने अजीब पंक्तियाँ पढ़ी:

पहने हुए इस्पाती जामा
काला और मौत सा गंभीर,
हूणों का सरगना अतीला
रौंद रहा रेगिस्तानों को।

उसके पीछे उसके योद्धा, काली घटा की भाँति, उमड़-उमड़कर गरज रहे थे:

कहाँ है रोम,
कहाँ है शक्तिशाली रोम?

यह तो मैं जानता था कि रोम एक नगर है, लेकिन ये हूण कौन थे? मुझे अब इस रहस्य का उद्‌घाटन करना था।

अनुकूल अवसर देख मैंने अपने मालिक से पूछा।

"हूण?" उसने कुछ अचरज से कहा। "शैतान ही जानता है कि यह क्या है? होगी ऐसी ही कोई बकवास..."

फिर उसने नाराज़ी के भाव से सिर हिलाया:

"पेशकोव, दुनिया भर का कबाड़ तूने अपने दिमाग में जमा कर लिया है, यह बहुत बुरा है।"

बुरा हो चाहे भला, मुझे तो इसका पता लगाना ही था।

मैंने अंदाज लगाया कि हो न हो, फौज के पादरी सोलोव्योव

पुस्तकें मुझे एक दूसरी दुनिया
की सैर करातीं, जिसमें
आशा-आकांक्षाओं का सागर
हिलोरें लेता... उनकी पुस्तकों को
मैं दो-दो और तीन-तीन बार पढ़ता
और हर बार खुशी से छलछला
उठता। वाल्टर स्काट की पुस्तकें
पढ़कर छुट्टी या उत्सव के दिन
किसी शानदार गिरजे में प्रार्थना
याद हो आती।

को जरूर मालूम होगा कि हूण कौन थे। अहाते में मुठभेड़ होने पर मैंने उसके सामने अपना मसला पेश कर दिया।

यह एक मरियल सा आदमी था: पीले रंग का, रोगी और सदा चिड़चिड़ा। उसकी आँखें लाल थी, भौंहें नदारद और छोटी सी पीली दाढ़ी।

"तुझे हूणों से क्या लेना?" अपनी काली लाठी को धूल में धंसाते हुए उसने उल्टे मुझे ही कुरेदा।

लेफ्टिनेंट नेस्तेरोव के सामने जब मैंने अपना सवाल रखा तो वह जोरों से चिल्लाया:

"क्या-आ-आ?"

तब मैंने दवाफ़रोश से पूछने का निश्चय किया। वह काफी मिलनसार मालूम होता था। समझदार चेहरा, भारी-भरकम नाक जिस पर सुनहरा चश्मा चढ़ा हुआ था।

"हूण", दवाफ़रोश पावेल गोल्डबर्ग ने मुझसे कहा, "किरगिज़ों की भाँति खानाबदोश जाति के लोग थे। अब वे नहीं हैं–सब के सब मर-खप गए।"

मुझे बड़ी निराशा हुई और झुंझलाहट ने मुझे घेर लिया, इसलिए नहीं कि हूण मर-खपकर लोप हो गए थे, बल्कि इसलिए कि जिस शब्द ने मुझे इतना सताया, उसका अर्थ इतना साधारण और मेरे लिए इतना बेकार सिद्ध हुआ।

फिर भी हूणों का मैं बेहद कृतज्ञ था। उन्हें लेकर इतनी परेशानियों में से गुजरने के बाद शब्द मुझे कम सताने लगे। और भला हो अतीला का, उसकी वजह से दवाफ़रोश से मेरी जान-पहचान हो गई।

भारी-भकरम और पण्डिताऊ शब्दों का सीधा-सादा अर्थ उसे मालूम था और हर रहस्य की कुंजी उसके पास थी। हाथ की दो उंगलियों से वह अपने चश्मे को ठीक करता और मोटे शीशे के भीतर से घूरकर मेरी तरफ आँखों में देखता और इस तरह बोलना शुरू करता मानो अपने शब्दों को, कीलों की भाँति, वह मेरे दिमाग में ठोंक रहा हो:

"शब्द, मेरे मित्र, उसी तरह होते हैं जैसे पेड़ में पत्ते, और यह जानने के लिए कि पत्तों का रूप-रंग ऐसा ही क्यों है, किसी दूसरे प्रकार का क्यों नहीं, यह जानना जरूरी है कि पेड़ किस प्रकार बढ़ता-पनपता है, अध्ययन करना चाहिए। पुस्तकें, मेरे मित्र, एक सुन्दर बाग के समान हैं, जिसमें तुम्हें हर वह चीज़ मिलेगी, जो सुहावनी और लाभदायक है..."

बड़े-बूढ़ों के वास्ते सोडा और मैगनीसिया लाने जिन्हें हमेशा पेट और छाती में जलन की शिकायत रहती थी, और छोटों के वास्ते लारेल का मरहम तथा अन्य छोटी-मोटी दवाइयाँ लाने मुझे अक्सर दवाफ़रोश की दुकान के चक्कर लगाने पड़ते। दवाफ़रोश की नपी-तुली सीखों की बदौलत पुस्तकों के साथ मेरा लगाव और भी गहरा हो गया और अनजाने में वे मेरे लिए उतनी ही अनिवार्य हो उठीं जितनी कि एक शराबी के लिए वोद्का।

पुस्तकें मुझे एक दूसरी दुनिया की सैर करातीं, जिसमें आशा-आकांक्षाओं का सागर हिलोरें लेता, उसके भंवर में पड़कर लोग भले से भले और बुरे से बुरे काम करते। लेकिन जिस तरह के लोगों को मैं अपने चारों ओर देखता था, उनमें न भले काम करने की ताकत थी, न बुरे। किताबों में जो कुछ लिखा था, उससे सर्वथा भिन्न-एकदम अलग जीवन वे बिताते थे, और उनके इस जीवन में खोजने पर भी कोई दिलचस्प चीज नज़र नहीं आती थी। जो हो, एक चीज़ मेरे दिमाग में साफ़ थी–वह यह कि मैं वैसा जीवन बिताना चाहता था, जैसा कि वे बिताते थे...।

डिकेन्स और वाल्टर स्काट के उपन्यास मैं बड़े चाव से पढ़ता। उनकी पुस्तकों को मैं दो-दो और तीन-तीन बार पढ़ता और हर बार खुशी से छलछला उठता। वाल्टर स्काट की पुस्तकें पढ़कर छुट्टी या उत्सव के दिन किसी शानदार गिरजे में प्रार्थना याद हो आती। प्रार्थना जरूर कुछ लम्बी और उकता देने वाली मालूम होती, लेकिन गिरजे का वातावरण सदा छुट्टी या उत्सव के उछाह में डूबा रहता। और डिकेन्स के प्रति मेरा गहरा लगाव तो आज दिन तक बना है, जब भी उसे पढ़ता हूँ, मुग्ध हो उठता हूँ। वह एक ऐसा लेखक था जो कठिनतम कला में–लोगों से प्रेम करने की कला में–अत्यंत दक्ष था।

□□□

किताबें मेरी विरासत

चित्रा मुद्गल

पुस्तकों से जो मेरा नाता जुड़ा, वो पाठ्य पुस्तक ही सबसे पहले थी। इसके अतिरिक्त कल्याण पत्रिका, रामायण, भागवत कथाएँ, कथासरित्सागर आदि से भी मेरा परिचय हुआ। एक बार मैंने अपनी दादी से प्रश्न किया था कि भगवद्गीता तो सब पढ़ते हैं, महाभारत क्यों नहीं है घर में। दादी ने कहा था कि भगवद्गीता घर में है, तुम उसको नहाकर रामायण घर (घर का पूजा-स्थान) में पढ़ सकती हो और रात को मुझसे रामायण सुन भी सकती हो। लेकिन अभी तुम छोटी हो 'गीता' समझ नहीं आएगी। रामायण पढ़ने से दिलचस्पी बढ़ती है क्योंकि कौटुम्बी कथाएँ पाठ्यपुस्तकों के अलावा भी होती हैं। मुझे पढ़ने की दिलचस्पी गाँव वाले घर में 'कल्याण', 'धर्मयुग' जैसी पत्रिकाओं को पढ़ने से हुई।

मुझे याद है, मैं तब तीसरी क्लास में पढ़ती थी हमारे घर में 'स्वदेश' अखबार आता था। अखबार भी बड़े मशक्कत से गाँव पहुँचता था। सुबह की बस जो उन्नाव धनुखेड़े पर रुकती थी। जो लोग मंगवाते थे हमारे घर से हरकारा जाता था वो ले आता था। सुबह का अखबार तीसरे दिन चौपाल बैठक के बाद घर में आता था। हमारी दादी वैसे समझती थी कि 'धर्मयुग' 'कल्याण' जैसी पत्रिका आनी चाहिए। डॉ॰ बजरंग सिंह का घर, पांच दिन का 'बाल-पन्ना', कहानी, बीच वाला पेज, इतवार को महिलाओं का पन्ना खास होता था। नाऊन आती थी तो दादी कहती कि उसे पुराना अखबार दे दो, इमलीतर देना है। उस समय की साधारण पढ़ी-लिखी महिलाएँ समझती थी कि पत्र-पत्रिका घर में जरूरी है।

पुस्तक संस्कृति के बारे में सोचती हूँ कि दादी घर की पुरानी पत्र-पत्रिकाओं को भी व्यर्थ नहीं समझती थी। अखबार का इंतज़ार करते उनकी वह छवि मेरे जेहन में ताजी है। गाँव में पढ़ी-लिखी बहू है तो 'गीता' मंगाती थी। जब मैं चौथे दर्जे में आई तब मुम्बई चली गई। गरमी की छुट्टी में मैंने दादी को प्रेमचंद की किताबें पढ़ते भी देखा। हमारे गाँव में उन दिनों बहुत-सी बंदिशें थीं, लड़कियाँ चाहकर भी स्कूल नहीं जा पाती थी। मुझे लगता है कि आज भी गाँव में पुराने अखबार और पत्रिकाओं का बहुत महत्व है। वैसे तो अब काफी बदलाव आया है, लड़कियाँ शहर पढ़ने जा रही हैं। उन्हें पुस्तकें मुहैया करवाई जानी चाहिए, भले ही वो कोर्स की किताबें हों। दादी जीवन के मूल्य समझाना चाहती थी, अनकहे ही। शायद, उनका तात्पर्य रहा होगा कि पुस्तकें पढ़कर हम विवेक, चेतना, निष्ठा को विकसित करें। नैतिक चेतना परस्परता के सामाजिक भाव को विकसित करें, मैं ये सन् 1952-53 की

बात कर रही हूँ। दादी 'सरस्वती' पत्रिका भी मंगवाती थीं। पता नहीं घर पर कैसे आती थी? मैंने पुस्तक संस्कृति को छोटी उम्र में देखना आरंभ कर दिया था। उस समय पत्रिकाएं-किताबें मंगवाना एक चुनौती थी। मुझे लगता है कि इतने वर्षों के बाद अब पुस्तकों का हीरक वर्ष होना चाहिए। देश में शिक्षा के प्रचार-प्रसार का प्रतिशत निरंतर बढ़ता जा रहा है। इसलिए दिनों-दिन पुस्तक संस्कृति का विकास होना चाहिए। पुस्तक संस्कृति ही मनुष्य को घर-बाहर, मोहल्ले, जनपद, कस्बे, देश और समाज के साथ जोड़ती है। देश-समाज के संस्कार का निर्माण पुस्तक ही करती है कि देश को कैसे देखना है?

पुस्तकें ही मन-स्थिति को भूंमडलीकरण से जोड़ती हैं। जब मैं ऐसा कहती हूँ तो उस जमाने की बात करती हूँ जब भूमंडलीकरण किताबों के जरिए संभव हुआ था। 1962-63 की बात है, उस वक्त रूस के बड़े-बड़े लेखकों की किताबें दो रुपये या तीन रुपये में मिल जाती थी। 'गोर्की' की लिखी किताब 'माँ' को मैंने सवा दो रुपये में खरीदकर पढ़ा था। पुस्तक संस्कृति ने क्रांति को जन्म दिया था। लियो टॉलस्टॉय की किताब को पढ़कर मैंने जाना था कि रूस नाम का देश है, उसका नक्शा कैसा था, वहाँ की जलवायु ठंडी थी। स्कूल के दिनों में मैंने भूगोल पढ़ा था और इतिहास में कॉलेज में जारशाही के खिलाफ पढ़ा था। रूस का आम समाज या आदमी कैसे जीते थे, ये पढ़ा। रूस अमानवीयता और बर्बरता की त्रासदियों से कैसे गुजरा था, यह सब किताबों से जाना था। यह सारा मैंने अपने समाज और देश में रहते हुए जाना। आज इंटरनेट है, पर वह सीमित जानकारी देता है। मानवीय उद्वेग, संघर्ष की गाथा से अगर कोई चीज परिचित करवाती है तो वह किताब है। वह उन परिस्थितियों के बीच में लाकर आपको खड़ा कर देती है। उनकी यंत्रणा में आपकी साझेदारी संभव हो पाती है और अचानक आपको लगने लगता है कि देश-काल की भौगोलिक सीमाएँ तोड़कर के उन समाजों की संस्कृति और संघर्ष के हिस्से हो रहे हों। ये पुस्तक क्रांति ही संभव कर पाई थी। हम तो बहुत पहले ग्लोबलाइज हो गए थे। उस ग्लोबलाइजेशन में बाजार कहीं नहीं था। पुस्तक संस्कृति का एक जो प्रभाव आपके मानस पर पड़ता है वह आपकी जागरूकता और दृष्टि के पट पर पड़ता है कि लेखक किस तरह से अपना संसार रच रहा है। वह पुस्तक को देशजता की संवेदना से निकालकर वैश्विक संवेदना से जोड़ देता है। वे बेहतर मनुष्य और बेहतर समाज की निर्मिति में सहायक हो सकते हैं, अनुशासित दृष्टि संपन्न नागरिक रूप में, आज पुस्तक संसार में बाजारीकृत चकाचौंध, इलेक्ट्रॉनिक चकाचौंध आई है।

मेरे मुताबिक यह इलेक्ट्रॉनिक क्रांति सम्मत एक उपलब्धि है। लेकिन, यह उपलब्धि सिर्फ जानकारी तक सीमित है और ई-बुक्स को मैं पर्स में लेकर घूमती हुई चली आई हूँ। पर उस यंत्र यानी कम्प्यूटर के साथ बैठकर ही आप उसे पढ़ सकती हैं। ई-बुक के बरक्स मैं ओम थानवीजी की किताब 'मुअनजोदड़ो' लेकर गई थी, वह हजारों मील की हवाई यात्रा के दौरान पढ़ डाली। यह पुस्तक संस्कृति की सहूलियत है। इसे गहरे से समझना होगा। इलेक्ट्रॉनिक मशीन की लगातार उपादेयता के मध्य खड़े होकर बहुत से नए आविष्कार हुए हैं और आगे भी होते रहेंगे। हम इक्कीसवीं सदी में खड़े हैं, जो वैज्ञानिक उपलिब्धयों से अटी हुई है। उसके द्वारा निश्चय ही कुछ चामत्कारिक उपलब्धियाँ हमें चमत्कृत करने के लिए हैं। अभी हमने इंटरनेट पर एक संदेश सात समंदर पार भेजने के लिए टंकित किया और पता चला कि दस मिनट के अंदर वहाँ से जवाब भी मिल रहा है। किंतु, इन सारी सुविधाओं के बावजूद वो हमारे सूचना-तंत्र को लगातार नई गति देती चल रही है। जीवन में उनकी महत्वपूर्ण भूमिका होने के बावजूद वो पुस्तकों का विकल्प नहीं साबित हो सकती है। भले उसके नए-नए प्रारूप आ गए हैं-लैपटॉप, हैंडी लैपटॉप, टैबलेट आदि-आदि। इससे इंकार नहीं कर सकते कि इन सुविधाओं ने व्यक्ति को इस कदर चिपकाया है कि वह दुनिया से जुड़ रहा है लेकिन, मानवीय संवदेना की क्षति हो रही है। वह अपनी जमीन, अपनी माटी की गंध और

उसकी संस्कार-संस्कृति से उखड़ रहा है। मुझे लगता है और पता नहीं कि ये दौड़, ये अंधी दौड़ जो हमारे लिए बहुत उपयोगी है लेकिन प्राकृतिक संसाधनों के दोहन के साथ जुड़ी है और जिस दिन हमारे प्राकृतिक संसाधन समाप्ति की ओर होंगे और हम इन सुविधाओं के आदी होकर नए प्राकृतिक संसाधन की तलाश करेंगे, तब क्या होगा, यह प्रश्न द्वंद्व पैदा करता है। जब बिजली ही नहीं रहेगी तो भूमंडलीकरण का सबसे बड़ा आधार इंटरनेट हमारे लिए कितना उपयोगी रहेगा। मैं तो आज भी सलाद काटने का कटर का इस्तेमाल नहीं करती, मैं वही पुरानी छुरी निकालती हूँ। जब भी मैं उस उपकरण को निकालती हूँ बिजली नदारद रहती है। इलेक्ट्रॉनिक चकाचौंध में व्यक्ति डूबा हुआ है। ज्ञान-विज्ञान और परस्परता का सबसे बड़ा साधन इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों को वह सब कुछ और सर्वोपरि समझ रहा है। हमें यह समझना जरूरी है कि पुस्तक हमारे घर में हमारे द्वार पर एक बार की कीमत लेकर आती है। जबकि, इलेक्ट्रॉनिक मशीन का बिल निरंतरता में आता रहता है। मैं अपने घर के पास बसे चिल्ला गाँव की महिलाओं को आक्रांत देखती हूँ। उनमें एक असंतोष नजर आता है, पड़ोसी से भौतिक प्रतिस्पर्धा और प्रतिद्वंद्विता है। मैं उनके संस्कार से बहुत ज्यादा चकित और हतप्रभ हूँ, जो इलेक्ट्रॉनिक मशीनों की देन है। उनके बीच, मैं अपनी दादी को ढूँढती हूँ। दादी की नवरस से लड़ने की ताकत नहीं बढ़ रही है। बुराइयों से लड़ने की शक्ति का क्षरण होता जाएगा।

पुस्तक संस्कृति समाज में दिन-प्रतिदिन घट रही है। ऐसा समाज विकसित होकर भी, वैज्ञानिक उपलब्धियों से सम्पन्न होकर भी एक आडंबरपूर्ण, खोखला और असंस्कारित समाज बनकर रह जाता है। यह समाज बंद, दायरों में सीमित और संवेदनाहीन, संकीर्ण हो जाता है। अभी भी वक्त नहीं गया है, हमारी सरकार को चाहिए कि देश की व्यवस्था, अराजकता, अन्याय, संकीर्णता, जातिगत विद्वेष से बचकर रहे तो उसे पुस्तक संस्कृति के विकास को अपने सबसे बड़े एजेंडे के रूप में सुनिश्चित करना चाहिए। यह देखना उसके लिए बहुत जरूरी है कि शिक्षा के प्रचार-प्रसार के साथ पुस्तक संस्कृति के प्रचार-प्रसार को भी वो समानांतर आगे बढ़ाए। सिर्फ, साहित्य जगत के प्रचार-प्रसार को महत्व देने का आडंबर वो न रचे कि हमने तो हर प्रदेश में हर भाषा की अकादमियाँ स्थापित कर दी हैं। पुस्तकों के प्रकाशनों और उनकी खरीद और उन्हें वाचनालयों तक पहुँचाने तक सीमित न कर दें। सरकार व प्रशासन को भी शायद, मालूम होगा कि वो भ्रष्टाचार के केन्द्र बन चुके हैं। सरकार को समझना चाहिए कि अब स्थिति बिगड़ गई तो संभालना मुश्किल होगा। ऐसी स्थिति में 'प्यासा अपनी प्यास को मारकर कुँए के पास खुद आए' इस मुहावरे को बदलकर कुँए को प्यासे के पास जाना

आज जो युवा पीढ़ी पर अपने बुजुर्गों के प्रति उपेक्षित रवैया रखने का मुद्दा उठ रहा है उससे मुठभेड़ करने का एक ही विकल्प हमारे सामने है कि हम उन्हें पुस्तकों से जोड़ें।

जरूरी है। नेशनल बुक ट्रस्ट को साधन संपन्न बनाया जाए कि ट्रस्ट पुस्तक मेले के जरिए ही पुस्तकों का प्रचार न करे, बल्कि किसी भी प्रदेश या जनपद में जो इसकी स्थानीय या क्षेत्रीय इकाइयाँ हैं, उनको समृद्ध करने की जरूरत है। उनको पुस्तक वाहन उपलब्ध कराना चाहिए ताकि वो ग्रामीण इलाकों में जाकर ग्रामीण अभिभावकों को इस बात के लिए प्रेरित करें कि वो नि:संकोच अपने बच्चें के लिए अपनी सीमित आय के बावजूद सस्ते दामों की ऐसी पुस्तकें खरीद सकते हैं, जो उन्हें बेहतर युवा बनाने में ही योगदान न देती हो, उन्हें समाज की रूढ़ियों, अंध-विश्वासों, व्यवस्थागत गड़बड़ियों के प्रति अपने परिवेश को समझने के प्रति सचेत और जागरूक कर सकें। साथ ही, उनकी चेतना और कल्पनाशक्ति को इतना तराश सकें कि वो अपने समय की जटिल तहों में झांकने की दृष्टि पैदा कर सकें और सही मायनों में भूमंडलीकरण की सही परिभाषा से जुड़ सकें। क्योंकि वो पाएंगे कि निश्चित ही यह बात उन माता-पिता को जल्दी समझ में आ जाएगी कि पुस्तक संस्कृति बच्चों को जिस गहरी संवेदना से मंडित करेगी वो उनकी परेशानियों और अभावों को समझने में समर्थ हो सकेंगे। आज जो युवा पीढ़ी पर अपने बुजुर्गों के प्रति उपेक्षित रवैया रखने का मुद्दा उठ रहा है उससे मुठभेड़ करने का एक ही विकल्प हमारे सामने है कि हम उन्हें पुस्तकों से जोड़ें। वो अपने जीवन में पुस्तकों की अनिवार्यता को सघनता से अनुभव करें और मानकर चलें कि घर की देहरी के भीतर माँ बच्चों को संस्कारित करती है और घर के बाहर पुस्तकें। पुस्तकें हमारी मानस जननी हैं।

□□□

सांस्कृतिक स्रोत हैं किताबें

हरिवंश

हमारी संस्कृति समेकित संस्कृति है, जिसमें तमाम भारतीय भाषाओं की हिस्सेदारी है। पुस्तक संस्कृति भी उसी का प्रतिबिंब रूप है। हिन्दी इलाकों में पुस्तक संस्कृति ही नहीं तमाम सांस्कृतिक परिवेश में टूटन के बाद, जिस तरह के नए मूल्य आए हैं, उसका बुरा प्रभाव स्कूली बच्चों और युवा पीढ़ी पर पड़ रहा है। सच तो यह है कि हम अपनी मूल संस्कृति से दूर चले गए हैं। समय के टूटने के लक्षण हैं। हमारा समय था, जब हम गाँव के स्कूल में पढ़ते थे, शाम को रामायण-महाभारत की कहानी बड़े लोगों से सुनते थे। कबीर, नानक, रसखान, बिहारी की रचनाएँ लोग बैठकर, ऐसे ही गाते थे। इससे समाज में, लोगों में जुड़ाव था। आज क्या बड़े स्तर पर और क्या छोटे स्तर पर सब जगह टूटन है।

भारतीय युवक की सोच सिर्फ अच्छी नौकरी पाने तक रह गई है। आज के युवा किस हद तक परेशान हैं वो मानते हैं कि न मैं यहाँ का हूँ और न पश्चिम का ही हूँ। आज पूरी दुनिया में आर्थिक विकास का पैमाना जी॰डी॰पी॰ को माना जा रहा है। आपकी खुशहाली का पैमाना जी॰डी॰पी॰ से नहीं मापा जा सकता है। अब ग्रोथ ऑफ हैप्पीनेस को पश्चिम में जी॰डी॰पी॰ का आधार बनाया जा रहा है। विश्वभर में भूटान के लोग सबसे सुखी माने जा रहे हैं, अपनी संस्कृति, भाषा, पुराने स्वरूप को कायम रखे हुए हैं। पश्चिम में सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था है। युवाओं को सामाजिक सुरक्षा के तौर पर बेरोजगारी भत्ता दिया जाता है। हमारे लिए सामाजिक संकट दुख का कारण है।

दरअसल सन् 1991 ई॰ में उदारीकरण का सिलसिला शुरू हुआ। इसका एक कड़वा सच है कि बाजार और करुणा के बीच रिश्ता नहीं हो सकता। आर्थिक उदारीकरण अधिक-से-अधिक लाभ कमाने के लिए संवेदनशीलता, मानवता, करुणा को हाशिये पर रखता है। बड़े पैमाने पर कारखानों में संकट बढ़ता है तो मजदूरों को हटा दिया जाता है। बाजार को पश्चिम से जोड़ने की कवायद चल रही है। पहले यहाँ मिश्रित आर्थिक व्यवस्था थी, वो लगभग दम तोड़ती नजर आ रही है। इसका ताजा उदाहरण है किंगफिशर का बंद होना। एयर इंडिया बाजारवाद का शिकार होने की कगार पर है। बाजारवाद का गहरा अवगुण है कि मानव संबंध को भी फायदे पर तौलता है। सन् 1991 से ही हमारे मीडिया में व्यापक परिवर्तन आया। अब पेज-थ्री कल्चर का चलन समाज में शुरू हुआ। जहाँ खुले आम लोगों के व्यक्तिगत या निजी समारोहों की खबरें और तस्वीरें छापी जाने लगी। अखबारों में विज्ञापनदाताओं के लिए होड़ मची। अखबार अपने कन्टेंट बेचने लगे। इससे पाठकों के प्रति उनकी साख गिरी और ईमानदारी से कहा जाए तो यह जनता और आम-आदमी को धोखा देने जैसा है। हमारे समाज में बड़ा चौंकाने वाला बदलाव टी॰वी॰ के जरिये आया है। मीडिया में हत्या, बलात्कार जैसे घृणित खबरें परोसी जाने लगी, जो समाज के टूटने का, बिखराव का संकेत देती रही। लेकिन, हमें समझ नहीं आ रहा है कि हम किस त्रासदी की ओर बढ़ रहे हैं। अश्लील और आइटम गीतों का चलन आम होने लगा है जिसमें 'डर्टी' फिल्म जैसी फिल्में सफल मानी जाने लगी हैं। छोटी-छोटी बच्चियाँ रियलिटी-शो में बिकनी पहनकर नाच रही हैं। इस अप-संस्कृति के दौर में पुस्तक संस्कृति की कल्पना करना कितना मुश्किल है। ऐसे माहौल में रसखान, जायसी, बिहारी, सहीना की बात करना या सुदर्शन की रचना 'हार की जीत' जैसी नैतिक असर वाली कहानी की बात करना अब बहुत

बड़ी बात है। हम बचपन में अंत्याक्षरी के दौरान कवियों की कविताओं, दोहों का प्रयोग करते थे, आज फिल्मी गीतों से खेलते हैं। इतना ही नहीं, टी॰वी॰ सीरियल परिवार के टूटने, हिंसा, अवैध-संबंध, अविश्वास से भरे होते हैं। हमें समाज को बेहतर बनाने के लिए कुछ करना चाहिए। दक्षिण अफ्रीका में 'सेव दी फैमिली नाऊ' अभियान चलाया जा रहा है, जिसका मकसद है तलाक की दर को घटाना। अफ्रीका के मूल निवासियों में तलाक की दर पच्चीस फीसदी कम हुई है। इसके अलावा, वहाँ किशोरियों की गर्भधारण की घटना, हिंसा, एच॰आई॰वी॰ संक्रमण को कम करना, स्कूल छोड़ने वाले बच्चों को रोकना, वृद्धों की सुरक्षा आदि पर ध्यान देना है ताकि उनकी संस्कृति अपने जड़ से नष्ट न हो। ऐसी कोशिश हमें भी करनी चाहिए, क्योंकि हम भी संक्रमण से गुजर रहे हैं। इसमें पुस्तकों का योगदान महत्वपूर्ण होगा, क्योंकि किताबें ही आपको विवेकवान और सामाजिक बनाती हैं।

आज किताबें बिक रही हैं, पर दूसरी तरह की महँगी किताबें फैशन, सजावट या दिखावे के लिए छप रही हैं। बच्चों में सोच, व्यक्तित्व, संस्कार, नैतिक मूल्य आदि किताबों से भरी जा सकती है। लेकिन, वैसी किताबें घट रही हैं। हिन्दी इलाके को समझने के लिए शिव प्रकाश सिंह का 'अलग-अलग वैतरणी', श्रीलाल शुक्ल का 'राग दरबारी', राही मासूम रज़ा का 'आधा गाँव' और फणीश्वरनाथ 'रेणु' का 'मैला आंचल' पढ़ लेना काफी है। इन किताबों से आपको इस इलाके की सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक स्थिति की सहज जानकारी हो जाती है। लेकिन, अंग्रेजी की चकाचौंध में पश्चिम की तारीफ रहती है। लोगों को ऐसा लगता है कि अंग्रेजी से जीवन बदल सकता है। अपनी मातृभाषा को हेय समझने वाले सीधे-सीधे अंग्रेजी के जरिए बाजार से जुड़ गए। हमारे समाज में हिन्दी का तबका नीचे और अंग्रेजी का तबका ऊपर माना जाता है क्योंकि वो ज्यादा-से-ज्यादा कमाओ की नीति पर यकीन करता है। जबकि, गांधीजी कहते थे कि हमारे साधन साध्य से जुड़े होने चाहिए। पर आज ऐसा कहीं नजर नहीं आता है। आज के हालात में पुस्तकें असमर्थ नहीं है लेकिन आज के लोगों का मकसद पूरा नहीं कर सकतीं क्योंकि लोग ज्ञान बढ़ाना नहीं, बल्कि धन बढ़ाना चाहते हैं। यह धनयुग यानी उपभोक्तावादी युग है। अधिक-से-अधिक धन कैसे कमाया जाए इसकी प्रतिस्पर्धा है। ऐसे दौर में जहाँ नीति-अनीति, कथनी-करनी का फर्क, समाज में गलत-से-गलत काम करने वाले के प्रति नफरत नहीं है, ईमानदारी न घर में है न बाहर। आज विज्ञापन का संदेश ईर्ष्या है कि उसकी कमीज मुझसे ज्यादा सफेद कैसे? यह संदेश हावी हो रहा है। इस अव्यवस्था-अनाचार से निकलना भाषा-संस्कृति के पुनर्जागरण के बल पर ही संभव है। हिंदी-संस्कृत के रचनाकारों ने जिस नैतिकता और अध्यात्म के मूल्य हमें अपने अंदर भरने की शिक्षा दी है वे हमें अपने अंदर भरने होंगे अन्यथा, हमें टूटने-बिखरने से कोई नहीं बचा सकता है।

समाज को जब मानसिक सुख और मानसिक खुराक मिलेगी तब उस समाज की बेचैनी धीरे-धीरे और अपने आप कम होगी और यह काम सिर्फ-और-सिर्फ किताबों के माध्यम से और पुस्तक संस्कृति के माध्यम से ही संभव है।

हम भूल जाते हैं या भूलते जा रहे हैं कि आज का क्षणजीवी पूरा पश्चिम बेचैन है। हम भूल रहे हैं कि पूरी दुनिया एक परिवार है। हमारे यहाँ नदी, सरोवर, पेड़-पौधे सबके पूजने की परंपरा रही है। लेकिन, सृष्टि की अनमोल धरोहर को हमने अपने लालच के कारण नष्ट किया और लगातार करते जा रहे हैं। गाँधी जी कहते थे कि लोभ का कोई उपचार नहीं है। दुनिया भर में लोभ के कारण ही तरह-तरह के घोटालों का बोल-बाला है। लोभ और लालच के कारण संतोष रहा ही नहीं। अब तो आप जहाँ काम करते हैं, उसे ही लूट सके तो लूट, कल को किसने देखा है, वाली बातें हो गई हैं। बच्चों के अंदर मूल्य कहां से आएंगे ऐसे परिवेश में। बच्चों को नीचे के स्तर से पाठ्यपुस्तकों के माध्यम से नैतिक मूल्यों की शिक्षा दी जानी चाहिए। इसमें शिक्षाविदों की भूमिका महत्वपूर्ण है। इसके जरिए ही एस॰एम॰एस॰ और एम॰एम॰एस॰ संस्कृति से बच्चों को लौटाया जा सकता है, जड़ों की ओर। अपनी भाषा की आठ-दस अच्छी किताबें अगर बच्चा पढ़ता है तो उसका मानसिक विकास ज्यादा परिष्कृत होगा। भौतिक उपलब्धि के नारे में डूबे समाज को, इंद्रिय सुखभोग के लिए बेचैन समाज को जब मानसिक सुख और मानसिक खुराक मिलेगी तब उस समाज की बेचैनी धीरे-धीरे और अपने आप कम होगी और यह काम सिर्फ-और-सिर्फ किताबों के माध्यम से और पुस्तक संस्कृति के माध्यम से ही संभव है।

□□□

पुस्तकें धरोहर हैं

अशोक वाजपेयी

आजकल दो-तीन बातें हैं, पुस्तकों के संदर्भ में। लोग पढ़ते कम हैं, देखते ज्यादा हैं। इसके बावजूद अनेक क्षेत्रों में नए-नए विषयों पर किताबें लिखी जा रही हैं, जिन पर पहले कम लिखा गया या बिल्कुल नहीं लिखा गया।

सच तो यह है कि पुस्तकों के प्रति विश्वविद्यालय प्रशासन, पुस्तकालय और साहित्य अकादिमयाँ उदासीन नजर आती हैं या बिल्कुल निष्क्रिय-सी दिखती हैं। फिर भी, समय व समाज में मनुष्य होने के कारण इस पर जो प्रामाणिकता, विस्तार, दृष्टिबहुलता से विचार करते हैं वो माध्यम पुस्तकों पर केंद्रित है। मैं ये मानता रहा हूँ कि पुस्तक क्रांतिकारी आविष्कार है। भाषा के क्रांतिकारी आविष्कार के बाद पुस्तकें इसकी प्रतिफल हैं। ऐसे समाज की कल्पना नहीं की जा सकती जिसमें पुस्तकें नहीं होगीं। भारतीय परिदृश्य में भाषाई अंचलों में बांग्ला, मराठी, मलयालम, असमिया, पंजाबी, कन्नड़ में पुस्तकों की बहुत मांग है। प्रादेशिक स्तर पर दक्षिण तो वास्तव में पुस्तक प्रेमी अंचल है। हमारे यहाँ साक्षरता बढ़ी है पर पुस्तकों से रिश्ता घटा है। इसमें हिन्दी मीडिया ने अपने दर्शकों को बढ़ाया पर पाठकों की संख्या लगातार कम हुई है, जो निंदनीय है।

हिन्दी भाषा के समाचार पत्रों में भी पुस्तकों की चर्चा कम हुई है। अच्छे या स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं में हिन्दी-भाषी पाठकों की रुचि नहीं है और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में तो पुस्तकों पर चर्चा या परिचर्चा की कोई गुंजाइश ही नहीं बनती है। वहाँ पुस्तकों की चर्चा है भी, तो वह न के बराबर है।

हमारे देश में एक भ्रम फैला है कि पश्चिम में पुस्तकों की लोकप्रियता कम हुई है। मेरा अनुभव कहता है कि वहाँ ऐसा बिल्कुल नहीं है। वहाँ तो पुस्तकों की दुकानों में इतनी भीड़-भाड़ होती है जैसी हमारे यहाँ मॉल में होती है। जर्मनी में तो पुस्तकों के कई आलोचक हैं, जिनकी समाज में बहुत प्रतिष्ठा है। उनके यहाँ टी॰वी॰ पर एक घंटे का कार्यक्रम पुस्तकों पर आधारित है। वैसे महत्वपूर्ण कार्यक्रम वहाँ के इलेक्ट्रॉनिक मीडिया में प्राइम-टाइम पर प्रसारित किया जाता है और उन कार्यक्रमों को सारे जर्मनी के दर्शक देखते हैं।

पुस्तक से दूर रखने का एक गहरा आशय ये भी है कि हमको प्रश्न वाचन, सांस्कृतिक बहुलता, परिवार-परंपरा से भी दूर किया जा रहा है। मैं उन लोगों में से हूँ जिन्होंने अपना जीवन द्विज रूप में प्राप्त किया है। मेरे जन्म के माता-पिता जैविक और दूसरे बौद्धिक माता-पिता ज्ञानदाता। शायद, वो ज्ञानदाता गुरुजन नहीं होते तो मैं नहीं होता। मेरे गुरु लक्ष्मीधर आचार्य ने मेरे जनेऊ संस्कार में उपहार में सात पुस्तकें दी थी। उसमें 'अज्ञेय' जी की 'शेखर एक जीवनी', 'हरी घास पर क्षण भर', पंत की 'स्वर्णधूलि', 'ग्राम्या', 'स्वर्ण-शिखर', गीतांजलि की अंग्रेजी अनुवाद शामिल थीं। मैंने उस साल नवीं पास की थी, लगभग तेरह साल का था। उन किताबों की संगत से मेरा जीवन बदल गया। उसी दौरान आचार्यजी का तबादला हो गया, तब जाते-जाते उन्होंने समझाया था कि तुम्हारा परिवार प्रशासकों का है, इसलिए जीवन जीना प्रशासक बनकर, पर मरना कवि बनकर। हालांकि, नौ बरस का था तब मैंने लिखना शुरू किया लेकिन मेरी रचना बच्चों के पृष्ठ पर कभी नहीं छपी। 15-16 साल की उम्र में उस समय की अच्छी पत्रिकाओं-'धर्मयुग', 'कल्पना', 'वसुधा', 'युग चेतन', 'ज्ञानोदय' में मेरा लिखा प्रकाशित हुआ। उस दौरान समीक्षा और आलोचना काफी लिखी। आज भी किताबों से जुड़ा हुआ हूँ। ये

मेरी सहचरी की तरह हैं, जो महानगरीय जीवन में यातायात की नीरसता से तो मुझे बचाती ही हैं, समय के सदुपयोग का भी माध्यम हैं।

आज ई-बुक की बातें खूब हो रही हैं। पर, वह आर्थिक रूप से समुन्नत समाज के लिए है। साधारण वित्त के लोगों के लिए यह नहीं है। यह मात्र संपन्न लोगों का चोंचला-भर है। व्यक्तिगत तौर पर पुस्तक विहीन संसार होगा ऐसा मैं नहीं सोच पाता। हमारा समाज भविष्य में इतना वंचित और मटमैला संसार होगा, ऐसा नहीं होगा। हाँ! पुस्तकों की संख्या कम या ज्यादा हो सकती है? पर मैं कामना करता हूँ कि ऐसा न हो।

हमारी पुस्तक संस्कृति हमारी भाषा संस्कृति की मूल है। हमारी सांस्कृतिक बहुलता-धर्म के स्तर पर, भाषा की बहुलता, खान-पान, रहन-सहन, वेश-भूषा आदि सबकी विविधता के जरिए जो सांस्कृतिक मूल्य के आधार हैं, को आज खतरा है। इसका खतरा इस मायने में है कि भाषा का व्यवहार, उसका ज्ञान, उस पर विश्वास कम होता जा रहा है। हिन्दी भाषी को मध्यम वर्ग माना जाने लगा है। इससे मातृभाषा के रूप में हिन्दी के प्रति अविश्वास प्रकट हो रहा है। कुछ ऐसा ही बंगाली, कन्नड़, मराठी भाषाओं के साथ भी है। हमारे देश में अंग्रेजी और अंग्रेजी साहित्य या पुस्तकों के प्रति एक मोह है। दरअसल, यदि आप सिर्फ हिन्दी या आंचलिक भाषा में ज्ञान प्राप्त करें तो अच्छी जीविका नहीं प्राप्त कर सकते। आपकी हिन्दी अच्छी हो और साथ ही अंग्रेजी भी अच्छी हो, तो आपको करियर में सफलता मिल सकती है वरना आपकी सफलता संदिग्ध हो जाती है।

हिन्दी क्षेत्रों में प्रकाशकों में उद्यमिता की कमी है। हिन्दी के बड़े प्रकाशक हिन्दी क्षेत्र में सौ दुकानें खोलने का अभियान चलाएँ और उन दुकानों में सभी प्रकाशकों की किताबें रखी जाएँ। इस तरह से धीरे-धीरे किताबें पाठकों को आसानी से उपलब्ध होंगी और पाठकों की संख्या भी बढ़ेगी। राजधानी दिल्ली में अंग्रेजी की किताबों की अच्छी दुकानें हैं और अन्य भाषाओं में शायद इतनी किल्लत नहीं है, जितनी हिन्दी की किताबों की है। इस नई बाजार व्यवस्था में हिन्दी किताबों की दुकानें चमकती-दमकती हों, वो धूल-धूसरित न हों। इसके अलावा पुस्तक प्रेमी दस-बीस लोग मिलें और पुस्तक-क्लब या पुस्तकालय स्थापित करें। धीरे-धीरे पुस्तकों के पाठक बढ़ सकते हैं। नियमितता के साथ पुस्तक मेलों का आयोजन हो। पुस्तक मेले भौगोलिक रूप से नजदीक हों, रिहायशी इलाकों के। मुझे याद आता है, करीब दस साल पहले कलकत्ता में आयोजित पुस्तक मेला। उस पुस्तक मेले में जिस रोज मैं पहुँचा था, वहाँ साढ़े तीन लाख लोग आए थे। पश्चिम बंगाल की

हिन्दी के बड़े प्रकाशक हिन्दी क्षेत्र में सौ दुकानें खोलने का अभियान चलाएँ और उन दुकानों में सभी प्रकाशकों की किताबें रखी जाएँ। इस तरह से धीरे-धीरे किताबें पाठकों को आसानी से उपलब्ध होंगी और पाठकों की संख्या भी बढ़ेगी।

विकास दर शून्य रही है। वहाँ गरीबी है फिर भी, पाठकों को पुस्तकों की चाह है। महाराष्ट्र के परभरणी में आयोजिक पुस्तक मेले में पौने दो करोड़ की पुस्तकें बिकी। यहाँ मैं यह भी बताना चाहूँगा कि महाराष्ट्र में 'ग्रंथाली-यात्रा' की परंपरा है। इस यात्रा के दौरान लेखक अपनी पुस्तक के साथ यात्रा करता है और जगह-जगह पड़ाव होते हैं, जहाँ वह पाठकों के बीच अपनी किताबों को पढ़ते हैं। ऐसे प्रयत्न हिन्दी क्षेत्र में भी होने चाहिए।

वास्तव में, पुस्तकों से अक्षर, शब्द, संसार का ज्ञान होता है। संसार का ज्ञान बिना भाषा के या अनुभव से भी आप नहीं जान सकते। किताबें पढ़ने से आत्म का विस्तार, दूसरों के साथ शिरकत, दुनिया की जटिलता-सूक्ष्मता की समझ, आचार-व्यवहार की जानकारी आपको अधिकांशतया किताबों से मिलती है। पुस्तक विहीन व्यक्ति अंततः संवेदनहीन व विचारहीन व्यक्ति ही होगा।

पुस्तकें धरोहर हैं। ये आपको पुराने इतिहास, भूगोल, परंपरा, जीवन सभी से जोड़ती हैं। आज जो तीन पीढ़ियों से विदेशों में रह रहे हैं उनके बच्चे हिन्दी पढ़ना चाहते हैं। वे अपनी जड़ों से जुड़ना चाहते हैं। उनके लिए हिन्दी करियर के मद्देनजर उपयोगी नहीं है पर धरोहर भाषा के रूप में महत्वपूर्ण है। उन परिवारों में उनकी परंपरा, सांस्कृतिक समझ, उसकी जिम्मेदारी के बोध पर बहुत कुछ निर्भर करता है।

मेरे व्यक्तिगत संग्रह में असंख्य किताबें है। जिनमें 'गोदान', 'कामायनी', 'राम की शक्तिपूजा', 'नौकर की कमीज़' को मैंने न जाने कितनी बार दोहराया होगा? मुझे शमशेर बहादुर सिंह, अज्ञेय, रघुवीर सहाय, निर्मल वर्मा, मनोहर श्याम जोशी और कृष्णा सोबती को पढ़ना आज भी अच्छा लगता है।

□□□

सामाजिक बनाती हैं किताबें

डॉ. मैनेजर पाण्डेय

हर चीज़ को परिभाषा में बांधना न जरूरी है और न अच्छा है। कुछ चीजें ऐसी होती हैं, जो परिभाषा से परे होती हैं। संस्कृति को परिभाषा में बांधेंगे तो कुछ चीजें छूट जाएंगी। पहली बात कि सारी दुनिया को छोड़ अपने देश में पुस्तक की संस्कृति का लंबा इतिहास है। पुस्तक संस्कृति का आविर्भाव हुआ तब, जब लिपि का आविष्कार हुआ। उस जमाने में साहित्य के नाम पर कविता ही लिखी जाती थी। विभिन्न विषयों की पुस्तकें हजारों सालों से लिखी जा रही हैं। साहित्य से जुड़े शास्त्र, विज्ञान, दर्शन, योग की किताबें लिखी जाती रही हैं।

पुस्तक संस्कृति का दायरा सीमित था मतलब किताबें हाथ से लिखी जाती थीं, चाहे वे भोजपत्र पर लिखी जाएँ या ताड़पत्र पर लिखी जाएँ, वे सीमित मात्रा में लिखी जाती थी। समाज के पढ़े-लिखे समुदाय तक ही किताबें पहुँचती थीं। शायद, इसलिए भारत में पढ़े-लिखे लोगों ने कुछ निषेध के नियम बना दिए कि अमुक तरह के लोग पढ़ सकते हैं, अमुक लोग नहीं पढ़ सकते हैं। इससे किताबों की पहुँच सिर्फ ज्ञानियों तक होने लगी। इस तरह वह समाज का सामंती दौर था, तब पुस्तक संस्कृति सीमित लोगों तक थी। बाद के दिनों में प्रिंटिंग प्रेस का आविष्कार हुआ, तब किताब की संस्कृति में बहुत विस्तार हुआ। उस दौरान तीन-चार काम एक साथ होने लगे। पहला बड़ी संख्या में किताबें छपने लगी, दूसरा बाज़ार तैयार होने लगा और तीसरा किताबों की संस्कृति में लोकतंत्र आया। मैं इसे लोकतंत्र इसलिए कह रहा हूँ कि पुस्तक-बाज़ार जाति, लिंग, धर्म आदि का भेदभाव नहीं करता है। आप आज या सौ साल पहले जिन किताबों को पढ़ना सामान्य लोगों के लिए प्रतिबंधित था, किताब खरीददार से यह नहीं पूछेगा कि आप ब्राह्मण है या क्षत्रिय हैं या क्या हैं। आप नहा-धो कर आए हैं या नहीं। विक्रेता कीमत बताता है, अगर आपके पास ये रुपये हुए तो दुकानदार पुस्तक देगा और पैसे लेगा। उसे यह भी चिंता नहीं है कि किताब आप पढ़ेंगे या नहीं। इसलिए मैंने कहा कि प्रकाशन में लोकतंत्र आया।

आज के दौर में पुस्तक संस्कृति का अपार विस्तार हुआ है। पुस्तकें धीरे-धीरे डिजिटल हो रही हैं। भारी-भरकम किताबें लेकर पढ़ने की बजाय युवा पीढ़ी इंटरनेट या डिजिटल कम्प्यूटर से जहाँ-तहाँ जुड़ने की कोशिश करती है।

पुस्तकें विश्व धरोहर हैं। वास्तव में, जो चीजें दुर्लभ होती हैं वही मूल्यवान समझी जाती हैं। उनकी सुरक्षा की चिंता मनुष्य को होती है। पुस्तकों की सुरक्षा की दृष्टि से ही हिन्दुस्तान में किताबों को पवित्र माना जाता है। बचपन में स्कूली किताबें अगर जमीन पर गिर जाती थी, तो उसे दो बार सिर पर लगाकर झोले में रखते थे। मतलब है कि सुरक्षा से ही पवित्रता का भाव आता था इससे दूसरा काम पुस्तकों की सुरक्षा की चिंता रहती है। यह बहुत दूर तक हस्तलिखित पुस्तक संस्कृति की देन है।

प्रकाशन के दौर में पुस्तक छपकर आने लगी तो यह पवित्रता का और सुरक्षा का भाव कम होने लगा क्योंकि अब विकल्प सामने आ गया कि यदि किताब नष्ट हो जाएगी तो बाजार में मिल जाएगी या बाजार में नहीं तो पुस्तकालय में मिल जाएगी। अब सुरक्षा या पवित्रता की चिंता नहीं है, जो पहले थी। हजारों वर्षों तक भारत की अक्षर की संस्कृति में कुछ किताबों की रक्षा हो पाई, कुछ की नहीं हो पाई। ऐसा सारी दुनिया में ही हुआ।

पुस्तक संस्कृति के सामने आज संकट है। लेकिन, इस संकट का कारण सिर्फ, बाज़ार नहीं है। एक बड़ा कारण बड़े

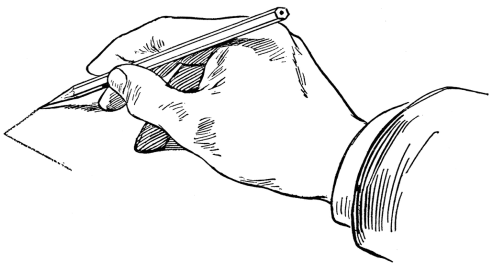

पैमाने पर इलेक्ट्रॉनिक मीडिया का फैलाव है क्योंकि इसका भीषण और अभूतपूर्व प्रसार है। हर आदमी के पास समय सीमित होता है–ज्ञान, मनोरंजन, आत्मिक सुख के लिए। आदमी के हाथों के कई काम इलेक्ट्रॉनिक मीडिया करने लगा है। मनोरंजन तो उससे होता ही है और ज्ञान की प्राप्ति होती है। इस दृष्टिकोण से देखें तो आमिर खान की प्रस्तुति 'सत्यमेव जयते' से सामाजिक व गंभीर विषय का ज्ञान लोगों को हुआ। पुस्तक संस्कृति और इलेक्ट्रॉनिक संस्कृति में यही बुनियादी फर्क है। पुस्तक संस्कृति से ज्ञान और मनोरंजन होता है। इसे पाने के लिए तीन चीजें इंसान के पास होनी चाहिए–बुद्धि, संवेदनशीलता और कल्पना। इन तीन चीजों का उपयोग करके ही आप पुस्तक का आनंद ले सकते हैं। वहीं टेलीविजन जो है कुछ अपने तौर पर न समय देता है और न सोचने की सुविधा देता है। इसलिए लोग बड़े पैमाने पर उसकी ओर दौड़ रहे हैं। बच्चों में पुस्तक के प्रति लगाव कम होने के लिए टेलीविजन बड़ी वजह है। बच्चे कार्टून देखने में दिलचस्पी लेते हैं। लोक-कथा या परी कथा नहीं सुनते। किताबें आपका पूरा व्यक्तित्व और समय मांगती हैं। जबकि, टेलीविजन देखते रहिए कोई काम करते रहिए, किसी से प्रेम करते रहिए, किसी से झगड़ते रहिए। वास्तव में टी॰वी॰ के कारण परिवार और समाज में दूरी बढ़ी है।

बाजार की दिक्कत है कि वह लाभ के लिए चलता है। प्रकाशन व्यवसाय में आज प्रतिस्पर्धा है। लेकिन, व्यावसायिकता के कारण पुस्तकों की कीमत बहुत अधिक हो गई है। बहुत से लोग इच्छा होते हुए भी कीमत देखकर तय करते हैं कि पाँच सौ रुपये की किताब खरीदें या नहीं। एक मध्यमवर्ग के आदमी को किताब खरीदने के लिए अपने बजट में कटौती करनी पड़ती है। इसलिए पुस्तक संस्कृति संकट में है। बाजार का आधिपत्य पूंजी यानि रुपया है। आजकल बड़े पैमाने पर प्रकाशक पैसे लेकर किताबें छापते हैं क्योंकि उनका उद्देश्य होता है कि अधिकारी को घूस देकर सरकारी खरीद करवाए क्योंकि प्रकाशक को इस प्रक्रिया में लाभ होता है। पुस्तकों की लोकप्रियता कम होने के पीछे यह भी एक कारण है। व्यवहार में हमें प्रकाशकों को समझाना चाहिए कि कुल मिलाकर सरकार ही व्यापारी है। मेरा व्यक्तिगत अनुभव है, भारत सरकार की नेशनल बुक ट्रस्ट और प्रकाशन विभाग दोनों जरूर सस्ती किताबें छापते हैं। मेरी भी तीन किताबें एन॰बी॰टी॰ ने छापी। एन॰बी॰टी॰ की किताबें देश के कोने-कोने में पहुँचती हैं। स्टॉल लगाकर और पुस्तक मेले के जरिए सस्ती किताबें लोगों को सुलभ करवानी चाहिए। मुझे याद है कि स्वाधीनता आंदोलन के समय पुस्तकालय का वातावरण बना था। गाँव-गाँव में लोगों ने पुस्तकालय खोले थे। पर धीरे-धीरे पुस्तकालयों का अस्तित्व मिटने लगा। नई पीढ़ी के नए लोगों को पुस्तकालय बनाने या पुस्तक रखने या उसके रख-रखाव की कोशिश करनी चाहिए। पुस्तकालयों की शृंखला और संस्कार का विकास होना चाहिए। इसमें सरकार की भूमिका भी महत्वपूर्ण है। लोगों को भी या यूँ कहे कि समाज की ओर से पुस्तक संस्कृति के विकास का काम किया जाना चाहिए। यदि समाज नहीं करेगा, हमारे लोग पुस्तकों की स्वयं रक्षा नहीं करेंगे तब तक पुस्तकालयों की सुरक्षा संभव नहीं है न पुस्तक संस्कृति का विकास संभव है।

किताबों से ज्ञान होता है। चेतना मिलती है। मनोरंजन होता है। सबसे बड़ी बात ये है कि मनुष्य सामाजिक बनता है और समाज का विकास होता है। अगर, प्रेमचंद का 'गोदान' पढ़ते हैं, किसान न होते हुए भी आप होरी के सुख-दुख के सहभागी बनते हैं। इतिहास की किताबें हजारों साल के इतिहास का परिचय आपको दे देती हैं। इससे आप कितने संस्कारित होते हैं, वह कल्पनातीत है। आमतौर पर आज के समाज में सार्थक जीवन जीने की बजाय

आमतौर पर आज के समाज में सार्थक जीवन जीने की बजाय सफल जीवन जीने की चिंता है। सफलता पर पचास तरह की किताबें छप रही हैं लेकिन सार्थकता पर नहीं। हम यह भूल रहे हैं कि सफलता व्यक्तिगत होती है और सार्थकता सामाजिक होती है। धीरे-धीरे यह मानसिकता बढ़ी है और सामाजिक या व्यावहारिक चिंता लोगों को नहीं रही।

सफल जीवन जीने की चिंता है। सफलता पर पचास तरह की किताबें छप रही हैं लेकिन सार्थकता पर नहीं। हम यह भूल रहे हैं कि सफलता व्यक्तिगत होती है और सार्थकता सामाजिक होती है। धीरे-धीरे यह मानसिकता बढ़ी है और सामाजिक या व्यावहारिक चिंता लोगों को नहीं रही। आज रातों-रात हर्षद मेहता बनने की कोशिश है क्योंकि सफलता किसी भी तरह और किसी भी कीमत पर चाहिए। ऐसी किताबें सामान्य लोगों के लिए कोई महत्व नहीं रखती। ऐसी मानसिकता से किताबों का महत्व कम हो रहा है। किताबें अब भी वही भूमिका निभा सकती हैं। सिर्फ किताबों के प्रति लगाव, अपना समय, व्यक्तित्व, बुद्धि, ज्ञान, कल्पना अर्पित करने की स्थिति हो, तो किताबें महत्वपूर्ण साथी की भूमिका निभाती हैं। इसके लिए हमें तैयार होना होगा, किताबें तो नहीं कह सकती कि हम आपके साथ चलें।

पुस्तक संस्कृति पर गहरे संकट के बावजूद किताबें सीमित संख्या में नहीं, बड़ी संख्या में छप रही हैं और बिक रही हैं तो इसका यही अर्थ है कि अब भी किताबों को जीवनसाथी बनाने वाले लोग मौजूद हैं। तभी तो किताबें छपती और बिकती हैं।

पुस्तक संस्कृति की लोकप्रियता का कम होने का एक कारण पुस्तकों के प्रति लोगों के लगाव का घटना है। लोगों की जिंदगी में दूसरी चीजों का प्रवेश हो गया है। राजधानी दिल्ली में चाँदनी चौक में कभी मारवाड़ी पुस्तकालय हुआ करता था, जो काफी लोकप्रिय था। लेकिन, वहाँ की दुर्लभ पुस्तकों को लोगों ने चुराना शुरू कर दिया। इससे उसकी लोकप्रियता हाशिए पर चली गई। पहले लोग पुस्कालय में पढ़कर, हाथों से नोट्स बनाते थे। धीरे-धीरे मानसिकता बढ़ी है कि किताबों के पन्नों का जीरॉक्स करवा लिया जाए। पहले मानसिकता थी कि हम पढ़ें और हजार लोग पढ़ें। अब यह सोच नहीं रही।

मैं गाँव का हूँ। गाँव में भी पढ़ने-लिखने का वातावरण खत्म-सा है। अब गाँव के युवक ज्यादातर शहरों में रहते हैं। उन युवकों का उद्देश्य परीक्षा पास करना और नौकरी करना है। पहले बातचीत में किताबों की चर्चा होती थी कि मैंने यह या वह किताब पढ़ी। उन किताबों का प्रभाव पचास या तीस साल बाद भी व्यक्तित्व पर दिखता है। पर ज्ञान की बजाय सफलता के पीछे भागने वाली युवा पीढ़ी के सामने पुस्तक के साथ वैकल्पिक माध्यम बहुत आ गए हैं। उसके लिए तीन दिन या चार दिन लगाकर किताब पढ़कर कुछ सोचने-समझने के बजाय आधे घंटे का सीरियल देखना ज्यादा मुनासिब है। हालांकि, उससे उसके व्यक्तित्व को कुछ सीखने का मौका नहीं मिलता है। मुझे व्यक्तिगत तौर पर लगता है कि पुस्तक संस्कृति समाज में पुनःस्थापित होगी इसकी उम्मीद कम है। लेकिन, अपेक्षा है कि जितनी अभी है, वह बनी रहे तो भी काफी है।

मैंने पाया है कि मेरे कई पुस्तक प्रेमी मित्र जिन्हें किताबें पढ़ने का शौक था, उन्होंने एक-एक पैसे बचाकर किताबें खरीदी थीं। उनके मरने के बाद, उनके बाल-बच्चे उन किताबों के ढेर से मुक्ति पाना चाहते थे ताकि, उनके घर में एक कमरा खाली हो जाए, जिसमें वह और आराम से रह सकें। उन्होंने उन किताबों को या तो मुफ्त में बाँट दिया या रद्दी के भाव बेच दिया। उन्होंने यह भी चिंता नहीं की कि बाप की खरीदी किताबें निशानी हैं, उनकी रक्षा करनी चाहिए।

□□□

पुस्तक वाचन

डॉ. माधुरी अनिल जोशी

ज्ञान संपादन करने के गुरुवाणी, वाचन, विचार, अवलोकन और विवाद अनेक मार्ग है। इनमें से 'पढ़ना' अत्यंत महत्व का साधन है। 'गुरु' शब्द के अर्थ में सभी बड़े व्यक्तियों का समावेश होना चाहिए। बाल्यावस्था में गृह और पाठशाला, ज्ञान संपादन करने के दो महत्वपूर्ण स्थान होते हैं। घर में माता पिता और अन्य बुजुर्गों से और पाठशाला में शिक्षकों से शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए। जैसे जैसे छात्र बड़ा होता है वैसे वैसे इसका गुरुमुख से ज्ञान लेना कम हो जाता है। जिन्हें अपने बच्चों के कल्याण की सचमुच इच्छा होगी वे ज्ञानप्राप्ति के लिए बच्चों को आत्मनिर्भर बनाए। इन्सान मानसिक श्रम करने में हमेशा आलस्य महसूस करता है। मानसिक कष्ट शारीरिक श्रम की तुलना में मुश्किल होते हैं। एक बार मन को दूसरे से मदद लेने की आदत पड़ गयी तो स्वावलंबन खत्म हुआ। रोजमर्रा की जिंदगी में क्षण प्रतिक्षण कठिनाइयाँ आती हैं। हर वक्त सलाह देने वाला गुरु कहाँ मिलेगा?

मन की स्थिति लोहे जैसी है, बिना इस्तेमाल लोहे में जंग लग जाता है और वह बेकार हो जाता है। अगर वह रोज घिसता रहा तो सतेज होकर ज्यादा दिन चलता है। जिस किसी के मन को श्रम करने की आदत नहीं होगी उसका मन लोहे की तरह जंग खा जाता है। उस्तरे को तेज करने के लिए जैसे पत्थर होता है, वैसे ही कठिनाइयों के पत्थर पर बुद्धि घिसने से वह तीव्र होती है। हमेशा गुरुमुख से ही ज्ञान पाने की इच्छा रखी तो यह घर्षण नहीं होगा और बुद्धि दुर्बल हो जाएगी। इसलिए विद्यार्थियों की शिक्षा के लिए अपरिहार्यतया गुरुवाणी का सहारा लेना चाहिए।

अनेक अमीर अपने बच्चों को पढ़ाने के लिए व्यक्तिगत शिक्षक रखते हैं। पाठशाला के शिक्षक अगर सचमुच बेकार हों या बच्चा वर्ग में पिछड़ गया हो तो विद्यार्थी को एकाध वर्ष की छलांग लगाकर आगे के वर्ग में जाना हो तो ऐसा करना ठीक होगा। लेकिन अगर ऐसा कुछ भी नहीं है तो व्यक्तिगत शिक्षक के कारण आखिर में बच्चे का नुकसान होता है, ऐसा हमारा मानना है। इससे विद्यार्थी की खुद विचार करने की आदत खत्म हो जाती है। ग्रीक लोग हमेशा शिक्षक के काम की तुलना दाई के काम से करते हैं। सुकरात का कहना था, कोख में जैसे गर्भ वैसे ही मस्तिष्क में विचार रहते हैं। शिक्षक, दाई की तरह चातुर्य से विचारों का बाहर आना आसान करता है। जैसे हस्तपादादि अवयव और नेत्रकर्णादि इंद्रिय अभ्यास से सक्षम और सुदृढ़ बनते हैं उसी तरह अभ्यास से बुद्धि तेज और सक्षम हो जाती है। जैसे बैल का कंधा, घोड़े की छाती, गधे की पीठ और भेड़ के सींग इस्तेमाल से मजबूत हो जाते हैं। उसी तरह पहलवान का सीना और भुजाएँ, डाक धावक का दम और पैर, निशानेबाज के हाथ और आँखें, मराठी क्लर्क की जंघा और रीढ़ की हड्डी, गवच्चे का कान, बजाने वाले की अंगुलियाँ, बोलने वाले की जिव्हा; इस तरह जो जिस पेशे में उसका वह अवयव अन्यों से मजबूत होता है। यह बात जैसे शरीर पर लागू होती है वैसे ही दिमाग पर भी लागू होती है। अष्टावधानी का स्मरण, अधिक बड़ा होता है। उपन्यासकार और कवि की कल्पनाशक्ति तेज होती है। तत्त्ववेत्ता को अनुमान प्रमाण की सूक्ष्म जाँच करने की आदत लगी होती है। सारांश एक ही है कि शरीर के अवयवों की तरह मन की शक्तियाँ अभ्यास और उपयोग से मजबूत और तीव्र बनती है। इसी कारण जिस शिक्षा पद्धति में विद्यार्थी दिमाग का बार-बार उपयोग करे, ऐसी पद्धति की व्यवस्था करना हित में होगा। विद्यार्थी की

पुस्तकें एक प्रकार से दोस्त हैं। कुसंगति की तरह ही बुरी किताबें पढ़ने से दुर्गुण बढ़ते हैं। इसलिए बुरे दोस्तों की तरह ही बुरी किताबों को भी नकारना चाहिए।

एक अवस्था में गुरुवाणी की सहायता सबसे जरूरी है लेकिन यह आवश्यकता जितनी जल्दी कम हो उतना ही अच्छा होगा।

गुरुवाणी के अलावा ज्ञान संपादन के चार और साधन हैं उनमें से विचार, अवलोकन और वाचन पर व्यक्ति का अपना अधिकार होता है। चौथा साधन रह गया–विवाद इसमें सामने वाला तर्क-वितर्क में ताकतवर मिला तो ही मजा आता है।

वरिष्ठ से संवाद करें तो नवीन ज्ञान मिलता है, हमउम्र के साथ संवाद से संशयनिवृत्ति होती है और कनिष्ठों के साथ संवाद करने में संपादित ज्ञान सुव्यवस्थित हो जाता है। कुश्ती का जो परिणाम शरीर पर होता है, वही परिणाम अच्छे विवाद का बुद्धि पर होता है। कुश्ती की तरह ही वाद से बुद्धि के सभी अंगों का आलस्य दूर होकर उनमें फुर्ती आ जाती है। लेकिन कुश्ती में ईर्ष्या एकाधबार और विवाद में दुराग्रह अधिक होने से परिणाम अच्छा नहीं निकलता। इसलिए जब योग्य प्रतिस्पर्धी मिलेगा तभी विवाद के लिए चुनौती देना सही होगा। क्रोध दिलाने वाले दुराग्रहों से होने वाला विवाद जितना टाला जाए उतना ही अच्छा है।

अवलोकन में सभी प्रकार की इंद्रियों के अनुभवों का समावेश होता है। ये अनुभव मनुष्य या तो सोच समझकर लेता है या उसे सहज ही प्राप्त होते हैं। इंद्रिय द्वारा प्राप्त अनुभवों के बल पर कार्य-कारण आदि को जो निश्चित किया जाता है उसे ही विचार कहते हैं। किसी भी कार्य का किसी असंबद्ध कारण से संबंध जोड़ना, मतलब विचार करने में गलती कर देना है। सोचने में गलती न हो, ऐसा विचार कैसे करें यह अत्यंत गूढ़ विषय है। इसका समावेश मानसशास्त्र की 'न्यायसंज्ञक शाखा' में होता है।

अभी तक ज्ञान संपादन के पाँच साधनों में से गुरुवाणी, विवाद, अवलोकन और विचार इन चारों को स्पष्ट किया। अब निबंध के मुख्य विषय वाचन पर विचार करना आवश्यक है।

पढ़ने के दो प्रकार हैं–पहला दूसरे के लिए पढ़ना और दूसरा खुद के लिए पढ़ना। हम जो पढ़ते हैं वह खुद हमने अपने लिए लिखा होता है या किसी दूसरे ने लिखा होता है। कोई भी किताब या लेख पढ़ने के पीछे दो उद्देश्य होते हैं, एक जानकारी प्राप्त करना, दूसरा मनोरंजन। किताबें जिस प्रकार की होंगी, वाचक के मन पर उसी तरह का परिणाम होगा। बुरी किताबें पढ़ने से कुछ न करना ठीक होगा, क्योंकि कुछ भी न करने से कम से कम मन को कोई बुरी आदत तो नहीं लगती। जिस किसी ने भी पढ़ने की सोची है वह अच्छी किताब के बारे में ही होगा। पुस्तकें एक प्रकार से दोस्त हैं। कुसंगति की तरह ही बुरी किताबें पढ़ने से दुर्गुण बढ़ते हैं। इसलिए बुरे दोस्तों की तरह ही बुरी किताबों को भी नकारना चाहिए।

बहुश्रुत अच्छे दोस्त की संगत से होने वाले ज्यादातर लाभ अच्छे पठन से भी होते हैं। ज्ञान के अन्य साधनों की तुलना में वाचन अत्यंत कम खर्च में किया जा सकता है। विद्वान गुरु मिले या न मिले संवाद करने जैसा दोस्त प्राप्य हो या न हो, स्वतंत्रता से बिना गलती के विचार करने की शिक्षा मिली हो या न मिली हो, सहजता से ले सके ऐसे अनुभव या बुद्धि के आधार पर लिए जाने वाले अनुभव ले सकें, ऐसी सुविधाएँ हो भी सकती हैं और नहीं भी लेकिन पढ़ने की स्थिति वैसी नहीं होती। मुद्रण कला का विकास होने के कारण 'पढ़ना' ज्ञान साधन को कोई भी प्राप्त कर सकता है। कुछ स्थितियों में तो ज्ञान प्राप्त करने के लिए अन्य कोई भी साधन उपयुक्त सिद्ध नहीं होता। अपने विचारों को ग्रंथ में बंद करके हम उन्हें अमर बनाते हैं। विचार पुस्तक के रूप में होने के कारण वह किसी के भी पास जा सकते हैं। इतना ही नहीं वे मनुष्य की कई पीढ़ियों का मार्गदर्शन कर सकते हैं। व्यास और वाल्मीकि जैसे महाकवि अपने विचार लिखकर नहीं रखते तो हम महाभारत और रामायण को कैसे पढ़ सकते थे? इनसे हिंदुओं ने हजारों वर्षों तक ज्ञान भी पाया और उनका मनोरंजन भी हुआ। इन महान ग्रंथों की तरह ही अन्य देशी और विदेशी ग्रंथों के बारे में भी यही बात सत्य है। पुस्तक द्वारा अंग्रेजी भाषा का ज्ञान भंडार हमारे सामने खुल गया है उससे कितना लाभ हो रहा है? विदेशी शासन के कारण होने वाली अनंत तकलीफों को हम इस एक

लाभ के कारण भूल जाते हैं और भावी स्वतंत्रता और सुख के सपनों में खो जाते हैं। अन्य पाश्चात्य भाषाओं में अंग्रेजी भाषा और अंग्रेजी लोग सबसे आगे हैं। उन्होंने अंग्रेजी में अन्य सभी भाषाओं के उत्कृष्ट विचारों का अनुवाद किया है और यह प्रक्रिया सतत जारी है। तभी तो केवल अंग्रेजी में उपलब्ध ग्रंथों को पढ़ लेने से यूरोप के विद्वानों ने प्राचीनकाल से आज तक जो विचार लिखकर रखे हैं उसे जान सकते हैं। उनमें से सर्वश्रेष्ठ अंग्रजी अनुवाद थोड़े से पैसे खर्च करने पर पढ़ने के लिए उपलब्ध हो सकते हैं। तात्पर्य यह है कि महान तत्त्वज्ञानी, इतिहासकार, वैज्ञानिक और कवियों ने अपने-अपने विचार पुस्तक रूपी नौका में डालकर रखे हैं। ऐसा न होता तो समय के सागर में वह कभी के खत्म हो जाते लेकिन ऐसा नहीं हुआ इसलिए हम विचाररूपी सामान से लदी ग्रंथ नौका, किसी भी किनारे पर उतारकर विचाररूपी सामान प्राप्त कर सकते है।

जिन्हें बचपन से पढ़ने की आदत लगी है, उन्हें थोड़ी सी भी फुरसत मिली तो वे कुछ न कुछ पढ़ते ही हैं। अच्छी और उच्च कोटि की पुस्तकों और समाचार पत्रों से हमेशा ज्ञान भी बढ़ता रहता है। उसका उपयोग जीवन में होता है। मनुष्य जीविका प्राप्ति के लिए कुछ न कुछ काम करता ही है लेकिन उसके अलावा अन्य चीज़ों का ज्ञान प्राप्त करने से वह भी उपयोगी साबित होता है। हर कोई जो उपयुक्त पठन की आदत हमेशा जारी रखेगा वह छोटी-मोटी कठिनाइयों से बाहर आने के लिए खुद ही कोशिश करेगा।

जीवन में बार-बार आने वाली कठिनाइयों से बाहर निकलने में पढ़ना सहायक होता है। पढ़ने से होने वाला यह अत्यंत साधारण लाभ है। जिन्हें 'आप पिछली पीढ़ी के' संबोधन से बचना है वे पढ़ने की आदत को हमेशा जागृत रखें। प्रतिवर्ष विश्व में नयी कल्पनाएँ, नवीन युक्तियाँ आ जाती हैं और पुरानी कल्पनाएँ आदि पीछे रह जाती हैं। जो लोग पाठशाला या महाविद्यालय में संपादित ज्ञान पर ही निर्भर रहते हैं और नया पढ़ने की आदत बिलकुल नहीं रखते, उन्हें उनके पिछड़ेपन के कारण व्यंग्य सहना पड़ता है। वे जिस किसी क्षेत्र में होते हैं वहाँ होने वाले सुधारों का ज्ञान उन्हें नहीं होता जिसके कारण उन्हें हानि सहनी पड़ती है। जब भी युवाओं से मिलने का मौका आता है, वे व्यंग्य का विषय बन जाते हैं। वर्तमान के महत्वपूर्ण तथ्यों की जानकारी न होने से उन्नीसवीं शताब्दी के होकर भी वे अठारहवीं शताब्दी के लगते हैं। अर्थात् समय से पिछड़ जाते हैं।

जिसे एक बार पढ़ने की आदत लग गयी उसके मनोरंजन की तो कोई सीमा ही नहीं। वह वर्तमान को छोड़कर भूत और भविष्य काल का चक्कर लगाकर आ सकता है। आज तक धरती पर किन-किन देशों में बड़े-बड़े साधु, तत्त्वज्ञानी, कवि, नाटककार हुए उनका अध्ययन करके ज्ञानामृत प्राप्त कर सकता है। विभिन्न देशों में अलग-अलग काल में किस-किस प्रकार के लोग थे? उनकी वेशभूषा कैसी थी? उनकी राज्य पद्धति किस प्रकार की थी? धर्म कल्पना कैसी थी? उन्हें कौन से खेलों में रुचि थी? वे न्याय किस प्रकार करते थे? व्यापार किन वस्तुओं का और कैसे करते थे? उनके देशों में धर्मक्रांति और राज्यक्रांति होने के कारण क्या थे? उसके बाद स्थितियों में कौन से परिवर्तन हुए? मुसीबत के समय में बड़े-बड़े व्यक्तियों का बर्ताव कैसा था? किनकी बुद्धि की ताकत से मनुष्य जाति उपकृत हुई? अनीति, डर, आलस्य आदि दोषों से किन-किन राष्ट्रों का विनाश हुआ? उपयोग, न्याय, एकता और धर्मपरायणता आदि गुणों के कारण कौन से राष्ट्र प्रसिद्ध हुए? आदि सब बातें जानने के लिए पढ़ने के अलावा दूसरा कोई साधन नहीं। पढ़ते समय वर्तमान को भूलकर, वह जिस देश या युग का इतिहास पढ़ रहा है उस देश या युग में जाकर आनंद प्राप्त कर सकता है। इस प्रकार का ज्ञान देने की सामर्थ्य वाचन के अलावा अन्य किसी में नहीं है। हमेशा महान व्यक्तियों के चरित्र पढ़ने से मन को संतुष्टि और ज्ञान मिलता है। इतना ही नहीं, अनजाने ही मनुष्य के स्वभाव और बर्ताव पर भी प्रभाव पड़ता है। विश्व प्रसिद्ध व्यक्तियों का सा बर्ताव हम भी करें, जिस तरह वे बात करते थे, उसी प्रकार हम भी करें और वे जिन विचारों में खोए रहते थे, उसी प्रकार के विचारों में हम भी खोए रहें ऐसा लगता है। बड़े लोगों का अनुकरण करने की इच्छा जागृत हुई और दिनोंदिन वह दृढ़ होती गई तो बर्ताव पर उसका अच्छा परिणाम होता ही है। किसी लैटिन कवि ने ज्ञान साधन की इस महिमा का बहुत चतुराई से एक वाक्य में वर्णन किया है, वह लिखता है, "पढ़ने से मनुष्य का बर्ताव सुधरता है और वह जंगली नहीं बना रहता।"

□□□

अमेरिका में पुस्तक संस्कृति

डॉ. हरि जोशी

भारतीय ग्रंथों में पुस्तक के महत्व को यत्र-तत्र दर्शाया गया है किन्तु उसके प्रभावी कार्यान्वयन को अमेरिका में देखा जा सकता है। आर्थिक मजबूरी के कारण अथवा जीविकोपार्जन की दौड़-धूप में भले ही भारतीय परिवारों में निजी पुस्तकालय बहुयायत से न हों, परन्तु चिंतन प्रक्रिया और कथोपकथन की प्रथा बहुत प्राचीन है। अक्षर ब्रह्म के महत्व को हमारे ऋषि मुनियों ने बहुत पहले पहचान लिया था तभी तो पुस्तकों को सहेजकर रखने का पाठ सदियों से वे पढ़ाते रहे:

पुस्तकस्य या विद्या, पर हस्ते गतं धनम्

कार्यकाले समुत्पन्ने न सा विद्या? न साधनम्।

अर्थात् यदि विद्या मात्र पुस्तक में तथा धन किसी अन्य के हाथ में हो तो, जब आवश्यकता होती है तब न तो विद्या काम आती है, न धन। स्वाभाविक है भले ही विद्या पुस्तक में हो किंतु उसे आत्मसात् भी किया जाए।

इसी प्रकार ग्रंथों को सहेजकर रखने की सीख एक अन्य दोहे में दी गई है, बड़ी व्यावहारिक बात है:

घर गई न ऊबरी पोथी पूंजी नार

फटी कटी बिगरी मिली जो विधि लिखा लिलार।

यानि यदि ग्रंथ, पूंजी और स्त्री पराये हाथ में चली जाये तो ग्रंथ फटा हुआ, पूंजी कटी हुई और स्त्री उतने ही अनुपात में बिगड़ी हुई मिलेगी, जितना आपके भाग्य में है।

इस चौथी यात्रा में मुझे बेन्टन हार्बर (मिशिगन राज्य) के एक छोटे कस्बे में (सेंट जोज़ेफ में) तीन माह रहना है। इस नगरी की आबादी मात्र आठ हजार पाँच सौ है। नदी के उस पार बेन्टन हार्बर है जिसकी आबादी भी लगभग उतनी ही है। सेंट जोज़ेफ में गोरे अमरीकियों का बड़ा प्रतिशत है जबकि बेन्टन हार्बर में अफ्रीकी अमेरिकन या कहें श्याम वर्णी जनों का।

सेंट जोज़ेफ में दो बड़े-बड़े पुस्तकालय हैं। छोटे पुस्तकालय में भी लगभग एक लाख पुस्तकें हैं जहाँ मैं बहुधा चला जाता हूँ। बहू अपनी कार से मुझे वहाँ छोड़ देती है और कुछ घंटे बाद बेटा या बहू मुझे ले आते हैं। हमारे निवास लेक शोर (मिशिगन झील के किनारे) से यह पुस्तकालय तीन मील दूर है। दूसरा बड़ा पुस्तकालय छ: मील की दूरी पर है।

सन् 2001ई0 में मैं पन्द्रह दिन के लिये, 2006 ई0 में छ: माह के लिये, 2007 ई0 में भी 20 दिन के लिये और 2009ई0 में तीन माह के लिये आया हूँ। छ: माह हम लोग टेक्सास प्रदेश की राजधानी ऑस्टिन में रहे। वहाँ के बार्नस एंड नोबल बुक स्टोर (अमेरिका का सबसे बड़ा पुस्तक भंडार) में तो एक लाख पुस्तकें एक दिन में पाठकों को इश्यू करने का प्रावधान था।

पुस्तकें किसी भी शेल्फ से निकालिये, पढ़ते रहिये, नोट्स बनाइये और वहीं छोड़ दीजिये। पुस्तकालय के कर्मी उन पुस्तकों को शाम के समय यथास्थान रख देते हैं। प्रत्येक टेबल पर सूचना लगी रहती है कि पुस्तकों को कृपया यहीं छोड़ दें, वे यथास्थान रख दी जाएंगी। प्रत्येक पुस्तकालय में पाठकों-सदस्यों के उदार उपयोग के लिये अनेक कम्प्यूटर रहते हैं, इन्टरनेट तो बहुत ही छोटी बात है जो बिना किसी शुल्क के सर्वत्र उपलब्ध रहता है। पुस्तकालयों में डी॰वी॰डी॰ कक्ष, बच्चों के लिए सेक्शन, पत्र-पत्रिकाएँ, दो-तीन स्थानों पर हंसते मुस्कराते तत्पर कर्मचारी हमेशा पाये जा सकते हैं। पाठक ने उनसे कोई

किसी भी पुस्तकालय में चले जाइये, वह भरा हुआ ही मिलेगा। छोटे-छोटे शिशुओं को उनके माता-पिता पुस्तकालय के बच्चों वाली किताबों के कक्ष में अकेले छोड़कर अन्य प्रभागों में चले जाते हैं। बच्चे को भले ही पढ़ना न आता हो तब भी वह रंगीन चित्रों वाली, जानवरों की जानकारी देने वाली, कार्टूनों की पुस्तके उठाना, रंगीन खिलौने, इलेक्ट्रॉनिक खेलों से खेलना शुरू कर देता है। धीरे-धीरे किताब पढ़ने का उसे चस्का लग जाता है।

जानकारी मांगी नहीं कि वे बहुत खुशी-खुशी पाठक को संतुष्ट करने में लग जाते हैं।

पश्चिमी देशों में किशोरावस्था से ही बच्चों को स्वावलंबी, अलग-थलग एकाकी, कर्मठ और स्वयं द्वारा तय की हुई दिशा में चलने को प्रेरित किया जाता है। परिवेशगत परिस्थितियाँ भी ऐसा करने को बाध्य करती हैं। शायद यही कारण है कि पुस्तकें पढ़ने का शौक उन्हें बचपन से ही संस्कारों द्वारा प्रदत्त होता है। किसी भी पुस्तकालय में चले जाइये, वह भरा हुआ ही मिलेगा। छोटे-छोटे शिशुओं को उनके माता-पिता पुस्तकालय के बच्चों वाली किताबों के कक्ष में अकेले छोड़कर अन्य प्रभागों में चले जाते हैं। बच्चे को भले ही पढ़ना न आता हो तब भी वह रंगीन चित्रों वाली, जानवरों की जानकारी देने वाली, कार्टूनों की पुस्तकें उठाना, रंगीन खिलौने, इलेक्ट्रॉनिक खेलों से खेलना शुरू कर देता है। धीरे-धीरे किताब पढ़ने का उसे चस्का लग जाता है। अंतरराष्ट्रीय उड़ानों में देख लीजिए। अमेरिकी या पश्चिम के अधिकांश यात्री कोई न कोई पुस्तक पढ़ते हुए मिलेंगे, जबकि भारतीय चर्चा करके, परस्पर बातचीत के द्वारा ज्ञानवर्द्धन करते हैं।

अमेरिका और इंग्लैंड में पुस्तक व्यसन आमतौर पर अधिक ही देखा जाता है। किसी भी पुस्तकालय में कुर्सी पर, सोफे पर, सीढ़ियों पर, फर्श पर बैठकर हॉट चाकलेट या कॉफी या अन्य पेय अथवा सिगरेट पीते हुए किशोरों से लेकर वृद्ध तक एकदम शांत मुद्रा में पुस्तकें पढ़ते हुए बड़ी संख्या में ज्ञान पिपासु पाये जा सकते हैं। 8500 की आबादी वाले इस कस्बे की अन्य सुविधायें शिकागो या न्यूयार्क से कम नहीं है। हाँ बस, सिटी बस यहाँ नहीं है। एक बार लाल परेड ग्राउंड पर भोपाल में लगभग पच्चीस वर्ष पूर्व एक अन्तरराष्ट्रीय मुशायरा हुआ था, जिसकी सदारत (अध्यक्षता) करने अली सरदार जाफरी आए हुए थे। उन्होंने अध्यक्षीय भाषण में एक बहुत ही अच्छी बात कही। वह बोले "यदि समाज में युवा वर्ग को पुस्तकें पढ़ने की आदत डाल दी जाए और खाने के लिए दो रोटी की व्यवस्था हो जाए तो अपराध होना कम हो जाएंगे।" शायद यही कारण है कि अमेरिका में तुलनात्मक दृष्टि से अपराध कम होते हैं।

अमेरिका की समृद्धि के कारणों पर मैं जब विचार करता हूँ तो मुझे स्पष्ट रूप से चार बातें दिखायी देती हैं। पहला तो यह कि यहाँ छः-छः और आठ-आठ लेनों की अच्छी सड़कों का जाल पूरे देश में बिछा हुआ है। नदियों, झीलों, सरोवरों में अथाह और भरपूर पानी है। बिजली कभी भी, कहीं भी जाती नहीं, इतनी मात्रा में है तथा लकड़ी की भी कोई कमी नहीं। जमीन का क्षेत्रफल भारतवर्ष से पाँच गुना अधिक है, और जनसंख्या एक तिहाई। स्वाभाविक है संसाधनों की कोई कमी नहीं। सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यहाँ के शासक भ्रष्ट नहीं हैं तथा जन कर्मठ हैं।

अमेरिका की प्रत्येक यात्रा मेरे लिये, बड़ी नदी के दोनों किनारों तक लबालब भरे जल को पार करने की कथा है, जिसे पुस्तकालयों के डोंगे, नौकाएँ, स्टीमर बहुत ही मनमोहक तथा सुखद ढंग से पार करा देते हैं। बेटे-बहू जब भी मुझे हम दोनों का (पति-पत्नी) अमेरिका यात्रा का टिकट भेजते हैं तो मैं पहला प्रश्न करता हूँ आसपास कोई अच्छा सा पुस्तकालय है? इंजीनियरिंग विषयों को दशकों से पढ़ाते-पढ़ाते अंग्रेजी भाषा से भी यदा कदा मुठभेड़ करता रहता हूँ। सन् 2006 की यात्रा में छः माह ऑस्टिन (टेक्सास की राजधानी) में रहे। कार द्वारा ह्यूस्टन जाते समय ऑस्टिन से लगभग 120 मील की दूरी पर कॉलेज स्टेशन गए। मेरे बेटे का अभिन्न मित्र हिमांशु देव, जो भोपाल से ही बेटे का सहपाठी था, हमें ले गया। कॉलेज स्टेशन के विश्वविद्यालय में मेकेनिकल और आर्किटेक्चर विषय ही पढ़ाये जाते हैं। हमने यहाँ के दो बड़े-बड़े पुस्तकालय देखे। एक पुस्तकालय का नाम स्टरलिंग सी॰ इवान्स पुस्तकालय है जो छः मंजिलों का विशाल भवन है। प्रत्येक तल पर भारतीय आई॰आई॰टी॰ के समान बड़े-बड़े पुस्तक हॉल हैं। आई॰आई॰टी॰ से भी तीन चार गुना बड़े। भारतवर्ष में इंडियन इंस्टीटयूट ऑफ टेकनालॉजी, अभियांत्रिकी की शीर्ष और आदर्श संस्थाएँ हैं। इस अमेरिकी पुस्तकालय में

डेढ़-दो सौ कम्प्यूटर प्रत्येक हॉल में रखे हैं, जिन पर छात्र-छात्राएँ काम कर रहे हैं। दसियों छोटे-छोटे कक्ष हैं जिनमें एकांत में बैठकर छात्र-छात्राएं पढ़ रहे हैं। तृतीय एवं चुतर्थ वर्ष के विद्यार्थी अपने-अपने लैपटाप लेकर आते हैं, एक कर्मचारी से किसी भी खाली कक्ष की चाबी मांगते हैं और घंटों पढ़ते रहते हैं। सुबह आठ से रात्रि दो बजे तक पुस्तकालय खुला रहता है।

यदि कोई व्यक्ति लाइब्रेरी की पुस्तक साथ ले जाने की, चुराने की मूर्खता कर जाए तो गेट से निकलते ही सायरन बजने लगता है। प्रत्येक पुस्तक में सेंसर चस्पा होता है। कहीं छोटा-सा छुपा हुआ। किसी भी पाठक की चोरी की नीयत पकड़ी जाती है। यहाँ के छात्र-छात्राओं में पुस्तकें पढ़ने के अलावा गिटार बजाने की, विभिन्न खेल खेलने की, तैराकी, पर्वतारोहण, एथलीट होना, जिम में रहना, शारीरिक कसरत करना आदि अभिरुचियाँ जाग्रत रहती हैं। यहाँ के विश्वविद्यालयों में अमेरिकी छात्रों के साथ-साथ चीनी छात्र-छात्राएँ तथा भारतीय विद्यार्थी भी बड़ी संख्या में अध्ययन करते हुए पाये जाते हैं।

यहाँ कई विश्वविद्यालय राष्ट्रपतियों के नाम पर खुले हुए हैं, जिनमें घुसते ही सर्वप्रथम अपने पूर्व राष्ट्रपति के जीवन पर एक फिल्म दिखायी जाती है। इस फिल्म में राष्ट्रपति का बचपन, अभिरुचियाँ, कौन-कौन सी सीढ़ियाँ चढ़कर वह राष्ट्रपति बने और राष्ट्रपति के रूप में कौन-कौन से आदर्श कार्य किये आदि का लगभग आधा घंटे का फिल्मांकन होता है। यही नहीं राष्ट्रपति की शक्ल सूरत, हाव-भाव वाला, उसी कद-काठी का एक पुतला भी होता है जो बोलता हुआ, हाथ हिलाता हुआ, आंखों की पुतलियाँ घुमाता हुआ पांच-सात मिनट का संदेश देता हुआ दिखाया जाता है। पुस्तकालय में घुसने वाले प्रत्येक दर्शक को पूर्व राष्ट्रपति की फिल्म और उसका जीवंत भाषण सुनने में अच्छा भी लगता है।

कुल मिलाकर ऐसे तीन पुस्तकालय देखे। पहला जॉन॰ एफ॰ कैनेडी पुस्तकालय, दूसरा अब्राहम लिंकन पुस्तकालय तथा तीसरा जार्ज डब्ल्यू बुश (सीनियर) पुस्तकालय। कॉलेज स्टेशन पर ही सीनियर जार्ज बुश पुस्तकालय देखा। इस विशाल पुस्तकालय में सीनियर बुश पर जो फिल्म दिखायी गई थी, उसमें बताया गया था कि 18 वर्ष की उम्र में उन्होंने नौकरी की, उनके मन में देश के लिए काम करने का संकल्प बचपन से था। कुछ वर्ष बाद वह सक्रिय राजनीति में आए और बाद में राष्ट्रपति पद तक पहुँचे। वैसे तो कई प्रेरक तथा आदर्श वाक्य हैं, किन्तु एक वाक्य उनसे कहते सुना जा सकता है, "मुझे सबसे अधिक गर्व इस बात का है कि मेरे बच्चे अभी भी घर आते रहते हैं।" तथ्य यह है कि बच्चे सामान्यत: अपने ब्वाय फ्रेंड या गर्ल फ्रेंड के साथ 18 वर्ष की उम्र में साथ रहने के बाद वर्ष भर में मदर्स डे, फादर्स डे, थैंक्स गिविंग पर ही माता-पिता से मिलने आते हैं। अठारह वर्ष की उम्र के बाद बच्चे अपना जीवन अलग बसा लेते हैं। माता-पिता पर उनका कोई बोझ नहीं रहता।

वरिष्ठ नागरिकों के लिये रेल यात्रा, बस यात्रा, सिनेमा तथा किसी भी दर्शनीय स्थल में प्रवेश करने के लिए टिकट में रियायत दी जाती है, यहाँ तक कि हेयर कटिंग में भी वरिष्ठ नागरिकों से कम फीस ली जाती है। जार्ज बुश पुस्तकालय में भी सामान्य जनों के लिए प्रवेश टिकट 7 डॉलर का होता है जबकि वरिष्ठ नागरिकों के लिए 5 डॉलर का। सीनियर बुश पर फिल्म देखने के बाद हम लोग मनोरंजन केन्द्र में गए। ऐसा मनोरंजन केन्द्र मैंने भारत में कहीं नहीं देखा। किसी इंडियन इन्स्टीट्यूट ऑफ टेकनालॉजी में भी नहीं। यह छ: मंजिला विशाल भवन है, जिसमें सबसे ऊपर की मंजिल पर धावकों के दौड़ने के अभ्यास की व्यवस्था है। यहाँ पर चौकोर या आयताकार बने हुए रास्ते पर इसी मंजिल पर पूरा चक्कर लगाने से एक मील की दौड़ पूरी हो जाती है।

मनोरंजन कक्ष में घुसते ही कुछ युवक-युवतियाँ दिखायी देते हैं, जो पर्वतारोहण करने का अभ्यास कर रहे हैं, कुछ बच्चे तीस चालीस फुट की ऊँचाई पर पहले ही चढ़े हुए हैं। एक बड़े कक्ष में जिसमें कांच की पारदर्शी दीवारों के कारण भरपूर उजाला रहता है। फुटबाल का पूरा मैदान है। एक कक्ष में

यहाँ गद्य और पद्य की सभी रचनाओं में यौन संबंधों पर खुलकर लिखा जाता है। पुस्तकालयों में भी श्लील-अश्लील सभी विचारों का स्वागत किया जाता है, सभी विचारों वाली पुस्तकें खरीदी जाती हैं, किन्तु स्कूलों में कुछ किताबों की सूची टांग दी जाती है और विद्यार्थियों को सलाह दी जाती है कि उन पुस्तकों को वे न पढ़ें।

बैडमिंटन के चार मैदान हैं। इसी तल पर दो बड़े-बड़े स्वीमिंग पूल हैं जिनमें छलांग लगाने की, तैरने की, वाटर पोलो खेलने की पूरी व्यवस्था है। पच्चीस तीस छात्र-छात्राएँ जल क्रीड़ाओं में निमग्न दिखायी दे रहे हैं। कुछ बच्चे बगल वाली बैंचों पर बैठे धूप का आनंद भी ले रहे हैं। एक स्वीमिंग पूल हॉल के भीतर है, एक बाहर। गर्म पानी उपलब्ध है स्वीमिंग पूल में। शरीर के अनुकूल गर्म पानी। स्वीमिंग सूट, रबर के उत्थापक (जो तैरने वाले को डूबने नहीं देते) एक कोच, और क्या व्यवस्था नहीं है वहाँ? मैंने ऐसी व्यवस्था जीवन में पहली बार देखी। विशाल जिम है, वजन तथा फिटनेस बनाये रखने की पूरी व्यवस्था है। कहा जाता है यह दुनिया का पहला या दूसरा शिक्षा संस्थान है जहाँ इतनी अधिक सुविधाएँ उपलब्ध हैं। यहाँ पुस्तकालय चौबीसों घंटे खुला रहता है। पुस्तकालय में पहुँचने पर कोई भी ऊँची आवाज में बात नहीं करता। स्थानीय अमेरिकी छात्रों के पास कारें थीं जबकि भारतीय और चीनी छात्र साइकिलों पर या पैदल घूमते हुए दिख जाते हैं।

सेंट जोज़ेफ (बेन्टन हार्बर) तो 8500 की आबादी वाला कस्बा है किंतु यहाँ भी दो पुस्तकालय हैं, यहाँ से 20 मील दूर एन्ड्यूज यूनिवर्सिटी है जिसमें अंतरराष्ट्रीय पुस्तकालय है। यहाँ के स्थानीय पुस्तकालय में भी प्रातः 10 बजे से रात्रि 9 बजे तक पाठकों की आवाजाही बनी रहती है। रेस्ट रूम की (मूत्रालयों आदि की) व्यवस्था प्रत्येक पुस्तकालय में, प्रत्येक पेट्रोल पंप पर, प्रत्येक स्टोर में मिलेगी, जो सभी को उपलब्ध होती है। हर जगह स्वच्छता, अनुशासन और कर्मठता। कल मेरे पास के एक वरिष्ठ पाठक ने 10-12 मोटी-मोटी पुस्तकें इश्यू करायी। मैंने उनसे पूछा ये पुस्तकें आप कितने दिन में पढ़ेंगे? वह बोला "एक सप्ताह बाद फिर नई पुस्तकें लेने आऊँगा। ये किताबें एक हफ्ते में पढ़ डालूँगा।" मैंने पुस्तक पढ़ने के ऐसे शौक को देख दांतों तले अंगुली दबा ली।

इस छोटे से पुस्तकालय में भी एक-एक सूचना पत्र प्रत्येक पाठक रखता है जिसमें साप्ताहिक कार्यक्रमों का विवरण रहता है। शनिवार दिनांक 6 जून को क्रियेटिव राइटिंग वर्कशॉप (सृजनात्मक लेखन कार्यशाला), 17 जून को फाइबर टेकनीक वर्कशॉप (फाइबर तकनीक कार्यशाला), मंगलवार 23 जून को डिजिटल फोटोग्राफी (सभी का समय शाम 7 से 9 बजे तक), 8 जुलाई को वनस्पतियों की रसोई (कुकिंग विद हर्ब्स), 15 जुलाई बुधवार को मैक योर ज्वैलरी (अपने आभूषण स्वयं बनायें)। इस तरह आगामी एक डेढ़ महीने के साप्ताहिक कार्यक्रमों का विवरण पाठकों के पास रहता है। अपनी-अपनी सुविधा और रुचि के अनुसार कोई भी व्यक्ति अपना नाम अग्रिम रूप से लिखाकर इन कार्यशालाओं में भाग ले सकता है।

इस आलेख के अंत में साहित्य लेखन में भी प्रचलित मानसिकता पर प्रकाश डालना समीचीन होगा। यहाँ गद्य और पद्य की सभी रचनाओं में यौन संबंधों पर खुलकर लिखा जाता है। पुस्तकालयों में भी श्लील-अश्लील सभी विचारों का स्वागत किया जाता है, सभी विचारों वाली पुस्तकें खरीदी जाती हैं, किन्तु स्कूलों में कुछ किताबों की सूची टांग दी जाती है और विद्यार्थियों को सलाह दी जाती है कि उन पुस्तकों को वे न पढ़ें।

□□□

पुस्तकें! मनुष्यता की अमूल्य धरोहर

रतन कुमार पाण्डेय

सत्ता और शक्ति प्रदर्शन के इस कुसंस्कृत समय में, जब प्रभाव की ऊर्जा और चमक को सत्ता और शक्ति ने फीका कर दिया हो, पुस्तक-संस्कृति पर बात करते समय अकबर इलाहाबादी का कथन बरबस याद आता है– 'अकबर नाम लेता है, खुदा का इस ज़माने में' जब उदारीकरण, भूमंडलीकरण, नव उपनिवेशीकरण, नव साम्राज्यवाद आदि के कारण भारतीय-पूंजी ग्लोबल हो रही है, एफ॰डी॰आई॰ रिटेल में लाने हेतु सत्ता आकुल-व्याकुल हो रही है, क्योंकि हमारे पास एक नई अन्तर्दृष्टि पैदा हुई है, उसमें विचारों का आधार, तर्क का आधार, औचित्य का सवाल बेमानी लगता है। आज दुनिया का संचालन मंडी की ताकतों द्वारा हो रहा है। देश का पढ़ा-लिखा युवा अधिकांशतः आज एक विशाल बाज़ार के महासागर में बूंद बनकर कब समा जाता है–पता नहीं चलता। आज तर्क को उन्माद में, सृजन को मनोरंजन में और मूल्यों को कीमत में बदल दिया गया है तब इस बात का विचार नहीं हो रहा है कि हम कौन हैं वरन् इसकी चिंता है कि हम कहां हैं। आज जायज सवाल का नाज़ायज उत्तर देकर उन्हें हाशिए पर ढकेल दिया जा रहा है। ऐसे समय में गोर्की का कथन 'संस्कृति के निर्माताओं तुम किधर हो'? याद आता है। निराला याद आते हैं– 'खड़ी है दीवार जड़ की घेरकर/देखते हों लोग ज्यों मुंह फेरकर'। पर हम न तो समस्याओं से मुँह फेरेंगे न ही चुप रहेंगे। कभी साही ने कहा था– 'लेखक चुप रह सकता है, लेकिन यदि उसने गोली दागने का निश्चय किया है, तो उसे एक मर्द की तरह, निशाने पर गोली चलानी चाहिए। एक बच्चे की तरह नहीं, जो अपनी आंखें बंद करके, धड़ाका सुनने का मज़ा लेने के लिए, कहीं भी गोली छोड़ देता है।' जब चारों तरफ काल रात्रि का अंधेरा हो तो वहां एक दीया भी सूर्य है, जहाँ सब तरफ धू-धू करता रेगिस्तान हो, वहां एक दूब का उग आना ही क्रांति है। लेनिन ने कहा था– 'दुनिया जितनी ज्यादा विभ्रान्त हो, लेखक की नज़र उतनी ही तेज होनी चाहिए। जीवन जितना ज़्यादा भयानक और अस्पष्ट होता है, पाठक उतना ही ज्यादा स्पष्टता की मांग लेखक से करता है।' अतः हम सवाल उठाएँगे, अपनी चिंताऐं बाँटेंगे, चेतना जगाएँगे, अलख जगाएंगे। हम अपने समय और समाज के उन मुद्दों से टकराएंगे जो सत्ता और व्यवस्था द्वारा ओट में कर दिए जाते हैं।

नव साम्राज्यवाद के दौर में एक नई बहस कि पाठन की दशा क्या होगी? भविष्य का पाठक कैसा होगा? 'ई-बुक' और छपी-पुस्तकों के बीच भविष्य के रूप की जो बहस शुरू हुई है, इसमें भारत में विजय किसकी होगी। आज जब छोटी सी डिवाइस में इन्साइक्लोपीडिया और

इलेक्ट्रॉनिक माध्यमों को चलाने की कुशलता कितनों के पास है? ऊर्जा के स्रोत, बिजली की सप्लाई की दशा गांवों में क्या है? जहाँ आज भी चौबीस-चौबीस घंटे मोबाइल तक चार्ज नहीं हो पा रहे हों, दूसरों के घरों में ले जाकर उन्हें चार्ज करना पड़ रहा हो वहाँ कम्प्यूटर कैसे चलेगा, कैसे नेट खुलेगा? किस तरह ई-बुक पढ़ी जाएगी?

पूरी की पूरी डिक्शनरी समा जा रही है तो पुस्तकों को कोई क्यों खरीदेगा? क्यों अपने पास रखेगा? हमें याद रखना होगा कि भारत की लगभग 70 प्रतिशत जनता गाँवों में रहती है जहाँ संसाधनों का घोर अभाव है। जो जनता गरीबी रेखा के नीचे जी रही है, बी॰पी॰एल॰ कार्ड धारक के रूप में जिसकी पहचान है, जो मनरेगा जैसी सरकारी दया-कृपा पर आश्रित रहने के लिए विवश है, वहाँ साक्षरता का प्रतिशत क्या है? जो डिग्री पा भी गए हैं, जिनकी गिनती पढ़े-लिखों में हो रही है, वे इन संसाधनों से कितने बाख़बर हैं। इन इलेक्ट्रानिक माध्यमों को चलाने की कुशलता कितनों के पास है। ऊर्जा के स्रोत बिजली की सप्लाई की दशा गांवों में क्या है? जहाँ आज भी चौबीस-चौबीस घंटे मोबाइल तक चार्ज नहीं हो पा रहे हों, दूसरों के घरों में ले जाकर उन्हें चार्ज करना पड़ रहा हो वहाँ कम्प्यूटर कैसे चलेगा, कैसे नेट खुलेगा? किस तरह ई-बुक पढ़ी जाएगी? क्या नेट चलाने के बाद उसका शुल्क भरने के लिए उनके पास पैसे हैं? क्योंकि जीवन की इस आधुनिकता ने इंसान को व्यापार सिखाया है। व्यापार माने लाभ, जो आज का मूलभूत सिद्धान्त है तब भी पुस्तकें व्यवहार सिखाती हैं, इंसान बनाती हैं।

माना युग तकनीक का है, चीज़ें बदल रही हैं। आज का तन्त्र तकनीक से भरा, तकनीक के साथ है। तकनीक के वर्चस्व ने सब कुछ बदल डाला है, यह झूठा तर्क दिया जा रहा है। बदला जरूर है कुछ लोगों के घरों में, जेहन में, जो दिन-रात 'लूटतन्त्र' का हिस्सा बनकर करोड़ों-अरबों का गोलमाल कर रहे हैं। आज देश की पूँजी कुछ इन्हीं में है, जहाँ काँच की झलकती गगनचुंबी इमारतें बनी हैं, जिनमें मंहगी, अत्याधुनिक कारों में महकते-गमकते कॉरपोरेट जगत के लोग दनदनाते उतर रहे हैं। इन्हीं की जीवन-शैली बदली है। ये ही इन महानगरों, इन कारों, इन इमारतों के सच हैं किन्तु सारे देश का सच यह नहीं है। आज भी देश का विशाल हिस्सा है जहां इस देश का इंसान हर दिन जीवनोपयोगी आवश्यकताओं के लिए हाँड़तोड़ मेहनत-मशक्कत कर रहा है। उसका जीवन 'जस का तस' घिसटने के लिए मज़बूर है। वह इंसानी दरिया जिसे गांधी ने देखा, जो लोहिया को नज़र आता था या हम सब को दिखता है, जो किसी-न-किसी माध्यम से उन बेजुबानों को जुबान दे रहे हैं। इस विशाल आबादी को, इन्टरनेट, डिवाइस या कम्प्यूटर के छोटे से स्क्रीन पर हजारों किताबों की सामग्री को देखने में अभी सैकड़ों वर्ष की दुर्गम यात्रा से गुजरना होगा, आग का दरिया आम जनता की पीड़ा को आयाम देने की कोशिश करने वाली तमाम पुस्तकें, जो प्रतिरोध दर्ज कराती हैं क्यों नेट के संजाल में नहीं शामिल हो पाती हैं। क्या सुख, प्लेजर, वह भी क्षणिक, प्रदान करना ही लेखक का धर्म है? विचारों की जो पूंजी इनमें संचित है वह हमारे लिए आज उपयोगी नहीं है? समय त्रासदी भरा है, लोकतंत्र लंपटतन्त्र बनता जा रहा है। इसी समय से संवाद करना होगा और संवाद हेतु ज्ञान का आलोक पुस्तकों से लेना होगा।

पुस्तकों का दायित्व आत्मा के उजास से जुड़ा होता है। इसी कारण एक अच्छी किताब पढ़कर हम थोड़ा बदलाव महसूस करते हैं। आत्मविकास और जीवन में उन्नति के लिए किताबों के साहचर्य से बड़ा सुख और क्या हो सकता है? एक बेहतर किताब हमारी गुरु है और जीवन को उदात्त बनाने की कड़ी है। पुस्तकों के पढ़ने से एक अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त होता है जो हमारे मन मस्तिष्क को तरोताजा रखता है। पुस्तकें सिखाती हैं और हमारा जीवन नाना प्रकार से उनसे सीखता है। एक प्रकार से पुस्तकें ही यह बताती हैं कि हमारे बीच उपलब्ध संसाधनों की जड़ में क्या है। मनुष्य का जीवन किस प्रकार पल्लवित-पुष्पित तथा विकसित होता है। एक प्रकार से कहें तो कह सकते हैं कि अक्षर ज्ञान के बिना जीवन जीने का ज्ञान संभव नहीं हो सकता। यह दीक्षा पुस्तकें ही देती हैं कि जीवन को इंसान कैसे जिये। एक मुकम्मल इंसान की संरचना इन पुस्तकों द्वारा ही संभव है। चीन में एक कहावत प्रचलित है 'अगर आप एक साल की योजना बना रहे हैं तो मक्का उगाएँ। यदि आप तीस साल की योजना बना रहे हैं तो वृक्ष लगाएँ, लेकिन यदि सौ साल की योजना बना रहे हैं तो इंसान उगाएँ।' इंसान के नवनिर्माण की अवधारणा इन्हीं

पुस्तकों में समाई हुई है। सत्ता और शक्ति हमें दुनिया का भोग करना बताती है किन्तु जीवन को प्रभावशाली ढंग से जीने की कला और गुण पुस्तकें ही दे सकती हैं।

आज पुस्तकों के अस्तित्व को लेकर चिन्तन-मनन चल रहा है। यदि हम इन्हें नहीं बचा पाएंगे तो अपना इतिहास और संस्कृति खो देंगे जो इनके भीतर समाहित हैं। संस्कृति के मायने मनुष्य को सभ्य, शालीन तथा विनम्र बनाने, मानवीय गुणों से संयुक्त करने का काम किताबों द्वारा होता है। एक श्रेष्ठ मनुष्य, मानवीय संवेगों के प्रति चेतनशील मनुष्य, सर्जनात्मक प्रतिभायुक्त, कल्पनाशीलता की उड़ान भरने में समर्थ इंसान बनाने की क्षमता इन्हीं पुस्तकों में है। पुस्तकें ही एक प्रति-संसार रचकर वैकल्पिक विश्व-दृष्टि प्रदान करती हैं। इनमें कभी उज्ज्वल भविष्य का आदर्श संवरता है तो कभी रामराज्य का यूटोपिया निखरता है।

आज भी पाठक हैं, पाठकों का अभाव नहीं है, भले ही उनका टेस्ट बदल गया हो, सोचने के स्थान पर सूचना आ गई हो फिर भी प्रकाशित पुस्तकों और उन्हें हाथ में लेकर पढ़ने का अलग सुख है, अनुभव है। आज भी बहुत से लोगों के लिए पुस्तकों को सहेजकर रखना, समय और सच को सहेजकर रखने जैसा है। पुस्तकों के संचयन और उनकी प्रस्तुति में यदि ताकत न होती तो सदियों से चले आ रहे अनेक ग्रंथ मनुष्यता की अमूल्य धरोहर न होते। पुस्तकें मात्र पन्नों में नहीं पाठकों के भीतर धड़कने वाली सबसे सशक्त और भरोसेमंद माध्यम हैं। इसी तरह पुस्तकालय भी आत्म अध्ययन या स्वाध्याय के तीर्थस्थल हुआ करते हैं। किसी समय सार्वजनिक पुस्तकालय और वाचनालय जन-जन को पाठक बनाने में अपनी महती भूमिका निभाते थे। आज पुस्तकालय-ग्रंथालय संस्कृति के ह्रास ने मनुष्य वृत्ति का बड़ा क्षरण किया है। फिर भी यही कहा जाना चाहिए कि वर्तमान समय के सर्वग्रासी, सर्वनाशी क्षणों में याद रखना चाहिए–

कहर की रात में, ख़्वाबों की फ़िक्र कौन करे,
जले शहर तो गुलाबों का ज़िक्र कौन करे,
मुल्क और मलकूत पर लाइल्म अगर क़ाबिज हों
फ़न की, इल्म की, किताबों का ज़िक्र कौन करे।

इस नव उपनिवेशवादी दौर में जब सत्ताधारी और सत्ताकांक्षी दोनों के पास किताब, लाइब्रेरी, पाठक और लेखक के बारे में सोचने का समय या तो नहीं है या फिर कूवत नहीं है, तब किताबों की जरूरत संकट के समय और बढ़ती जा रही है। इस खतरनाक दौर को, इस अंधेपन को दर्ज करने के लिए, शोषण के इस लोमहर्षक खेल को बताने के लिए और अधिक पुस्तकें और लेखक-प्रकाशक तथा पाठक चाहिए। आज भी प्रतिभा के विस्फोट और सदाशयता के बावजूद ये लोग अभी कम हैं। उनकी संख्या, उनकी गुणवत्ता बढ़ाने की जरूरत है, जिससे सारे राष्ट्र में पुस्तक-संस्कृति फैलायी-बढ़ाई जा सके।

□□□

वाचन-कला

रवीन्द्र पारेख

जिस तरह नृत्य करना कला है, उसी तरह पढ़ना भी एक कला है। नृत्य के लिए जिस तरह पैर चाहिए, उसी तरह पढ़ने के लिए पुस्तकों का ढेर। जैसे सब तरह से नाचा नहीं जा सकता वैसे ही सब कुछ पढ़ा नहीं जा सकता। जिस तरह 'क्या पढ़ना' कला है, उसी तरह 'क्या नहीं पढ़ना' यह जानना भी एक कला है। सरकार से लेकर स्कूल, संस्थाएँ, विद्यार्थियों के लिए 'वाचन-कला' के शिविर आयोजित करती हैं किंतु शिक्षकों के लिए ऐसे शिविरों का आयोजन नहीं होता। इसके दो कारण हो सकते हैं। एक तो यह कि शिक्षक को सब कुछ आता है, इसलिए उन्हें पढ़ने की आवश्यकता नहीं, और दूसरा यह कि उनका काम पढ़ाना है। अतः आवश्यक नहीं कि उन्हें पढ़ना भी आता हो।

मैंने जब भी पढ़ना शुरू किया तब से पुस्तकें कभी समझी ही नहीं, तिस पर भी यदि वह पाठ्यक्रम की हो तो बिल्कुल भी समझ से परे रहीं। लोग क्यों पढ़ते हैं, जैसा प्रश्न लोगों को बुढ़ापे में भी नहीं सूझता किंतु मुझे तो बचपन से ही यह सवाल दुविधा में डालता रहा। इसका जवाब खोजने के लिए भी कुछ पढ़ना पड़ेगा, सोचकर सवाल ही टाल देना अधिक उचित लगा।

यदि सिर्फ अपनी ही बात करूँ तो पढ़ना मुझे कभी अच्छा नहीं लगा। मेरे सहपाठी जिस तरह स्कूल व मोहल्ले की लाइब्रेरी में पढ़-पढ़कर निहाल होते, उन्हें देखकर मेरा दिमाग पक जाता। यूँ भी दिमाग होने की शक्यता कम होने के कारण मैं अधिक माथापच्ची करता भी नहीं। दिखाने के लिए मैं भी लाइब्रेरी में चक्कर जरूर लगा लेता, किन्तु नई की नई किताबें चिपके हुए पन्नों सहित लाइब्रेरी में वापस पहुँचती। लौटाते वक्त कभी भूल से पुस्तक का पिछला पृष्ठ खुल जाता तो उसमें अंकित तारीखों से पता चल जाता कि कितनों ने इसे पढ़ा। फिर इस ख्याल से खुश होता कि पुस्तकों को हानि पहुँचाने में मेरा कोई योगदान नहीं।

मैं बड़ा हुआ, पर बड़े होने में केवल उम्र ही बढ़ती है, ऐसा सोचता था इसलिए पढ़ने में कंजूसी बढ़ती रही। इसके बावजूद कुछ पुस्तकें मुझे अनिवार्यतः पढ़नी पड़ी सो खुन्नस से पढ़ना शुरू किया, आँख बंद कर। और मैंने सिद्ध किया कि 'पढ़ना' केवल शारीरिक श्रम का ही परिणाम है। चश्मा नहीं लगा था फिर भी पढ़ने में बहुत श्रम करना पड़ता। इस श्रम का गुणाकार मैंने इस प्रकार किया कि एक दिन मैं भी लिखूँगा और इतना लिखूँगा कि अपने वाचन श्रम का बदला ले सकूँगा। और सच में मैंने इतना लिखा कि पढ़ने वालों की ऐसी

की तैसी हो जाए। जिस प्रकार पुस्तकें लिखकर लेखकों ने मुझे परेशान किया, उसी तरह अपना लिखा उन्हें पढ़वाकर उनकी नाक में दम करने की इच्छा थी। गुणवत्ता बनाए रखने हेतु लिखने के बाद कभी उसे दुबारा पढ़ने और संशोधन करने की जहमत नहीं उठाई। जब लिखना आरंभ किया तब 'वाद' की महिमा नहीं थी। किसी 'वाद' के साँचे में अपनी पुस्तकों को फिट करने का प्रयास किए बिना मेरी पुस्तकें अपना स्थान ले लेती थीं। किसी का लिखा जिस प्रकार मेरे पल्ले नहीं पड़ता था उसी तरह मेरा लिखा भी किसी की समझ में नहीं आता।

वह युग शायद 'नासमझी' का युग था, जिसके चलते इतिहास में मेरी जगह निश्चित हो गई थी। निस्संदेह मैं लेखक तो हूँ पर साहित्य का ही हूँ, इसमें शक है? यह प्रश्न व्यक्तिगत है। लेखक बनने की हद तक पहुँचने के लिए मुझे बहुतों तक पहुँचना पड़ा। लिखने की शुरूआत की तो मार्गदर्शन के लिए अनेक लोगों के दर्शन करने पड़े। पहुँचे हुए लेखकों ने मेरी पीठ ठोक-ठोककर मुझे ढीठ बनाया। मैं लेखक बनना चाहता था और वे सब मुझे वाचक बनाने हेतु कटिबद्ध थे। सबके अपने पुस्तकालय थे। उनमें इतनी पुस्तकें थी कि केवल पुस्तक-दहन से अंतिम-संस्कार संपन्न किया जा सकता था। ऐसे संग्रह का एक कारण यह भी हो सकता है कि उन्हें यह मालूम था कि लकड़ियाँ कितनी महँगी होने वाली हैं। शहर के इनामी-नामी लेखक मिलने पर मुझे हमेशा यही कहते कि लेखक बनने के लिए खूब पढ़ना चाहिए। मैं पूछता, "अच्छे लेखक बनने के लिए भी?" वे कहते, "हाँ, पाठक लेखक न बने तो कोई बात नहीं, किंतु लेखक को तो पाठक बनना ही चाहिए।" इसके बाद वे मुझे बताते कि किस-किस को पढ़ना चाहिए। अपनी लाइब्रेरी दिखाते हुए कहते कि सार्त्र, काफ्का, काम, रवीन्द्रनाथ, प्रेमचंद, पन्नालाल, फलाना-ढिमाका सब पढ़ना चाहिए।

पर मैं तो फलाना ('उ') यानी उठ जाओ और ढिमाका ('सो') मतलब सो जाओ पर ही अटक गया था। नामी लेखक को मैं अहो भाव से देखता रहा फिर उनकी ही पुस्तकें पढ़ने के लिए ले आता लेकिन पढ़ना आरंभ करते ही ऊँघने लगता। जैसे-जैसे उन लेखक महोदय के निकट आया तो जाना कि वे पढ़ने में मुझसे बहुत आगे थे, बहुत जानकारी थी उन्हें। दो विद्वानों के बीच चर्चा चलती तो उनमें से कुछ नाम कानों में पड़ जाते और फिर सीधे होंठों पर आ जाते। वे भी आठ-दस लेखकों के नाम उछालकर 'वेल रेड पर्सनालिटी' की छवि बना सकते थे। उनके वाचन में 'फ्लैप' की विशेष महिमा होती। फिर अंतिम पृष्ठ पढ़ते, बस! कई बार तो पिछले आवरण पृष्ठ पर प्रकाशित लेखक-परिचय पढ़कर ही काम चल जाता। इतनी सामग्री-मात्र से ही वे प्रश्नों की ऐसी बौछार लगा देते कि सामने प्रश्नों के अतिरिक्त कुछ दिखता ही नहीं। शहर और राज्य में उन्हें मात देने वाले ऐसे ही लेखकों की भीड़ कम नहीं थी, जबकि बिना पढ़े-बिना समझे बहुत कुछ बोलने में मैं स्वयं को ही माहिर समझता था। इन लेखकों ने मुझे इतना तो सिखा ही दिया कि नहीं पढ़ना है तो कोई बात नहीं, पर 'पढ़ते रहना चाहिए' यह हमेशा कहते रहें।

मित्रो! इसलिए आप लोगों से भी कहता हूँ कि वाचन का कोई अंत नहीं, अत: अपना अंत आ जाए उससे पहले कहीं अटक जाएँ। विशेष तौर पर इसलिए कि पुनर्जन्म में विश्वास रखने के कारण 'वाचन' क्रिया तो अगले जन्मों पर भी ठेली जा सकती है, किंतु यह जन्म और जीवन तो पढ़ने में व्यर्थ नहीं गँवाना है, ठीक है न?

□□□

पुस्तकों के सरकारी गोदाम

शरद जोशी

एक समय था जब हर नगर या कस्बे का पढ़ा-लिखा व्यक्ति स्वयं को वहाँ के पुस्तकालय से जोड़े रहता था। पिछले पच्चीस वर्षों में वह पुस्तकालय से छिटककर दूर खड़ा हो गया है। अब वह जगह बौद्धिक प्रेरणा का संचार केन्द्र नहीं रही और न ही पुस्तकालय निर्माण किसी सामाजिक अथवा सांस्कृतिक आन्दोलन का हिस्सा। भ्रष्टाचार, पक्षपात और अव्यवस्था का जो ज़हर देश के सभी गतिविधियों में फैला है, उसने पुस्तकालय को भी नहीं छोड़ा। अब पाठक और उसकी जरूरतें गौण हो गई हैं। पुस्तकों का निर्णय लेखक, विषयवस्तु अथवा रुचि के आधार पर नहीं होता वरन् खरीदने वाले अफसर और किताब बेचने वाले प्रकाशक के आध्यात्मिक अथवा आर्थिक रिश्तों पर तय होता है। कुल मिलाकर सारे पुस्तकालय देश की अनगिनत कचरा पेटियों में बदलते जा रहे हैं जिसमें प्रकाशक अपना कूड़ा फेंक जाता है और चेक उठा ले जाता है, जहाँ पढ़ने को कुछ नहीं मिलता। यहाँ लोग इसी कचरे के ढेर की दुकानों पर सस्ती, गन्दी और लटकी किताबों से ही मुखातिब हो सकते हैं। पुस्तकालय भ्रष्ट धन्धेबाजों के गढ़ बनते जा रहे हैं। यह ताज्जुब नहीं कि पाठक और सही लेखन के बीच ऊँची दीवार खड़ी हो गई है। जहाँ पुस्तकालयों के लिए छपे पिछले बरसों के लाखों रुपयों के संस्करण बरसों तक खत्म न हो पाएँ, वहाँ इससे बढ़कर दुर्भाग्य क्या हो सकता है?

पुस्तकालयों के लिए सरकारी खरीद उस अंग्रेजीपरस्त अफसरशाही के हाथ में है जिसके मन में हिन्दी लेखन के प्रति घोर पूर्वाग्रह है और जो हिन्दी से अपना अपरिचय व्यक्त करने में गर्व समझती है। न उनकी कोई पसन्द है और न कोई नापसन्द। इस मामले में भी उनकी समझ का संसार यहीं तक सीमित रहता है कि खरीद की कार्रवाई खरीद के सरकारी नियमों की खानापूर्ति के मुताबिक चल रही है या नहीं, और मार्च खत्म होने के पहले यह आवंटित रकम हम खत्म कर लेंगे या नहीं? पाठकों को कैसी किताबें मिल रही हैं, यह कभी प्राथमिक समस्या नहीं मानी गई। पिछले कई वर्षों से यह होता रहा है कि दिल्ली या इलाहाबाद से कोई नियमित किन्तु बोर किताबें लिखने या छपाने का धन्धा करने वाला लेखक किसी मन्त्री या अफसर के बँगले पर ठहर जाता है। बोर न भी हो मगर वह अपने प्रभाव से दुर्व्यवस्था उत्पन्न करने आता है। वह एक सेट उस मन्त्री या अफसर को भेंट करता है, अपनी आर्थिक परेशानियों और संघर्ष की करुण कथा सुनाता है, जो कमोबेश प्रायः इस देश के हर

साहित्यकार के साथ है, और उम्मीद करता है कि राज्य सरकार द्वारा उसकी किताबें खरीद ली जाएँगी। यह स्थिति किसी मन्त्री या अफसर को अभिभूत करने के लिए काफी है और वह आदेश दे देता है कि मेरे बँगले में ठहरे महान लेखक की किताबें खरीदी जाएँ। वह नहीं जानता कि इस पक्षपात द्वारा वह कितने अन्य लेखकों के साथ अन्याय कर रहा है और उन पाठकों के साथ भी जिन्हें कभी सरकारी पुस्तकालय से देश की अच्छी किताबें नहीं मिली। राज्य के बारे के नामधारी लेखकों की आँख मध्य प्रदेश के पुस्कालयों के सरकारी बजट पर लगी रहती हैं और वे प्रतिवर्ष अपना कचरा यहाँ सौंप, रकम बनाकर चल देते हैं। मध्य प्रदेश की सरकार तथा पाठकों ने इस सौजन्य और सज्जनता का लगातार दंड भुगता है। आलमारियाँ गाँधी साहित्य, विनोबा साहित्य से भरी पड़ी हैं, जिन्हें शायद ही कोई पढ़ता हो और पाठक और पुस्तकालय के सम्बन्ध टूट गए हैं अथवा क्षीण हैं।

मध्य प्रदेश की सांस्कृतिक जागृति में दूर-दूर तक फैले पुस्तकालयों के महत्त्व को समझते हुए सरकारी अफसरों और नेताओं को अपना रवैया बदलना होगा। भोपाल में ब्रिटिश कौंसिल द्वारा एक पुस्तकालय चलाया जा रहा है जो नगर के बुद्धिजीवियों की जरूरत बड़ी हद तक पूरी कर रहा है। कई आई॰ए॰एस॰ अफसर इस पुस्तकालय में आते हैं मगर आज तक कभी किसी अफसर को यह ख़्याल नहीं आया कि मध्य प्रदेश सरकार हिन्दी का भी एक ऐसा ही पुस्तकालय भोपाल में तथा अन्य नगरों में आरम्भ कर सकती है, जहाँ किताबें अलमारी में बन्द न हों, वे खुली रहें, बैठने, पढ़ने की सुविधा हो और ब्रिटिश कौंसिल की तरह मात्र दस रुपया साल में चार किताबें (जो दस रुपये से कहीं ज्यादा कीमत रखती हैं) तथा चार मैगजीन वहाँ से हर बार प्राप्त की जा सकें। सरकारी पुस्तकालयों की बंद आलमारियाँ और लाइब्रेरियनों की केवल एक स्टोरकीपर की तरह उन्हें सिर्फ संभालकर रखने की रुचि, और इन सबके बावजूद जो किताबें हैं, वे भी रूखी, व्यर्थ, अनुपयोगी, प्रकाशकों से प्रकट-अप्रकट कमीशन से खरीदी गई। पुस्तकालय के क्लर्क को आदेश मिलते हैं कि वह अमुक पाठ्यक्रम की पूरी किताबें खरीद ले और वे किताबें अफसर या नेता महोदय अपने नाम इश्यू करा अपने लड़के या लड़की को देते हैं ताकि वह पाठ्यक्रम पूरा करे। बाद में किताबें दो वर्ष बाद लौटा दी जाती हैं और खोई हुई किताबें राइट ऑफ करवा दी जाती हैं। पुस्तकालय का छोटा-सा बजट, जो हर संकट काल में कम या समाप्त हो जाता है, इसी तरह पूरा हो जाता है।

जब तक पुस्तक खरीद में ऊपरी दबाव की राजनीति चलती रहेगी, पुस्तकालयों की यह हालत बनी रहेगी। जबलपुर के एक मित्र बता रहे थे कि अभी जब श्री रामानुजलाल श्रीवास्तव को आर्थिक सहायता प्रदान करने हमारे मुख्यमंत्री श्री प्रकाशचन्द सेठी जबलपुर गए तो उनसे बड़ा आग्रह किया गया कि सेठ गाविन्द दास पर लिखी पुस्तकों का सेट राज्य शासन खरीदे। माँग यह थी कि पचास हजार रुपये (या शायद एक लाख) की वे किताबें खरीदी जाएँ। श्री सेठी आश्वासन देकर चले गए। किताबें (जैसा मेरे मित्र बता रहे थे) हैं—सेठ गोविन्ददास: कवि के रूप में, सेठ गोविन्ददास: उपन्यासकार के रूप में, आदि। मैंने जब सुना तो मुझे हँसी आई कि यदि शासन उसे खरीदता है तो श्री रामानुज बाबू को सहायता देने से बढ़कर बड़ी रकम वह जबलपुर में सेठ गोविन्ददास को दे रहा है। और जो किताबें बदले में प्राप्त होंगी, उसे कोई नहीं पढ़ेगा, वे पुस्तकालयों में बरसों तक जगह घेरती रहेंगी और पुस्तकालय के कर्मचारी उसकी धूल साफ करते रहेंगे।

स्वार्थी प्रकाशकों, भ्रष्ट अफसरों, और बाबुओं पर प्रेशर डालकर किताबें खपवाकर बजट साफ कर जाने वाले स्वनामधन्य साहित्यकारों के असर से कैसे पुस्तकालयों को मुक्त रखा जाए? किस तरह पाठक और साहित्य के रिश्ते की प्रमुख कड़ी के रूप में पुस्तकालयों को नया जीवन दिया जाए?— ये सवाल इस राज्य की बौद्धिक और सांस्कृतिक चेतना से गहरे जुड़े हैं। पुस्तक चयन करने के लिए जो लोग बैठते हैं, उनमें एकाधिक व्यक्ति ही समकालीन लेखन से परिचित होंगे और अपने निजी जीवन में भी उन्हें किताबें खरीदने-पढ़ने का शौक होगा। टाटपट्टी कांड के बाद केन्द्रीय खरीद लगभग समाप्त है, और शासन और उसके अधिकारी इतना समय नहीं जुटा पाते कि सारी पुस्तकें पढ़ें। चयन की पूरी प्रक्रिया अफसरी है और प्रबुद्ध पाठक की उसमें कोई हिस्सेदारी नहीं। पुस्तकालय पुस्तकों के गोदाम बनकर रह गए हैं।

शासन जनता के साधारण अशासकीय वर्ग की आलोचना या सुझाव पर एकदम तुनकमिज़ाज रुख अख्तियार कर वास्तविकताओं को भ्रामक बताते हुए प्रतिवाद करने लगता है। नतीजा यह है कि किसी भी शासन-संचालित साहित्यिक या सांस्कृतिक गतिविधि में जनता की हिस्सेदारी लगभग समाप्त है। यदि किसी गाँव या कस्बे के लोग अपने पुस्तकालय को ठीक बनाना भी चाहें तो वे बिचारे क्या कर सकते हैं? जो है, उन्हें पढ़ना है। जिस तरह खराब सिक्का अच्छे सिक्के को बाजार से गायब कर देता है, उसी प्रकार बेकार किताबें अच्छी किताबों को हटा देती हैं। आज यही हो रहा है। खेद यह है कि ऐसी अपठनीय किताबों की वृद्धि में शासकीय विभागों का सबसे बड़ा हाथ है।

□□□

पुस्तक-चोर

सत्यपाल सिंह सुष्म

पुस्तक मेले में एक लेखक महोदय एक प्रकाशक से कह रहे थे– "आपका प्रकाशन साहित्य-जगत में सूर्य के समान जगमगा रहा है, जगमगाते रहिये।"

"आप भी गज़ब का लिख रहे हैं, लिखते रहिये।"

"आपने मेरा साहित्य पढ़ा है?"

"पढ़ा तो नहीं है पर लोग-बाग बताते हैं।"

"क्या बताते हैं लोग-बाग?"

"यही कि आप गज़ब का लिख रहे हैं।"

"आपकी क्या राय है?"

"जब लोग-बाग कहते हैं तो गज़ब का ही लिख रहे होंगे आप।"

"तो फिर दूँ एक पांडुलिपि?"

"न, न, ना, मुझे पांडुलिपि नहीं चाहिए। आज-कल पुस्तकें बिकती ही कहाँ हैं।"

एक दर्शक जो शक्लो-सूरत से पढ़ा-लिखा दिखाई देता था, इन दोनों की बातें सुन रहा था। लेखक के पाँव छूता हुआ बोला–"गुरुजी प्रणाम।" अचानक आ टपके इस अपरिचित चेले को इस मुद्रा में देखकर गुरुजी प्रसन्न हुए। घंटों से बेमोल घूम रहे थे। शिष्य ने पैर छुए तो उन्हें ऐसा आनंद प्राप्त हुआ, मानों किसी प्रकाशक ने वर्षों से रुकी रॉयल्टी का भुगतान कर दिया हो। गुरुजी ने अपने शिष्य को उठाया। आशीर्वाद दिया और मन ही मन प्रसन्न होते हुए आगे बढ़ गये। एकांत देखकर शिष्य ने प्रकाशक से पूछा– "इन लेखक महोदय का नाम क्या था?"

"नाम तो मुझे भी याद नहीं आ रहा है पर लिखते गज़ब का हैं। बरसों पहले इनकी एक किताब छापी थी। खूब बिकी। उसी के सहारे मेरा धंधा चला था।"

"ये मेरे गुरु रह चुक हैं। पढ़ाने में ईमानदार थे पर नाम मुझे भी याद नहीं आ रहा है।"

"दूसरों के नामों को कहाँ तक याद रखें। धंधे से ही फुरसत नहीं मिलती। मैं खुद अपना नाम तक भूल चुका हूँ। लोग मुझे प्रकाशन वाले नाम से ही जानते हैं।"

"शाम को मेला बंद होने पर आप पुस्तकें कहाँ रखकर जाते हैं। बरगद प्रकाशन जी" नाम खोजी छात्र ने पूछा।

"रखकर कहाँ जायेंगे। ऐसे ही खुला छोड़ जाते हैं।"

"कोई चुराता-वुराता नहीं है।"

"पुस्तकों को कौन चुरायेगा? एक बार हमारे पूर्वज ने चुरायी थी। उसका दंड अभी तक भुगत रहे हैं। समय हो तो सुनाऊँ पूरी कहानी?"

"समय की कोई कमी नहीं है। आप कहानी सुनाइये।"

इस कथा-श्रोता को पुस्तकों के एक बंडल पर आसीन कर प्रकाशक ने कहानी शुरू कर दी–

"एक व्यक्ति था। जैसे बाकी जनता का विश्वास था, वैसे ही उस व्यक्ति का विश्वास था कि जनमानस को पहचानना हो तो तृतीय श्रेणी के डिब्बे में यात्रा करनी चाहिए। सरकारी गुप्त-एजेंसियों से जब इस बात का पता चला तो उसके अधिकारियों ने गुप्त-मंत्रणा की। मंत्रणा में यह निष्कर्ष निकला कि जनमानस को पहचानना किसी गुप्तरोग से कम भंयकर नहीं है। सरकार को इस दिशा में कुछ करना चाहिए। तब वही हुआ जो मंजूरे-सरकार होता है। तृतीय श्रेणी के डिब्बों को अंतिम हरी झंडी दिखा दी गयी ताकि न रहे बांस और न बजे बांसुरी।"

"तृतीय श्रेणी के डिब्बों के गायब हो जाने से बेचारी जनता तड़फड़ाने लगी। द्वितीय श्रेणी के डिब्बों में चढ़ती सवारियाँ घबराती थीं। आदत जो नहीं थी, धीरे-धीरे पता चला कि जो द्वितीय श्रेणी है, वह नाम की ही द्वितीय है। उनका हाल तृतीय श्रेणी जैसा ही अद्वितीय है, तो इस कहानी का जो नायक था वह अब द्वितीय श्रेणी में यात्रा करने लगा। उसके पास एक संदूकची थी। वह बैठता तो उस संदूकची को जांघों पर रख प्रेमिका की भाँति छाती से टिका लेता। लेटने की जगह मिलती तो उसे सिहाने रखकर तकिया बना लेता। एक बार वह लम्बी यात्रा पर निकला। गरीब जनता यात्रा पर कम ही निकलती है पर जब निकलती है तो अपनी यात्रा को सिंदबाद की यात्रा से कम मानने की भूल नहीं करती। चोरों के एक गिरोह को मेरे इस नायक की हरकतों पर शक हुआ। जैसे धूप में गीला कपड़ा सूखने लगता है वैसे ही उनका शक धीरे-धीर विश्वास में बदलने लगा। उन्होंने सोचा कि हो न हो इसके पास भारी-भरकम रकम है। उन्होंने उससे संदूकची के बारे में पूछा तो पट्ठे ने भोले मन से बता दिया– इसमें मेरे जीवनभर की अमूल्य कमाई है। इसे मैंने औरों की तरह बेईमानी से नहीं बल्कि अपनी मेहनत से जोड़ा है।"

"नायक के इन शुभ इक्कीस शब्दों को सुनकर चोरों का ईमान डोल गया। वे वैसे भी किसी धार्मिक-यात्रा पर नहीं निकले थे। नायक की आँख लगते ही उन्होंने चोरोचित कार्य किया। वे संदूकची को लेकर चम्पत हो गये। किसी सुरक्षित स्थान को अपना ही अड्डा समझकर 'खुल जा संदूकची' कहकर उसे खोला तो उनकी तबीयत सिर धुनने जैसी हो गयी। उसमें हाथ से लिखे हुए कागज थे, जिसे बाद में किसी पढ़े-लिखे ने घोषित किया कि यह तो अमूल्य पांडुलिपि है। यह जानकर चोर परेशान हो गये। उस पुलिंदे का करें तो क्या करें। वे अपने मुख्य धंधे में तो दक्षता से जुटे ही रहे, साथ में साइड बिजनेस के रूप में पांडुलिपि के बारे में भी सोचते रहे। इसी प्रक्रिया में कुछ दिनों के बाद उनमें से एक को अंतर्ज्ञान हुआ। उसने निर्णय किया– 'मैं एक पांडुलिपि को प्रकाशित करूँगा।' उसके साथी इस निर्णय को वाहियात हरकत मानकर अप्रसन्न हो गये।"

"मेरे नायक के जीवन-भर की कमाई जो चोरों की निगाह में कागज़ों का पुलिंदा थी, पढ़े-लिखे की निगाह में एक अमूल्य पांडुलिपि थी, छपकर आयी तो पुस्तक बन गयी और छपते ही ऐसी चाल चली कि विश्वभर में फैल गयी। वह चोर अब चोर नहीं प्रकाशक था और मेरा नायक अब व्यक्ति नहीं लेखक था। वह प्रकाशक से मिला, दोनो प्रसन्न थे। प्रकाशक को अब घर-घर जाकर सेंध नहीं लगानी पड़ती थी। लेखक अपने प्रचार से प्रसन्न था। प्रकाशक की तर्ज़ पर लेखक को भी अंतर्ज्ञान

हुआ जिसके फलस्वरूप उसने प्रकाशक से अपना हिस्सा मांगा जिसे आजकल रॉयल्टी कहा जाने लगा है। प्रकाशक ने जैसा कि आजकल करते हैं, मना कर दिया। प्रकाशक के मना करते ही लेखक ने हथियार डाल दिये और खुद प्रकाशक बन बैठा।"

"इस प्रकार चौर्य-कला की तर्ज़ पर प्रकाशन का धंधा शुरू, पनपने और फैलने लगा। धरती पर पुस्तकों का बोझ ट्रैफिक की तरह बढ़ने लगा। प्रकाशकों की फिसड्डी संतति भी इस धंधे में सहयोग देने लगी। जब वे अपने पैरों पर खड़ा होना सीख गये तो उन्होंने महान और चर्चित लेखकों को एक टांग पर खड़ा करना शुरू कर दिया। ऐसे लेखक भी इस धंधे में आ घुसे जिन्हें उनके प्रकाशकों ने रॉयल्टी तो क्या कागज़-कलम घिसाई तक के भी पैसे नहीं दिये थे। अब जब सभी प्रकाशक बन गये तब पुस्तकें बेचने की समस्या आयी। जनता को पुस्तकों से कुछ लेना-देना नहीं था। पुस्तकें उनके लिए अंगीठियाँ सुलगाने और स्कूल-दफ्तर की रोटियाँ बांधने के काम आती थीं। जो पढ़ने-लिखने में रुचि रखते थे उन्होंने पुस्तकें पढ़े बिना ही ऐसे हाव-भाव दिखाने शुरू कर दिये जैसे हाव-भाव उनसे पहले की पढ़ी-लिखी पीढ़ी दिखाया करती थी। प्रकाशकों ने आपस में पुस्तकों की अदला-बदली भी की। पर यह सब कुछ ऊँट के मुँह में जीरा डालने जैसी बात थी। तभी प्रकाशकों को भी चोर की तरह अंतर्ज्ञान हुआ। इसका नतीजा यह निकला कि पुस्तकों के मेले लगने लगे। जब पशु-मेले लग सकते हैं तो पुस्तक-मेले क्यों नहीं लग सकते? भारत कृषि-प्रधान देश है, यह तो सभी को मालूम है। भारत शिक्षितों का देश भी है, इस बात का प्रचार करने के लिए पुस्तक-मेलों से बेहतर दूसरा तरीका हो ही नहीं सकता। मेलों में सबसे पहले प्रकाशक पहुंचे। फिर लेखक पहुँचने लगे। इसके बाद तफ़रीह लेने वाले पहुँचे। जब जनता को पता चला कि पुस्तक-मेलों में भी तफ़रीह मिलती है तो वह भी सपरिवार पहुँचने लगे। इस तरह सभी पहुँचे पर न पहुँचे जिनकी प्रकाशकों को तलाश थी। एकाध आता भी तो सभी उसे बकरा समझकर अपने-अपने ढंग से हलाल करने के उपाय सोचने लगते। फिर सरकारी खरीद शुरू हुई। अपने-अपने विभाग के खर्चे पर अधिकारी आने लगे। जिसकी जितनी बड़ी जेब होती थी उसका उतना ही ख्याल रखा जाता था। इस प्रकार पुस्तकें हमारे गोदाम से निकलकर सरकारी गोदामों तक पहुँचने लगी।"

जब पशु-मेले लग सकते हैं तो पुस्तक-मेले क्यों नहीं लग सकते? भारत कृषि-प्रधान देश है, यह तो सभी को मालूम है। भारत शिक्षितों का देश भी है, इस बात का प्रचार करने के लिए पुस्तक-मेलों से बेहतर दूसरा तरीका हो ही नहीं सकता। मेलों में सबसे पहले प्रकाशक पहुंचे।

प्रकाशक की कहानी पूरी हो चुकी थी। पुस्तक चुराने के उद्देश्य से आये छात्र ने कहा– "बहुत रोचक कहानी सुनाई, बरगद प्रकाशन जी, मैं इसी कहानी से अपने लेखन की शुरूआत कर सकता हूँ।"

"बिल्कुल, ऐसा करने से तुम पहले चोर बनोगे फिर लेखक और उसके बाद प्रकाशक बनने में कोई कसर बाकी नहीं रह पायेगी।" इतना कहकर बरगद प्रकाशक ने उस भावी प्रकाशक से अपनी एक लघु-सी शंका का निवारण कर आने तक बैठे रहने का निवेदन किया और तेजी से हॉल के बाहर की ओर निकल गया।

□□□

पुस्तक संस्कृति : समकालीन सरोकार

अर्जुन चव्हाण

वर्तमान समय का सबसे चर्चित एवं चिंताग्रस्त विषय है– सांस्कृतिक क्षेत्र का क्षरण, पतन एवं टूटन। उदारीकरण, निजीकरण और वैश्वीकरण के चलते बाजारवाद का जलवा सारी दुनिया ने देख लिया है। उपभोक्ता एवं व्यावसायिक समाज ने जन्म लिया। फलतः संस्कृति का संकट और अधिक गहराता गया। धर्म, समाज, राजनीति, अर्थ एवं सेवा जैसे विविध क्षेत्रों में संस्कृति का अधःपतन निरंतर चलता रहा। ऐसे में 'पुस्तक संस्कृति' पर कोई बड़ा आयोजन होना, कोई विशेषांक निकालना निश्चय ही काबिले तारीफ होगा।

जहाँ भ्रष्टाचार की बुराई हर दल करता हो फिर भी जनलोकपाल विधेयक पारित न होता हो, जहाँ संसद पर हमले होते हों, प्रतिदिन साम्प्रदायिक दंगे-फसाद होते हों, पक्ष और विपक्ष दोनों में भी घपलेबाज और घोटालेबाज नेता हों, धर्म निरपेक्षता की दुहाई देकर जाति-धर्माधारित गंदी राजनीति करते हों, चरित्रहीनता सामान्य बात मानी जाती हो, चोरी, गुंडागर्दी, दादागिरी, लठईगिरी, मारामारी रोजाना जीवन का अभिन्न अंग बनी हो और राम की जय बोलनेवाले खुलेआम रावण जैसा व्यवहार कर रहे हों वहाँ 'पुस्तक-संस्कृति' पर पहल होना बहुत ही प्रासंगिक, अपूर्व एवं ऐतिहासिक घटना है, कहना होगा।

संस्कृति और कुछ नहीं, मानव-समाज के आचार, विचार और व्यवहार का दूसरा नाम है। मनुष्य के परिष्कृत जीवन की परपंरा को ही संस्कृति कहना होगा। 'ज्ञान शब्दकोश' के अनुसार संस्कृति से तात्पर्य है– "शुद्धि, सुधार, परिष्कार, निर्माण, सजावट, आचरणगत परंपरा"[1] असल में संस्कृति वह परपंरा है जो हमारे आचार, विचार और विकास की द्योतक होती है। 'नालंदा विशाल शब्दसागर' में संस्कृति के माने "किसी व्यक्ति, जाति, राष्ट्र आदि की वे सब बातें जो उसके मन, रुचि, आचार-विचार, कला-कौशल और सभ्यता के क्षेत्र में बौद्धिक विकास की सूचक होती है।"[2] कहना होगा कि मानव सभ्यता के नैतिक मूल्य और मानक ही संस्कृति नामक गाड़ी के दो पहिए हैं। स्वस्थ समय और समाज के लिए पुस्तक-संस्कृति एक प्रभावशाली दवा है। इसीलिए पुस्तक-संस्कृति के सामयिक एवं सामाजिक सरोकार का कोई विकल्प नज़र नहीं आता।

पुस्तकों की संस्कृति और संस्कार का महत्त्व

असल में पुस्तकों की संस्कृति संस्कार की संस्कृति है। जहाँ पुस्तकों की उपासना, साधना तथा आराधना होती है वहाँ संस्कृति के अनुरूप माहौल होता है। किन्तु जहाँ पुस्तकों के लिए कोई

पुस्तक संस्कृति और संस्कार का महत्त्व मानव जीवन में प्राणवायु के समान है। इसके ऊपर ही मानव जीवन का यश-अपयश, अभाव-प्रभाव, सुविधा-दुविधा, उन्नति-अवनति, नफा-नुकसान, लाभ-हानि तथा भला-बुरा आदि निर्भर होता है। इतना निश्चित है कि पुस्तक संस्कृति और संस्कार से मनुष्य की उर्ध्व गति है तो उसके अभाव से अधोगति।

स्थान नहीं होता वहाँ संस्कार का कोई मूल्य नहीं होता। संस्कार वस्तुतः मानव विरोधी तत्वों तथा समाज विरोधी तत्वों को बर्दाश्त नहीं करते। संस्कार मूलतः सभ्यता और संस्कृति के उज्ज्वल एवं धवल पक्ष के परिचायक बन जाते हैं। पुस्तक संस्कृति और संस्कार व्यक्ति, समाज एवं राष्ट्र के उन्नयन तथा विकास का मार्ग प्रशस्त करते हैं और वैभवशाली जीवन का भी।

पुस्तक-संस्कृति या साहित्य-संस्कृति को बचाये तथा बनाये रखने की इसलिए भी जरूरत है कि वह मनुष्य के कुशल-मंगल की सोचती है और मनुष्यता की रक्षा की हिमायत करती है। इस संदर्भ में 'आलोचना की राजनीति' विषय पर लिखी मैनेजर पाण्डेय की यह मान्यता द्रष्टव्य है– "साहित्य अपने समय और समाज के मनुष्य की स्थिति तथा नियति की चिंता करता है।"[3] इसीलिए स्वस्थ मानव समाज के लिए पुस्तक-संस्कृति या साहित्य-संस्कृति का विशेष महत्त्व मानना होगा।

पुस्तक-संस्कृति हमारी लेखन परंपरा को प्रस्तुत करती है और तत्कालीन परिवेश से भी रू-ब-रू कराती है। वह सामाजिक तथा सामयिक संकट का परिचय भी देती है। डॉ॰ नामवर सिंह का कहना सही है कि "साहित्य पर सामाजिक संकट का बड़ा घातक असर पड़ता है। ... यदि सामाजिक संकट का प्रभाव साहित्य और संस्कृति के लिए इतना घातक न हो तो मार्क्स और एंगेल्स पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म करने के लिए अपना सारा जीवन क्यों लगा देते?"[4] इससे स्पष्ट है कि पूँजीवादी व्यवस्था को खत्म कर सामाजिक समता को स्थापित करने के लिए संसार की भाषाओं में अनेक श्रेष्ठ साहित्य कृतियाँ लिखी गयीं। इसीलिए साहित्य की संस्कृति एवं इतिहास अपना महत्त्व रेखांकित करता है। दुनिया का श्रेष्ठ साहित्य मूलतः परिवेश की उपज होता है। श्रेष्ठ साहित्य संबंधी नामवर जी की यह मान्यता बेबाक तथ्य प्रस्तुत करती है कि "वह एक निश्चित परिस्थिति में और एक निश्चित परिस्थिति से पैदा होता है। ... परिस्थिति के विरुद्ध लेखक का विद्रोह भी उस परिस्थिति के द्वारा निर्धारित होता है।"[5]

पुस्तक-संस्कृति का महत्त्व मूलतः जीवन की सत्यता तथा स्वतंत्रता के कारण है। डॉ॰ शिवदान सिंह चौहान कहते हैं कि "लेखक और कलाकार की, जीवन-सत्य को प्रतिबिंबित करने की स्वतंत्रता के हम हामी हैं।"[6] इससे भी यह अनायास सिद्ध होता है कि लेखक अपनी पुस्तक के जरिए जीवन-सत्य का उद्‌घाटन करता है और व्यक्ति स्वातंत्र्य का समर्थन भी। इसीलिए पुस्तक संस्कृति का समर्थन तथा संवर्द्धन होना चाहिए। उसे वर्तमान संकट से बचाया जाना चाहिए।

मानव सभ्यता और समाज का इतिहास इस बात का साक्षी है कि जिस समाज या समुदाय को पुस्तक संस्कृति और संस्कार का जितना ज्यादा साहचर्य मिला, वह समाज और समुदाय उतना ही ज्यादा लाभान्वित हुआ। विकसित, उन्नत एवं समृद्ध जीवनयापन करता रहा। किन्तु जो समाज या समुदाय पुस्तक-संस्कृति और संस्कार से वंचित रहा, वह उतना ही ज्यादा पीड़ित, उपेक्षित और अभावग्रस्त जीवन जीने के लिए अभिशप्त हुआ। कहना होगा कि पुस्तक संस्कृति और संस्कार का महत्त्व मानव जीवन में प्राणवायु के समान है। इसके ऊपर ही मानव जीवन का यश-अपयश, अभाव-प्रभाव, सुविधा-दुविधा, उन्नति-अवनति, नफा-नुकसान, लाभ-हानि तथा भला-बुरा आदि निर्भर होता है। इतना निश्चित है कि पुस्तक संस्कृति और संस्कार से मनुष्य की उर्ध्व गति है तो उसके अभाव से अधोगति। जिस समाज और राष्ट्र के मनुष्य को इस संस्कृति और संस्कार से लाभान्वित होने का अधिक अवसर मिला वह समाज और राष्ट्र ही दुनिया में सर्वाधिक विकास का शिखर पा सका और जो वंचित रहा वह पिछड़ गया।

पुस्तक संस्कृतिः भारतीय परंपरा में

वस्तुतः भारतीय पुस्तक/ग्रंथ परंपरा जिन विविध आश्रयों में फलती-फूलती गई उसमें प्रथमतः धर्माश्रय फिर राज्याश्रय और अंततः लोकाश्रय का महत्त्व स्वीकारना होगा। यहाँ जितने भी प्राचीन-अतिप्राचीन ग्रंथों की और उनके पाठकों की एक लंबी

परंपरा मिलती है वह निश्चय ही धर्म से जुड़ी है। वेदों, उपनिषदों तथा पुराण ग्रंथों से लेकर रामायण-महाभारत तक के पठन-पाठन में जो शुरू से आस्था मिलती है, उसमें मूलत: धार्मिकता अंतर्निहित है। इसीलिए भारतीय जनमानस में उन ग्रंथों के परायण की भी लंबी परंपरा मिलती है जो सच्चे अर्थों में जीवन धर्म, मानव धर्म तथा विश्वधर्म के सही चिंतन को प्रस्तुत करती है। गीता, भागवत, रामचरितमानस तथा ज्ञानेश्वरी जैसे ग्रंथ इसी परंपरा की श्रेणी के मानने होंगे।

धर्माश्रय ने पुस्तक संस्कृति को आस्थावान बना दिया, राज्याश्रय ने (इसकी) अभिव्यक्ति को प्रेरित, प्रोत्साहित कर उसे प्राणवान बना दिया तो लोकाश्रय ने उसे जनवादी, वैज्ञानिक तथा आधुनिक बना दिया। जब स्वांत: सुखाय सृजन होता था तब उसका पठन-पाठन भी स्वांत:-सुखाय ही हुआ करता था। किन्तु आत्मसुख, आनंद तथा मनोरंजन की प्राप्ति के अलावा उसमें व्यवहारी ज्ञान का लाभ भी हुआ करता था। जब दुनिया के विविध देशों ने जनतंत्र को तथा लोकशाही शासन व्यवस्था को अपनाया और लेखन स्वातंत्र्य भी प्राप्त हुआ तब निरंकुश शासन व्यवस्था की आलोचना का अधिकार भी हमें संविधान ने प्रदान किया, जिसके फलस्वरूप किताबों के लेखन एवं वाचन के प्रयोजन का दायरा भी बदलता चला गया। फलत: अब ऐसी पुस्तकें अधिक पसंद की जाने लगी हैं जो जनमन की बात करती हैं, लोक जीवन का चित्रण करती हैं, उसकी व्यथा की कथा कहती हैं और अन्याय, अनैतिकता, अमानवीयता, अत्याचार का विरोध और नैतिकता, न्याय, मानवता और सदाचार का समर्थन करती हैं। कहना होगा कि हमारी पुस्तक परंपरा, जो धर्माभिमुख तथा राज्याभिमुख थी, आज लोकाभिमुख होती जा रही है। लोकाश्रय इसकी सच्ची ताकत है और लोकचिंतन इसकी सच्ची आत्मा।

भारतीय पुस्तक परंपरा और मंत्रीगण नेता

यदि भारतीय पुस्तक परंपरा का इतिहास लिखना हो तो उसमें बीसवीं सदी के राजनेता तथा मंत्रीगण के साहित्यिक योगदान को और उनके साहित्य-प्रेम एवं वाचन-संस्कार को दर्ज करना अनिवार्य होगा। इसके बिना वह अधूरा माना जाएगा। ईमानदारी के तत्व का निर्वाह कर लिखी गई गाँधीजी की आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' हो, चाहे वैज्ञानिक दृष्टि एवं अन्वेषण की सूक्ष्मता से संपन्न नेहरूजी की रचना 'भारत एक खोज' हो, जातिवादी समाज व्यवस्था के उन्मूलन की हिमायत करने वाली डॉ॰ बाबासाहेब आम्बेडकर की रचना 'ऍनिहिलेशन ऑफ कास्ट' हो या राष्ट्रपति जैसे पद पर कार्य करते समय की अनुभूति को अंकित करने वाली आर॰ वैंकटरमन की आत्मकथा 'जब मैं राष्ट्रपति था' हो, परिश्रम तथा प्रयास के बूते पर साधारण परिवेश से ऊपर उठकर असाधारण स्थिति और पदों पर पहुँचने की गवाही देने वाली यशवंतराव चव्हाण की आत्मकथा 'कृष्णा का किनारा' हो या वर्तमान परिवेश के यथार्थ को प्रस्तुत कर मूल्यों का पुरजोर समर्थन करने वाली अटल बिहारी वाजपेयी जी की 'मेरी इक्यावन कविताएँ' हो, अभावग्रस्त जीवन से भी मेहनत की बदौलत राज्यपाल जैसे प्रभावशाली पद तक पहुँचनेवाले माताप्रसाद की आत्मकथा 'झोपड़ी से राजभवन तक' और जातिवादी व्यवस्था का शिकार बने प्रतिभाशाली युवक की व्यथा को वाणी देने वाला खण्डकाव्य 'एकलव्य' हो या नई पीढ़ी को ऊर्जा तथा प्रेरणा देने वाली ए॰पी॰जे॰ अब्दुल कलाम की रचना 'अग्नि की उड़ान' हो, ये सभी रचनाएँ भारतीय पुस्तक परंपरा के प्रतिमान तथा कीर्तिमान हैं और धरोहर भी।

एक सच यह भी स्वीकारना होगा कि बड़े पदों पर आसीन वर्तमान राजनयिकों, मंत्रिगणों का न साहित्य-लेखन से लगाव लक्षित होता है और न उसके पठन-पाठन से। इन दिनों इस क्षेत्र की हस्तियों की साहित्य के प्रति यह उदासीनता भी एक चिंतन का विषय बनी है और चिंता का भी।

महाराष्ट्र की महान पुस्तक-संस्कृति

हमारी राष्ट्रीय पुस्तक-संस्कृति के आकाश में महाराष्ट्र की

पुस्तक संस्कृति चमकते तारे की तरह अद्‌भुत, आनंददायी एवं चेतनादायी कहनी पड़ेगी। महाराष्ट्र की भूमि ने राष्ट्र के लिए जैसे ऐतिहासिक, सामाजिक, राजनीतिक और आर्थिक क्षेत्र में एक से बढ़कर एक धुरंधर प्रदान किए हैं वैसे साहित्यिक क्षेत्र में भी। यह वह भूमि है जहाँ संत, महंत एवं राष्ट्रभक्त भी पैदा हुए। ज्ञानेश्वर, तुकाराम, एकनाथ से लेकर नामदेव, सोपानदेव, चोखा मेला, गोरा कुम्हार, नरहरी सुनार, सावता माली और सेना नाई तक और समर्थ रामदास स्वामी से लेकर जनाबाई और बहिनाबाई तक–सबने महाराष्ट्र की सांस्कृतिक तथा साहित्यिक समृद्धि में अपूर्व योगदान किया। हमारे देश की पुस्तक संस्कृति का सुनहला पृष्ठ है महाराष्ट्र की पुस्तक संस्कृति। मध्यकाल से लेकर आधुनिक काल तक के महाराष्ट्र के साहित्यिक इतिहास को इसका गवाह मानना होगा। "दुरितांचे तिमिर जावो, विश्व शांति स्वधर्म सूर्य पाहो ... जो जे वांच्छिल, तो ते लाहो प्राणी जात।" (पीड़ितों के जीवन का अंधेरा नष्ट हो, विश्व में शांति, धर्म का सूर्योदय हो, और जो जिसकी कामना करे, वह उसे प्राप्त हो) जैसे उदात्त और विश्वशांति की कामना करने वाले ज्ञानेश्वर ने महाराष्ट्र में 'ज्ञानेश्वरी' के लेखन के जरिए जिस पुस्तक-संस्कृति की नींव डाली उसे शिखर तक पहुँचाने का दायित्व आधुनिक काल में महाराष्ट्र के सैंकड़ों नहीं, हजारों रचनाकारों ने निभाया है। इनमें वि॰ स॰ खांडेकर (ज्ञानपीठ से सम्मानित प्रथम मराठी लेखक, कुसुमाग्रज (ज्ञानपीठ से सम्मानित दूसरे मराठी साहित्यकार), वि॰ दा॰ करंदीकर (ज्ञानपीठ से सम्मानित तीसरे मराठी साहित्यकार), पु॰ ल॰ देशपांडे, प्र॰ के॰ आत्रें, रणजीत देसाई, शिवाजी सावंत, विजय तेंडुलकर तथा मंगेश पाडगावकर जैसे अनेक नाम रेखांकित किए जा सकेंगे। महाराष्ट्र की तेजस्वी तथा जीवंत पुस्तक-संस्कृति के प्रमाण हैं–यहाँ पर संपन्न होते आ रहे निम्नांकित उपक्रम:–

(1) अखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन।
(2) अखिल भारतीय मराठी नाट्य-सम्मेलन।
(3) अखिल भारतीय मराठी बाल-सुधार साहित्य सम्मेलन।
(4) संत साहित्य सम्मेलन।
(5) दलित साहित्य सम्मेलन।
(6) आदिवासी साहित्य सम्मेलन।
(7) विद्रोही साहित्य सम्मेलन।
(8) दक्षिण महाराष्ट्र परिषद साहित्य सम्मेलन।
(9) विदर्भ साहित्य सम्मेलन।
(10) कोंकण मराठी साहित्य सम्मेलन।
(11) ग्रामीण मराठी साहित्य सम्मेलन।
(12) भारतीय लोक कला साहित्य सम्मेलन।
(13) विश्व मराठी साहित्य सम्मेलन।

इनमें से कुछ मराठी साहित्य सम्मेलन तो ऐसे होते हैं जैसे कोई राष्ट्रीय या सांस्कृतिक उत्सव हो। इनमें सर्वाधिक समृद्ध, प्रतिष्ठित, चर्चित तथा कीर्तिमान स्थापित करने वाले आयोजनों में 'आखिल भारतीय मराठी साहित्य सम्मेलन' को रेखांकित करना आवश्यक होगा जिसके प्रतिवर्ष के हिसाब से अब तक 85 सम्मेलन संपन्न हुए हैं और आने वाला 86वाँ सम्मलेन संपन्न होने जा रहा है। इसमें दो-तीन दिन तक चलने वाले इस आयोजन का प्रारंभ 'ग्रंथ-दिंडी' से होता है। पालकी में ग्रंथ रखकर, हजारों की संख्या में शामिल लोग, ईश्वर से ज्यादा ग्रंथ को महत्त्वपूर्ण मान पुस्तक-संस्कृति के प्रचार-प्रसार में बहुत बड़ा जुलूस निकालते हैं। इस प्रयोजन से कि लोगों को पुस्तक से रू-ब-रू करें, उनके जीवन में भगवान से अधिक पुस्तक का स्थान स्थापित करने में सफलता मिले। साहित्यिक परिसंवाद, चर्चा-परिचर्चा, काव्य-पाठ, संगीत महफिल, साक्षात्कार, लोककला तथा प्रबोधन जैसे विविध उपक्रमों से संपन्न होने वाला यह आयोजन पुस्तक-संस्कृति को बढ़ावा देने वाला अनोखा और अनुपम आयोजन कहना होगा।

इस अनुपात में पुस्तक संस्कृति के संवर्द्धन में प्रतिवर्ष संपन्न होने वाले आयोजनों में अखिल भारतीय मराठी नाट्य-सम्मेलन, दलित साहित्य सम्मेलन, विदर्भ साहित्य सम्मेलन, ग्रामीण मराठी साहित्य सम्मेलन आदि को भी विशेष ख्याति प्राप्त माना गया है। इस संदर्भ में इन सब में सर्वाधिक प्रशंसनीय आयोजन है 'अखिल भारतीय मराठी बाल-कुमार साहित्य सम्मेलन'। पुस्तक संस्कृति की श्रीवृद्धि में इसे संभवत: हमारे देश का वर्तमान कालीन शक्तिशाली, अद्वितीय और अद्‌भुत आयोजन कहना होगा। इस संस्था का बाल तथा कुमार के लिए प्रतिवर्ष जो सम्मेलन आयोजित होता है उसमें केवल बच्चों की सहभागिता होती है। इसके अध्यक्ष के रूप में विख्यात और बुजुर्ग बाल साहित्यकार को चुना जाता है। प्रतिवर्ष नया अध्यक्ष होता है, जिसकी बाल साहित्य में गहरी पैठ हो। इसमें बच्चों को साहित्य-लेखन, पठन-पाठन, सुलेखन आदि संबंधी मार्गदर्शन किया जाता है। पुस्तक संस्कृति से बच्चों को संस्कारित करना इसका मूल्य लक्ष्य होता है। अब तक इसके 23 सम्मेलन संपन्न हुए हैं। 23वाँ सम्मेलन महाराष्ट्र के कोल्हापुर जिले के आजरा तहसील में संपन्न हुआ है, 24वाँ अब रत्नागिरी जिले के राजापुर तहसील के ओणी में संपन्न होना संकल्पित है।

जिनके बूते पर देश का भविष्य, भावी राजनीति और पुस्तक-संस्कृति के जरिये मानव सभ्यता एवं संस्कृति का बनना-बिगड़ना निर्भर है, वह समाज बाल-कुमार समाज ही है। उसके लिए पुस्तक-संस्कृति का अभियान चलाना राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति को मजबूती तथा गरिमा प्रदान करना है।

मराठी में बाल साहित्य की अपनी अत्यंत समृद्ध परंपरा है जिसमें भा॰ रा॰ भागवत (पुणे), लीलाताई भागवत (पुणे), सुधाकर प्रभु (पुणे), डॉ॰ न॰ म॰ जोशी (पुणे), लीला दीक्षित (पुणे), दिनकर देशपांडे (नागपुर), विजया वाड (मुंबई), बाबा भांड (औरंगाबाद), विजया जहागिरदार (सोलापुर), महावीर जोंधळे (औरंगाबाद), राजीव तांबे (मुंबई), गोविंद गोडबोले (कोल्हापुर), मदन हजेरी (राजापुर), राजा मंगळवेढेकर (पुणे) और धोंडीराम कहाळेकर (परभणी) आदि का अवदान वर्णानातीत है। इनमें कुछ रचनाकार ऐसे हैं जिन्होंने पचास से अधिक और सौ के करीब पुस्तकों का लेखन किया है। प्रत्येक बाल साहित्यकार की अपनी अलग पहचान है, अलग खासियत है। इनमें से अनेक रचनाकार गुजर गए हैं तो कुछ रचनाकार आज भी लेखनरत हैं। राजापुर निवासी मदन हजेरी बच्चों के भावात्मक तथा बौद्धिक विकास को केंद्र में रखकर संस्कारक्षम बाल-साहित्य का सृजन कर रहे हैं। रत्नाकार मतकरी बाल नाटक के जरिए बच्चों का मनोरंजन करने वाला साहित्य देकर बच्चों को संस्कारित कर रहे हैं। गोविंद गोडबोले के उपक्रम तो अनोखे हैं, जिन्होंने प्राणी कथा, संस्कार कथा, बाल नाटक जैसी 75 से अधिक पुस्तकें लिखी हैं और इसमें पाँच पुस्तकें ऐसी हैं जिनकी कीमत महज एक-एक रुपया है।

इन सबके लेखन का एकमात्र उद्देश्य है बाल-जगत में पुस्तक-संस्कृति दृढ़मूल हो। इसके साथ ही एक और उल्लेखनीय बात है प्रकाशन संस्था की। यहाँ जोत्सना प्रकाशन (पुणे), स्पर्श प्रकाशन (राजापुर), शब्दवेल प्रकाशन (कोल्हापुर) तथा श्रीपाद प्रकाशन (कोल्हापुर) जैसी कई प्रकाशन संस्थाएँ हैं जो केवल बाल-साहित्य की पुस्तकें प्रकाशित करने के लिए समर्पित हैं। इन सभी कारणों से पुस्तक-संस्कृत की विरासत में मराठी के 'बाल साहित्य का योगदान' प्रशंसनीय मानना होगा। जिनके बूते पर देश का भविष्य, भावी राजनीति और पुस्तक-संस्कृति के जरिए मानव सभ्यता एवं संस्कृति का बनना-बिगड़ना निर्भर है, वह समाज बाल-कुमार समाज ही है। उसके लिए पुस्तक-संस्कृति का अभियान चलाना राष्ट्र की सभ्यता और संस्कृति को मजबूती तथा गरिमा प्रदान करना है।

प्रकाशक का निवेदन, हजारों, लाखों की खपत के कई संस्करण

"पुस्तकें खरीदकर पढ़ने वाले पाठक यहाँ हैं, हमारे इस विश्वास की रक्षा करें" जैसे निवेदन एक ओर हैं तो दूसरी ओर हजारों लाखों की संख्या में बिकने वाली पुस्तकें भी प्रमाणित करती हैं कि भारत में पुस्तक संस्कृति हरी भरी है और अपनी जवानी का जलवा समय-समय पर दिखाती रही है। प्रेमचंद के 'गबन', 'गोदान' हो या भगवतीचरण वर्मा का 'चित्रलेखा', प्रसाद की 'कामायनी' हो या महादेवी की 'स्मृति की रेखाएँ', हरिवंशराय बच्चन की 'मधुशाला' हो या दिनकर के 'कुरूक्षेत्र', 'उर्वशी', 'रश्मि रथी', मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत', 'यशोधरा' हो या राजेन्द्र यादव का 'सारा आकाश', मोहन राकेश का 'आधे अधूरे' तथा कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' हो या सुरेंद्र वर्मा का 'मुझे चाँद चाहिए', इन सब की हजारों और लाखों प्रतियाँ रातों-रात बिकना इस बात का प्रमाण मानना होगा। इन रचनाओं के लगातार नये-नये संस्करण निकलना और बिकना इस संस्कृति की समृद्धि का द्योतक नहीं तो और क्या है? यहाँ तक कि भारतीय अंग्रेजी लेखकों की रचनाओं का बड़ी संख्या में पाठक तक पहुँचना भी हमारी पुस्तक संस्कृति पर प्रकाश डालना है। "अमिश का पहला उपन्यास 'दि इम्मोर्टल्स ऑफ मूलूहा' अपनी पहली आवृत्ति में एक लाख बिक चुका है। उसके बाद आवृत्तियों पर आवृत्तियाँ आती जा रही हैं। .. अश्विन सांधी का 'चाणक्य चैंट' पिछले वर्ष बाजार में आया और आते ही इसकी 40 हजार

प्रतियाँ रातों-रात बिक गई। फिर आवृत्तियों की झड़ी लग गई।"[7] यह वह घटना है जो वाचन संस्कृति खत्म होने का अरण्य रोदन करने वालों को जवाब देती है कि आशावान और आस्थावान बने रहो।

पुस्तक संस्कृति के देश में कुछ अस्पृश्य पुस्तकें

जिस देश में पुस्तकों की लाखों प्रतियाँ रातों-रात बेची, खरीदी और पढ़ी जाने की परपंरा है उसमें कभी-कभी कुछ पुस्तकें अस्पृश्य के रूप में भी लक्षित होती हैं। इसके प्रमाण हमें ग्रंथालय में मिलेंगे। बीस-पच्चीस साल पहले, ग्रंथालय में आई कोई नई पुस्तक एक भी पाठक द्वारा न पढ़ी जाना उसके अस्पृश्य होने का सबूत देता है। लगता है उसका कोरा-कुँआरा रूप मानो अपनी व्यथा लिखने के लिए हमें प्रेरित कर रहा है। पुस्तक की सार्थकता पाठकों तक पहुँचने में होती है। उसके अस्तित्व तथा जीवन का साफल्य वाचक के हाथ में होने और उसे पढ़े जाने में होता है। किन्तु जब यह सौभाग्य किसी रचना को सालों-साल नहीं मिलता, उसे प्रकाशक के गोदाम में पड़े रहना पड़ता है या महज ग्रंथालय के आलमारियों की शोभा बढ़ाने के काम में आना पड़ता है, तब उसकी पीड़ा को अंकित करना आसान नहीं रहता। बड़े-बड़े ग्रंथालयों की खूबसूरत आलमारियों में अपनी पैदाइशी खूबसूरती के साथ जब कोई पुस्तक सालों-साल अछूती पड़ी दिखाई देती है, तब मानो वह अपने अस्पृश्य बनकर उपेक्षित पड़े रहने की व्यथा को वाणी देने के लिए कह रही (गिड़गिड़ा) हो। वह मानो इंतजार कर रही है– पाठक के हाथ में पहुँचने की घड़ी का, अपने को उघाड़ने का। वह तड़प रही है अपनी उपेक्षा को खत्म करने वाले पल को पाने के लिए, अपने बाँझपन अर्थात अस्पृश्य रूप से छुटकारा पाने के लिए कि कोई पाठक उसे पा ले, उसे हाथ में ले ले, खोले और पढ़ डाले।

वर्तमान समय में पुस्तक-संस्कृति और संस्कार पर संकट

वर्तमान युग मूलत: संचार साधनों की अपूर्व क्रांति का युग है। पुस्तक-संस्कृति बाजारवाद के संकट से प्रभावित है। डॉ॰ मैनेजर पाण्डेय साहित्य-आलोचना के संदर्भ में चिंतन करते हुए साहित्य तथा संस्कृति पर पड़ रहे बाजार के प्रभाव को इन शब्दों में स्वीकारते हैं– "आज बाजार ही संस्कृति और सांस्कृतिक सर्जनाओं का मूल्य तथा महत्त्व तय कर रहा है। साहित्य की संस्कृति पर भी बाजार का गहरा असर है।"[8] कहना आवश्यक नहीं कि पुस्तक-संस्कृति पर मंडराने वाले अनेक संकटों में से एक नया संकट है–बाजारवाद और बढ़ती हुई बाजारवादी मानसिकता।

पुस्तक संस्कृति का एक और संकट है राजनीति। साहित्य का राजनीति से प्रभावित होना तथा जुड़ना हमारे यहाँ नई बात नहीं। यह सदियों से राजनीति से प्रभावित मिलेगा। विशेषत: आधुनिक काल में कुछ ज्यादा ही। हिन्दी के आदिकालीन तथा रीतिकालीन साहित्य में आश्रयदाता राजा-महाराजाओं की छवि को कवि ने उतना नहीं रेखांकित किया जितनी उनकी कामना को। अमृतराय की यह मान्यता स्वीकार्य माननी होगी कि "साहित्य राजनीति का अनुचर नहीं उसके आगे-आगे चलने वाली मशाल होता है। और इस मशाल में रोशनी भी तभी तक रहती है जब तक साहित्यकार का अपना विवेक प्रकाशित है।"[9] अत: कहना होगा कि साहित्य में विवेक महत्त्व रखता है, उसी पर किसी पुस्तक का क्षणजीवी अथवा कालजयी होना, न होना निर्भर करता है। राजनीति हो, चाहे उससे प्रभावित पुस्तक, दोनों का महत्त्व विवेक के कारण है। आदिकालीन तथा रीतिकालीन रचनाओं में 'विवेक' से ज्यादा सत्ताधारी की 'प्रशंसा' तथा 'रंजन' को अधिक अहमियत दी गयी। तुलना में आधुनिक कालीन साहित्यकार ने 'विवेक' का प्रयोग कुछ ज्यादा किया। अक्षम और पाखंडी राजनयिकों को तथा गंदी राजनीति का पर्दाफाश आधुनिक कालीन रचनाओं में कुछ ज्यादा किया हुआ मिलेगा। अमृतराय का यह कहना गलत नहीं कि "राजनीति बहुत बदनाम शब्द है।"[10] साहित्य तथा पुस्तक की दुनिया ही हमें वर्तमान समय की राजनीति एवं राजनियकों से रू-ब-रू करा देती है। इससे भावी संकट से बचने की दृष्टि भी मिल जाती है।

वैज्ञानिक आविष्कार और संचार माध्यमों के अधुनातन रूपों से विकास के सारे रास्तों ने मानव को साधन-सुविधाओं के शिखर पर पहुँचा दिया। मनुष्य ने भौतिक साधन-सुविधाओं का जुगाड़ करने में अपना जीवन दांव पर लगा दिया। कुछ हद तक उसकी प्राप्ति में उसे यश भी मिला, किन्तु उसकी प्राप्ति से उसे जो सुख-शांन्ति मिलनी चाहिए थी, नहीं मिल पायी। सारे साधन-सुविधाओं के बावजूद सुख और शांति की अपेक्षा दुख और चिंता ने उसे घेर लिया है। इसका मूल कारण है पुस्तक-संस्कृति और संस्कार से उसका जुदा होना और आधुनिक संचार माध्यमों (मीडिया) से अभिन्न रूप से जुड़ जाना। रेडियो, एफ॰एम॰, स्थानीय रेडियो, दूरदर्शन, उसके सैंकडों नहीं बल्कि हजारों चैनल, संगणक, इंटरनेट, ई-मेल, तीन डब्ल्यू अर्थात वेब की सुविधा, लैपटॉप, दूरदर्शन में एल॰सी॰डी॰, एल॰ई॰डी॰, थ्री॰डी॰, पेन ड्राइव, रेकॉर्डिंग तथा नेट आदि की सेवाएँ उपलब्ध होने से यह दुनिया मानो मुट्ठी में समाती जा रही है। मोबाइल फोन ने मनुष्य को मानो ई-मैन अर्थात इलेक्ट्रॉनिक मनुष्य बना दिया है। इंटरनेट और मोबाइल ने दुनिया की सारी दूरियाँ तोड़ दी हैं। इनके चलते दुनिया के किसी भी कोने में स्थित किसी भी मनुष्य

को पकड़े जाना और उससे अपना काम निपटा लेना आसान तथा कुछ ही पलों में संभव हो रहा है।

लेकिन इस सब के बावजूद वर्तमान मनुष्य अति व्यस्तता से भरी जिंदगी में बेचैन, चिंताक्रांत और अस्वस्थ होकर जीने के लिए बाध्य हुआ है। इसके जितने भी महत्त्वपूर्ण कारण हैं उनमें से एक है उसका पुस्तक-संस्कृति और संस्कार से कट जाना। इन दिनों संचार माध्यम मनुष्य के दिलो-दिमाग पर इस कदर हावी है कि इनके बिना वह अपनी दिनचर्या की कल्पना भी नहीं कर सकता। अत: वर्तमान समय में मनुष्य के पास न पुस्तक लेने, पाने तथा पढ़ने के लिए समय है और न उसकी ऐसी चाहत भी है। ऐसे में मानों उसे कोई भेंट में या मुफ्त में भी पुस्तक देगा तो भी वह उसे पढ़ेगा इसकी कोई गारंटी नहीं। परिणामस्वरूप आज पुस्तक संस्कृति और संस्कार पर संकट मंडरा रहा है, जिसका खामियाजा मनुष्य को ही भुगतना पड़ रहा है। यदि यही सिलसिला आगे चलता रहे तो हमारी सभ्यता और संस्कृति पर विकृति हावी होगी इसमें संदेह नहीं। तब मनुष्य जीवन पर संस्कृति की अपेक्षा विकृति सवार होगी। इस संकट से बचने का एक ही इलाज है और वह है पुस्तक-संस्कृति और संस्कार का अनुसरण। यही वह अकेली दवा है जो विकृति की बीमारी का इलाज कर सकती है। इसे अपनाने से चरित्र, मूल्य, मानक, न्याय, स्वातंत्र्य, समता, बंधुता तथा मानवता आदि की रक्षा संभव होगी। पुस्तक संस्कृति और संस्कार ये वे चीजें हैं जो मनुष्य को पतन से बचा सकेंगी, संकट के मंडराते हुए भी बेहतर भविष्य बहाल करेंगी।

पुस्तक-संस्कृति के बचाव की भावी योजनाएँ

यह सही है कि हमारा राष्ट्र और हमारी सभ्यता पुस्तक-संस्कृति की पक्षधर है। दुनिया में हमारी जो विशेष पहचान है वह उज्ज्वल संस्कृति की विरासत की बदौलत है। इसीलिए दुनियावाले हमारी गरिमामयी सांस्कृतिक बातों के प्रति न केवल आकर्षित हो रहे हैं बल्कि उसका अनुसरण तथा अनुगमन भी कर रहे हैं। तभी तो कुछ वर्ष पूर्व महाराष्ट्र के चाफल के राम मंदिर में यूरोप के करीब दर्जनभर युवक-युवतियाँ आये, भारतीय पद्धति से विवाह कर अपने देश चले गए। लेकिन इसके बावजूद वर्तमान समय का कटु सच हमें स्वीकारना होगा कि बदलते परिवेश के प्रभावस्वरूप हमारी पुस्तक-संस्कृति खतरे में आई है। दो राय नहीं कि उसका बचाव होना चाहिए। किंतु यह तभी संभव है कि जब हमारे पास ठोस योजनाएँ-परियोजनाएँ हों और उनका क्रियान्वयन भी ईमानदारी एवं निष्ठा से हो। पुस्तक-संस्कृति को बल, शक्ति एवं ऊर्जा प्रदान करने के लिए हम निम्नांकित योजनाओं को अमल में ला सकते हैं–

(1) 'जहाँ गाँव, वहाँ ग्रंथालय' योजना का निर्माण एवं अनुसरण।

(2) 'मदिरालय हटाकर, पुस्तकालय की स्थापना' करना।

(3) 'जहाँ परिवार रोज हो, वहाँ पुस्तक भेज दो' का क्रियान्वयन।

(4) 'निजी ग्रंथालय योजना की स्थापना' और उसे विशेष अनुदान प्रदान करना।

(5) सार्वजनिक ग्रंथालयों में पाठक को नि:शुल्क सदस्यता प्रदान करना।

(6) राशन कार्ड की तरह पुस्तक कार्ड देना और अनाज के साथ रियायती दामों में पुस्तकें उपलब्ध कराना।

(7) संस्कारक्षम समाज उपयोगी स्तरीय पुस्तकों के लिए प्रकाशन अनुदान देना।

(8) बाल-कुमार साहित्य के प्रकाशन का विशेष प्रयास करना।

(9) संस्कार एवं संस्कृति केंद्रित लेखन के प्रकाशन को अनुदान देना।

(10) हर गाँव, कस्बे, नगर, शहर, महानगर में प्रति वर्ष एक पुस्तक मेला लगाना।

(11) प्रति वर्ष पुस्तक प्रदर्शनी का आयोजन।

(12) दूरदर्शन तथा उसके विभिन्न चैनलों से पुस्तकों के विज्ञापन दिलवाना।

(13) संचार माध्यमों के जरिए नई पुस्तकों की जानकारी प्रतिदिन नियत समय पर देना।

(14) हर पुस्तकालय से प्रति वर्ष 'बेस्ट रीडर' के रूप में एक पाठक को सम्मानित करना।

(15) श्रेष्ठ लेखक के साथ-साथ पाठक को भी पुरस्कृत करना।

(16) पुस्तक संबंधी सामान्य ज्ञान पर आधारित प्रतियोगिताओं का आयोजन करना।

(17) नई पुस्तकों की समीक्षा को संचार माध्यमों से प्रसारित करना।

(18) पुस्तक संबंधी वाद-विवाद-संवाद का प्रतिवर्ष आयोजन करना।

(19) वाणिज्य, विज्ञान तथा वैद्यकशास्त्र के पाठयक्रमों में भी संस्कारशील साहित्य का एक पर्चा अनिवार्य करना।

(20) विद्यालय, महाविद्यालय तथा विश्वविद्यालय के छात्रों को पुस्तक खरीदने के लिए विशेष छूट देना।

इन सारी योजनाओं के गठन एवं क्रियान्वयन से 'पुस्तक-संस्कृति को संकट से बचाया जा सकता है। उपर्युक्त सारे सुझाव अंतिम नहीं है, किन्तु कम-अधिक मात्रा में हर एक का अपना प्रयोजन है और महत्त्व भी। पुस्तक संस्कृति और संस्कार को उर्जा प्रदान करने वाला यह 'बीस सूत्री' चिंतन प्रबल आकांक्षा और यथोचित क्रियान्वयन से ही संभव होगा इसमें संदेह नहीं।

निष्कर्षत: कहना होगा कि उस समय और समाज को अधिक समृद्ध एवं परिष्कृत कहना होगा जो पुस्तक संस्कृति की हिमायत तथा पुरजोर पहल करता है। पुस्तक-संस्कृति, व्यक्ति, समाज और राष्ट्रीय जीवन के उन्नयन तथा विकास को गतिमान एवं मूर्तिमान बनानेवाली संस्कृति है, जो हमारे परिष्कृत जीवन को अधिकाधिक धवल एवं उज्ज्वल बनाती रहेगी। यह वह संजीवनी है जिसे पाकर हम ऐसी शक्ति पायेंगे जिसके बूते पर वर्तमान सारे संकटों का सामना करना संभव होगा। दुनिया के सारे देशों को यह भारतीयता की पहचान कराती आई है और आगे भी कराती रहेगी। वर्तमान समय में पनपती हर क्षेत्र की विकृति से लड़ने के लिए अगर कोई अंतिम हथियार और संजीवनी है तो वह है पुस्तक संस्कृति। उसका समर्थन हम सब का फर्ज है।

संदर्भ संकेत

1. सं॰ मुकुंदलाल द्विवेदी–ज्ञान शब्दकोश, पृष्ठ 802, ज्ञानमंडल लिमिटेड प्रकाशन, बनारस, संशोधित संस्करण-1986
2. सं॰ नवलजी–नालंदा विशाल शब्द सागर, पृष्ठ 1388, आदेश बुक डिपो, नई दिल्ली, संस्करण 1988
3. मैनेजर पाण्डेय–आलोचना की सामाजिकता, पृष्ठ 22, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005
4. सं॰ सुधीश पचौरी–नामवर के विमर्श, पृष्ठ 380, प्रवीण प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1995
5. वही, पृष्ठ 383
6. डॉ॰ शिवदानसिंह चौहान–परिप्रेक्ष्य को सही करते हुए, पृष्ठ 40, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1999
7. सं॰ रवींद्र कालिया–नया ज्ञानोदय, मासिक पत्रिका, पृष्ठ 78, नवंबर 2012, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, नई दिल्ली, संजय निरूपम के लेख 'लोकप्रियता का आकाश छूते भारतीय अंग्रेजी उपन्यास' से
8. मैनेजर पाण्डेय–आलोचना की सामाजिकता, भूमिका से, वाणी प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 2005
9. अमृत राय–प्रेमचंद की प्रासंगिकता, पृष्ठ 62, हंस प्रकाशन, इलाहाबाद, प्रथम संस्करण 1985
10. वही, पृष्ठ 63

□□□

आवश्यक है राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति

अमिय बिन्दु

किसी भी राष्ट्र की संस्कृति उसकी आत्मा की तरह है। इसमें राष्ट्र के जीवन के स्पन्दनों को महसूस कर राष्ट्र के अस्तित्व को अनुभूत किया जा सकता है, लेकिन यह भौतिक रूप से दिखाई नहीं पड़ती। इसी प्रकार किसी व्यक्ति के, समूह के, समुदाय के या फिर राष्ट्र के काम करने के दौरान उनकी संस्कृतियों को महसूस किया जा सकता है। संस्कृति के बिना कोई भी राष्ट्र मात्र भौतिक ढाँचे के समान होता है, जिसमें कोई जीवन नहीं। संस्कृति ही वह कसौटी है जिससे जीवन की गुणवत्ता की माप की जाती है और वह मापदण्ड है जिससे जीवन की लय और गति को मापा जाता है। अत: संस्कृति एक जीवंत अवधारणा है। इसे एक बन्द प्रणाली या अन्तिम उत्पाद के रूप में नहीं देखा जा सकता, बल्कि यह एक गतिशील और विकासमान प्रक्रिया की तरह है। प्रसिद्ध विद्वान क्रोएबर ने इसी गतिशीलता को इंगित करते हुए कहा था कि किसी सभ्यता की वास्तविक प्रकृति 'हो जाना' नहीं है बल्कि 'बनते रहना' है।

विश्व की प्रत्येक संस्कृति अपने में कुछ अद्वितीय विशिष्टताएँ विकसित करती है जिनसे उसे एक अलग पहचान मिलती है। यह पहचान उसे विश्व की अन्य दूसरी संस्कृतियों से अलग करती है। भारतीय संस्कृति की सर्व समावेशी तथा बहुलवादी प्रकृति के साथ ही इसकी सातत्यता तथा अनेकता के तले एकता का एहसास विश्व में अलग पहचान बनाता है। भारतीय संस्कृति की यह बहुरंगी कायनात विविध रंगों और पैटर्नों के तंतुओं से बुनी गई है। भारत को विभिन्न प्रजातियों तथा नृ-वंशियों के गलन पात्र के रूप में देखा जा सकता है जहाँ ये सारी धाराएँ मिलकर एक हो जाती हैं। भारतीय संस्कृति एक ऐसी नदी के समान है जिसमें हर कदम पर सहायक नदियाँ आकर मिलती गई और मिलकर साथ-साथ बहती रहीं। अलग-अलग समयों में, अलग-अलग क्षेत्रों से आने वाले समूह अपने साथ अपनी-अपनी परम्पराएँ और रीति-रिवाज लेकर आए, लेकिन समय के साथ वे भारतीयकरण के दौर से गुजरे और पूर्णत: भारतीय बन गए। उनके भारतीयकरण में ये चार चरण इंगित किए जा सकते हैं-

- विविध सांस्कृतिक तत्वों और सांस्कृतिक तकनीकों का मिश्रण
- उन विविध तत्वों में आपसी सम्मिलन, फिर
- संस्कृतीकरण की प्रक्रिया और अन्तत:

• स्थानीय तथा विदेशी विश्वासों, रीति रिवाजों का समावेशन और अनुकूलन।

इतिहास में ऐसा कभी नहीं हुआ कि विदेशी संस्कृतियों का पूरी तरह भारतीयकरण करके उनका सम्मिलन हुआ हो बल्कि हमेशा ऐसा ही हुआ कि स्थानीय विशिष्टताओं के साथ उन्हें मुख्यधारा में शामिल कर लिया गया। जैसे कि गोत्र की प्रचलित भारतीय परम्परा को अन्य बहुत-सी संस्कृतियों ने अपनाया लेकिन उसका वही अर्थ नहीं रहा जो प्रारम्भिक भारतीय समुदाय के लिए था। कुछ ने तो मात्र प्रतीकात्मक तौर पर अपना लिया था और वैवाहिक संबंधों तक के लिए उसे नहीं मानते। इस तरह से स्थानीय परम्पराओं का समावेशन और फिर उनका भारतीय संस्कृति की धारा में अनुकूलन कई भाषायी और भाषाशास्त्रीय साक्ष्यों के आधार पर सिद्ध किया जा चुका है।

संस्कृति कभी भी राजदरबार या कुछ प्रभावी लोगों के आसपास सिमटी नहीं रह सकती। भारत में तो यह सदैव से लोकरंजन से संबंधित रही है। देश के किसी कोने में स्थित एक आम आदमी भी जो करता है वह भारतीय संस्कृति के क्षेत्र में आता है। किसी क्षेत्र की भौगोलिक स्थिति, जलवायु, मिट्टी की प्रकृति, वहाँ के जीव और वनस्पति आदि बातों का असर संस्कृति पर पड़ता है। यही विविधता भारतीय संस्कृति की महती विशेषता है। इतना ही नहीं भौतिक पर्यावरण के सम्पोषण, पारिवारिक मूल्यों के परिरक्षण तथा समाज में नागरिक संस्थाओं के संरक्षण में संस्कृति की भूमिका महत्वपूर्ण है। संस्कृति व्यक्तियों को तथा समूहों को कलात्मक अभिव्यक्तियों के लिए प्रोत्साहित करती है, जिससे अन्य क्षेत्रों में विकास के लिए रास्ता मिलता है। भारत में संस्कृति ही राष्ट्रीय एकता का वाहक है। राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता का प्रश्न संस्कृति से गहरे जुड़ा है। हम चाहे जितना भी तकनीकी विकास कर लें, चाहे जिस आधुनिक या उत्तर आधुनिक समाज की स्थापना कर लें, लेकिन किसी भी भारतीय के लिए यह ग्राह्य नहीं हो सकता कि वह अपनी संस्कृति के किसी तत्व को अनुपयोगी, पुराना मानकर अस्वीकृत कर दे। भारत मात्र भौगोलिक इकाई का नाम नहीं है, इसकी सांस्कृतिक पहचान सभी भौतिक सीमाओं का अतिक्रमण करती है और अपने उत्कृष्टतम रूप में भारत का हर नागरिक अपने को भारतीय इसलिए नहीं कहता कि वह केवल उस भूखण्ड में निवास करता है। उसके भारतीय होने के पीछे उसकी सांस्कृतिक मजबूती होती है और वह स्वयं को सनातन संस्कृति का अंग महसूस करता है। जैसा कि जवाहर लाल नेहरू ने भी अपनी राष्ट्रीयता को इंगित करते हुए कहा था कि *भारतीयता एक एहसास है, एक स्वप्न है, एक दृष्टि है और एक भाव है।*

जैसा हमने देखा, संस्कृति एक गतिशील अवधारणा है जिसके संरक्षण और लगातार विकास की जरूरत पड़ती है। संरक्षण का यह कार्य आदिम काल से होता आया है और इसी संरक्षण की वजह से हम अपने को मानव विकास की धारा में बनाए रखे हुए हैं। यह संरक्षण कभी लोगों के सामूहिक प्रयासों द्वारा हुआ तो कभी वृहद पैमाने पर राजाओं और उनके दरबारियों द्वारा होता रहा। कला की ऐसी बहुत सी विधाएँ हैं जिनमें व्यक्तिगत तौर पर चाहकर भी कुछ नहीं किया जा सकता। इसीलिए व्यक्तिगत प्रयत्नों से इतर हमें संस्थाओं या राजनीतिक शक्तियों की ओर देखना पड़ता है। कोई एक व्यक्ति ताजमहल की संकल्पना, डिजाइन तो कर सकता है लेकिन जब तक शाहजहाँ जैसा शासक नहीं मिलेगा उसे साकार रूप देना संभव नहीं हो सकता।

जवाहरलाल नेहरू ने भारत की संकल्पना एक एहसास के रूप में की थी जिसके जड़ में भारतीय संस्कृति की सुवासित महक थी। परन्तु स्वतंत्रता के छः दशक बाद भी हम ऐसी स्थिति में नहीं आ पाए कि देश में संग्रहालय संस्कृति, पुस्तकालय संस्कृति जैसे आचरणों का विकास कर सकें। न ही ऐसी स्थिति में आ सके हैं कि प्राथमिक विद्यालयी स्तर या कि वैश्विक स्तर पर समकालीन भारतीय कला के बारे में ज्ञान का प्रसार कर सकें। जबकि दो साल पहले ओलम्पिक खेलों के आयोजन के समय चीन ने अपनी संस्कृति का जबर्दस्त प्रदर्शन किया, जिसके साक्षी विश्व के 250 भागीदार देश और सात करोड़ दर्शक बने थे। विभिन्न पैवेलियनों में अलग-अलग क्षेत्रों की झांकी ने पूरे विश्व के दर्शकों का मन मोह लिया था। इतने व्यापक स्तर पर सांस्कृतिक रंगों का बिखराव क्या बिना राजनीतिक शक्ति के समर्थन से सम्भव था?

हम भारतीयों के लिए संस्कृति एक ऐसा शब्द है जिसे हम बहुत गर्व से उछालते हैं और पश्चिम के सामने अभिमानपूर्वक खड़ा होने में हम उसका सहारा लेते हैं। लेकिन जब सांस्कृतिक विरासत की बात आती है तो हम कहाँ हैं? इसका आकलन जरूरी हो जाता है। हमारे पास 1000 करोड़ के बजट वाला संस्कृति मंत्रालय है। इसके अधीन कुल 41 संस्थाएँ हैं हालांकि उनमें से 33 स्वायत्तशासी हैं परन्तु अपने बजट के लिए वे मंत्रालय पर ही निर्भर हैं। कुछ संस्थाएँ जैसे 'नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा' की पहचान तो अन्तरराष्ट्रीय स्तर तक है लेकिन कुछ संस्थाओं जैसे लेह में स्थित 'बौद्ध अध्ययन का केन्द्रीय संस्थान' को स्थानीय लोग भी नहीं जानते। भारत में रचनात्मकता या प्रतिभा की कोई कमी नहीं है, हमारे पास पुरातत्व के, मूर्तिकला के और पेण्टिंग के खूबसूरत स्थल इतनी संख्या में हैं कि हम मिस्र के स्थलों से लोहा ले सकते हैं। इसके अलावा इन

हमारे पास पुरातत्व के, मूर्तिकला के और पेण्टिंग के खूबसूरत स्थल इतनी संख्या में हैं कि हम मिस्र के स्थलों से लोहा ले सकते हैं। इसके अलावा इन कलाओं में भी इतनी विविधता है कि बाकी एशिया के सभी देशों की विधाओं को मिला लेने पर भी वह इसके बराबर नहीं होगी। भारत की महानतम पूँजी इसकी सांस्कृतिक विरासत में ही है, लेकिन विडम्बना यह कि हम इन्हें संरक्षित तक नहीं कर पा रहे हैं।

कलाओं में भी इतनी विविधता है कि बाकी एशिया के सभी देशों की विधाओं को मिला लेने पर भी वह इसके बराबर नहीं होगी। भारत की महानतम पूँजी इसकी सांस्कृतिक विरासत में ही है, लेकिन विडम्बना यह कि हम इन्हें संरक्षित तक नहीं कर पा रहे हैं।

कैग रिपोर्ट बताती है कि संस्कृति मंत्रालय हर साल अपने आबंटित बजट के एक बड़े भाग को वापस कर देता है। इससे संबद्ध संस्थाएँ जड़ हो चुकी हैं। इनके कार्यक्रम विदेशों में कुछ प्रतिनिधिमण्डल भेजने, कुछ सेमिनार का आयोजन करवाने, कुछ चर्चाओं का आयोजन करवाने और पोस्टर प्रदर्शनियों तक ही सीमित हैं। इनके पास कोई नया विचार, नई योजनाएँ नहीं होतीं। बन्द रिपोर्ट में या तो प्रोजेक्ट के पूरा न हो पाने या फिर कार्यक्रम सुनिश्चित न हो पाने का लेवल लगा मिलता है। यह किन्हीं एक, दो नहीं बल्कि लगभग सभी सरकारी संस्थाओं की हालत है। संस्कृति मंत्रालय इन कार्यों से अपना पल्ला यह कहकर झाड़ लेता है कि स्वायत्त संस्थाओं के अध्यक्ष बहुत वरिष्ठ लोग हैं और वे अपना काम तत्परता से देखते हैं, हमारा काम तो केवल वित्त का आबंटन करना है।

2009-10 के कैग रिपोर्ट के अनुसार संस्कृति मंत्रालय के अन्तर्गत विभिन्न संस्थाओं ने निम्न प्रकार अपने बजट वापस किए-

- भारतीय संग्रहालय, कोलकाता - 22.63 करोड़
- विक्टोरिया मेमोरियल हाल, कोलकाता - 18.96 करोड़
- भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण - 7.00 करोड़
- राष्ट्रीय पुस्तकालय, कोलकाता - 4.23 करोड़
- भारत का राष्ट्रीय अभिलेखागार - 1.77 करोड़

यदि हमारी सांस्कृतिक अकादमियाँ/संस्थाएँ मुरझा रही हैं तो इसका सबसे बड़ा कारण है कि हमारे पास व्यापक धरातल पर कोई राजनीतिक या सांस्कृतिक दृष्टि नहीं है जिससे इन संस्थाओं को गतिशील किया जा सके या उन्हें उलझाए रखा जा सके। चूँकि संस्थाएँ अनियंत्रित अक्षमता और राजनीतिक इच्छाशक्ति की कमी से घिरी हुई हैं अत: एक ऐसे दृष्टिकोण पत्र या फिर व्यापक नीति की जरूरत है जो इन्हें जगाए रख सके। निजी संस्थानों के साथ मिलकर भी यह काम किया जा सकता है क्योंकि निजी संस्थाएँ इस मामले में स्वतंत्र होंगी कि वे बाजार की बेदी पर स्वयं को न्यौछावर न करें। वेनिस के द्विवार्षिक कला मेले में भी जो राष्ट्रीय पैवेलियन बनाए जाते हैं वे सभी राज्यों द्वारा अधिदेश प्राप्त एनजीओ या कला प्रतिष्ठानों द्वारा तैयार किए जाते हैं न कि किसी सरकारी एजेन्सी द्वारा।

अभी पिछले दिनों समाचार पत्रों में देखने को मिला था कि ललित कला अकादमी के अध्यक्ष ने इस अकर्मण्यता का बोझ मध्यवर्ग या आम जनता पर डालते हुए कहा था कि जब लोग कला के प्रति जागरूक नहीं है तो आखिर सरकार क्या करे? परन्तु वहीं संजय रॉय, जो अनेक सांस्कृतिक मेलों का आयोजन कर चुके हैं और हाल में उन्होंने जयपुर साहित्यिक मेले का आयोजन भी सफलतापूर्वक किया था, का मानना है कि सब लोग ही कला की कद्र करते हैं लेकिन सरकार इस मामले में उदासीन रहती है। करोड़ों भारतीय रात के अंधेरे में बिना किसी अवसंरचना के रामलीला जैसे देशव्यापी आयोजनों में भाग लेते हैं, देखते हैं। दुर्गापूजा के पण्डालों में भीड़ और आमजनों की भागीदारी आश्चर्यजनक है। गरबा आयोजन, पुरी का रथ-मेला और ऐसे ही न जाने कितने आयोजन हैं जो लोगों की भागीदारी द्वारा संभव हो जाते हैं और उसमें सरकार की भूमिका केवल सुविधा प्रदायक की ही होती है।

यदि संस्कृति को सरकारी आश्रय की जरूरत है, विशेषकर उसकी उदारता की, तो सरकार को भी संस्कृति को बढ़ावा देने में लोगों के सहयोग और सहभागिता की जरूरत है। यह क्षेत्र ऐसा है कि केवल सरकार के द्वारा इसमें कुछ नहीं किया जा सकता। लेकिन विडम्बना यह है कि संस्कृति के क्षेत्र में सरकार और लोगों की सम्मिलित सहभागिता न्यूनतम है। ऐसे बहुत से गाँव हैं, क्षेत्र हैं या फिर रेल से सफर करते हुए ऐसे बहुत से पुराने ढाँचे देखे जा सकते हैं जो असंरक्षित हैं और खुले में पड़े हैं। आसपास के लोग और खेतों में काम करने वाले भी उनकी प्राचीनता या विशिष्टता से अनभिज्ञ, बल्कि समय-समय पर अपने उपयोग के लिए उसे तोड़ते फोड़ते ही रहते हैं। हमें ध्यान होना चाहिए कि हड़प्पा जैसी सभ्यता की खोज भी इसी तरह रेल लाइन बिछाते हुए हुई थी। लेकिन आज स्वतंत्र देश में विडम्बना यह है कि लोग सरकार को कोई सूचना भी नहीं दे पाते। लोग इन सब कार्यों को सरकार का कार्य मानते हैं। लेकिन दूसरी ओर जागरूकता नहीं होने के चलते लोग इन्हें सरकार की नजरों में नहीं ला पाते हैं। यदि लोगों को ऐसे सरकारी कार्यक्रमों, सरकार के प्रयासों की पर्याप्त जानकारी हो तो वे सूचित कर सकते हैं।

किसी भी राष्ट्र के विकास के लिए आवश्यक है कि उसके प्रत्येक नागरिक को प्राथमिक स्तर से अपने समुदाय, अपने राज्य और अन्ततः अपने देश की मौलिक सांस्कृतिक विरासत की जानकारी हो। व्यक्तिगत, सामूहिक या समुदाय आधारित सांस्कृतिक आयोजन किए जाने चाहिए जिससे नागरिकों के भविष्य की रूपरेखा का निर्धारण हो सके। जैसा कि अक्सर देखा गया है, अपने सपनों के साथ एक व्यक्ति, कुछ अच्छे साथियों के साथ मिलकर कला के क्षेत्र में बहुत कुछ कर सकता है, बहुत बड़ा अन्तर ला सकता है लेकिन ऐसे निजी प्रयास केवल थोड़े से समुदायों का ही भला कर सकेंगी। दूसरी ओर यदि संस्कृति को बाजार के हाथों में छोड़ दिया जाए तो यह उसे नष्ट कर सकती है, अपने लाभ के लिए उसका स्वरूप बिगाड़ सकती है और मृतप्राय भी कर सकती है। संस्कृति के सभी मूर्त एवं अमूर्त तत्वों की सातत्यता बनी रहे तथा उनका संरक्षण हो सके, यही सोचकर संस्कृति मंत्रालय ने कुछ वर्ष पूर्व एक समिति का गठन किया था जिसे विचार-विमर्श करके 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति' की रूपरेखा तैयार करनी थी।

लेकिन इस 19 सदस्यीय समिति के अधिकांश सदस्यों ने ऐसी नीति की जरूरत को ही नकार दिया। इनका मानना था कि भारत जैसे विविधता वाले देश में एक राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति की न तो जरूरत है और न ही इसे वास्तविकता के धरातल पर उतारा जा सकता है। हालांकि इन लोगों में से आधे लोग भी चर्चा के लिए एक साथ उपलब्ध नहीं हो सके थे। इसी से इस समिति के सदस्यों की सद्-इच्छाओं और उनके विचारों की गहराई को समझा जा सकता है। समिति का मानना था कि देश में सांस्कृतिक संस्थाओं के प्रशासन और प्रभावी प्रबंधन के लिए बस एक व्यापक दिशानिर्देश की जरूरत है। एक राष्ट्रीय नीति की जरूरत को समिति ने इसलिए भी नकार दिया था कि ऐसी किसी नीति का दुरुपयोग राजनीतिक हितों के लिए किया जा सकता है जबकि उसकी नजर में इससे होने वाले सांस्कृतिक लाभ बहुत कम होते। इस बात से प्रतीत होता है कि सदस्यों ने संस्कृति के विविध पक्षों को राजनीतिक हितों से ही जोड़कर देखा। जबकि वास्तविकता यह है कि संस्कृति के बहुत से तत्व ऐसे हैं जिनका संबंध केवल व्यक्तिगत होता है। उनका तो यही उद्देश्य था कि वे ऐसी सांस्कृतिक नीति सुझाएँ जो ऐसी संकीर्णताओं से ऊपर हो।

इसी समिति के एक सदस्य ने मीडिया से बातचीत में कहा था कि विदेशों में भी कहीं किसी और देश में ऐसी कोई नीति नहीं है। यहाँ तक कि भीषण दमन के दौर में भी किसी देश ने सांस्कृतिक नीति का निर्माण नहीं किया। तो क्या हमें अन्य देशों का ही उदाहरण लेकर आगे बढ़ना चाहिए? क्या यह अनिवार्य है कि कि जो विदेशों में भी कहीं न कहीं होता हो वही हम करें? तो फिर हम भारतीय संस्कृति का डंका क्यों पीटते हैं? यदि सब लोग ऐसा ही सोचते तो अमरीका को भी मंगल पर अपने यान नहीं भेजने चाहिए क्योंकि विश्व का और कोई देश ऐसा नहीं करता। ऐसे लोग विश्व के उन देशों की ओर नहीं देखते जहाँ बिना नीतियों के भी अच्छे सांस्कृतिक कार्य होते हैं। संस्कृति मंत्रालय के 2010-11 की कैग ऑडिट रिपोर्ट में भी विदेशों में प्रचलित परम्पराओं का उल्लेख है। ब्राजील जैसे विकासशील देशों में ऐसी नीतियाँ हैं जिसमें विस्तृत झुग्गी झोपड़ों के बीच विशाल कला केन्द्रों को रोपित किया जाता है। इसका परिणाम यह हुआ है कि उन झुग्गियों के बच्चे गलत रास्तों की बजाय, इन संस्थाओं में कुछ सीखने की ओर आकृष्ट होते हैं। इसी तरह फिलीपीन्स में संग्रहालय संस्कृति, कला शिक्षणशास्त्र, कला आलोचना और राजनीतिक जागरूकता के लिए सांस्कृतिक आयोजनों का कार्यक्रम साथ-साथ चलता रहता है।

कुछ सदस्यों ने नीति न होने के कारणों में जाने की बजाए मीडिया के सामने अपना पक्ष रखा कि 'राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति' नाम ही असंगत है। इस तरह की कोई भी एकल नीति किसी भी तरह भारत की बहु-सांस्कृतिक प्रकृति पर थोपी नहीं जानी चाहिए। वास्तव में तो उन्हें यह बातें अपनी समिति के बैठकों में करनी चाहिए थी। नाम का तो कई विकल्प हो सकता

था। लेकिन बिना किसी चर्चा के इस तरह से एकतरफा विचार रखने वालों का मन्तव्य समझा जा सकता है। जो लोग पहले से ही पूर्वाग्रह से प्रेरित हैं कि जो भी नीति बनेगी वह भारत की बहुसांस्कृतिकता के खिलाफ होगी तो फिर उनसे किसी रचनात्मक नीति की उम्मीद कैसे की जा सकती है? क्या भारत के एकल संविधान से भारत की विविधता नष्ट हो गई है? क्या संस्कृति किसी धर्म, सम्प्रदाय, समुदाय का अपना एकल एजेण्डा है? क्या संगीत, कलाकृति, वास्तु को देखकर या उसका संरक्षण करके किसी खास समुदाय को आगे बढ़ाया जा सकता है?

इस तरह की नकारात्मकता को छोड़कर यदि कोई सकारात्मक प्रयास करने को तैयार हो तो राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति की आवश्यकता के लिए सैकड़ों कारण गिनाए जा सकते हैं। राष्ट्रीय नीति की जरूरत इसलिए है कि किसी नीति के अभाव में केवल दिल्ली जैसे राजधानियों में रहने वाले कलाकार ही हर जगह पहुँच पाते हैं। संस्कृति के तथाकथित आकाओं का समर्थन भी ऐसे ही संस्कृति कर्मियों को मिल पाता है। पिछले कई दशकों से भारत में ऐसे ही थोड़े से सांस्कृतिक आका अपने कुछ सहयोगियों के साथ मिलकर संस्कृति के क्षेत्र में निर्णय करते आए हैं। विदेशों में संस्कृति प्रतिनिधियों के रूप में अपने परिचितों को सैर कराने की खबरें हर बार मीडिया में गूँजती हैं। परन्तु सरकारी मशीनरी का दायरा इतना सीमित रह गया है कि कोई व्यापक बदलाव नहीं हो पाता। संस्कृति के क्षेत्र में उनका योगदान भुला न दिया जाए इस डर से न जाने कितने कलाकारों ने अपना कार्यस्थल बदलकर दिल्ली कर लिया। इसमें कुछ नाम प्रमुखता से लिए जा सकते हैं जैसे मुम्बई से सोनल मानसिंह, मद्रास के अलारमेल वल्लि, उड़ीसा के जतीन दास। जिन्होंने धयान नहीं दिया या फिर जिनके लिए यह संभव नहीं है कि वे दिल्ली में बसें तो दुर्भाग्य से उन्हें कोई जानता या सुनता तक नहीं।

किसी व्यापक नीति के अभाव में हर बार मीडिया में ऐसी खबरें मिल जाती हैं कि विदेशों में लगने वाले भारत के फेस्टिवल्स में अधिकारियों के चहेते, उनके चहेतों के चहेते और उनके परिचित लोगों को ही भेजा जाता है। आप किसी की आलोचना तब तक नहीं कर सकते जब तक कि आपको कोई मानक मानदण्ड न पता हो कि किन्हें भेजा जाना चाहिए था। इसी प्रकार जब राष्ट्रीय संग्रहालय के महानिदेशक का पद 15 वर्षों से रिक्त रहा तो उसे भी प्रश्नगत नहीं किया जा सका। मंत्रालय यह कहकर पल्ला झाड़ता रहा कि विज्ञापित पद के लिए योग्य व्यक्ति नहीं मिला। क्या सचमुच ऐसी हालत है? जबकि वही संस्था पिछले 28 सालों से संग्रहालय के रखरखाव करने वालों को तैयार करके डिग्रियाँ बाँट रही है। क्या इस संस्था से भी एक योग्य व्यक्ति नहीं निकल सका?

एक बार मीडिया में खबरें आई थीं कि इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र का अतिथि गृह जो 'इन्द्रावन' के नाम से मशहूर है, एक होटल में बदल गया है। अतिथि सत्कार वाले एक निजी कम्पनी को उसका रखरखाव सौंपा गया था, इसके बावजूद इन्द्रावन को 24 कमरों वाले एक बुटीक होटल के रूप में होटलों की वेबसाइट पर विज्ञापित किया जा रहा था। खबर के अनुसार इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र इस विज्ञापन से वाकिफ नहीं था और संस्कृति मंत्रालय ने कुछ टीका टिप्पणी करने से इसलिए मना कर दिया था कि कला केन्द्र एक 'स्वायत्तशासी संस्था' है। इस संस्था का अपना रोना है। कायदे से 1987ई0 में इस केन्द्र की स्थापना कला के क्षेत्र में अनुसंधान, शैक्षणिक गतिविधियों तथा उसके प्रचार प्रसार के लिए हई थी। लेकिन विडम्बना यह कि इसके भवन के लिए आवश्यक राशि तक स्वीकृत न हो सकी थी, और यह अपने पुराने ढांचे पर ही खड़ा है।

किसी प्रकार की सांस्कृतिक नीति न होने की एक बानगी और कि 2007 में भारत को वेनिस के द्विवार्षिक कला मेले के लिए आमंत्रण मिला था और तब संस्कृति मंत्रालय ने उस पर पैसा खर्च करने और वहाँ जाने से मना कर दिया था। जबकि उस मेले का रुतबा कला के क्षेत्र में ओलम्पिक के समकक्ष का होता है। जिन देशों ने वहाँ पैसा व्यय करना स्वीकार किया था उसमें अफ्रीका महाद्वीप के अंगोला और उरुग्वे जैसे देश भी शामिल थे।

महालेखापरीक्षक ने अपनी 2010-11 की रिपोर्ट में लिखा है कि कैसे कोलकाता की राष्ट्रीय पुस्तकालय में तीन लाख किताबें नहीं पहुँच सकीं क्योंकि काम को समय से निबटाया नहीं गया। इन प्रकाशकों के खिलाफ कोई कार्रवाई भी संस्तुत नहीं हुई जबकि कैग ने बाकायदा उनके नामों की लिस्ट दी थी। ज्ञातव्य हो कि यह पुस्तकालय सीधे संस्कृति मंत्रालय के अन्तर्गत है। इसका सीधा सा कारण यह है कि यह कानून तो बना है कि सभी प्रकाशकों को अपनी प्रकाशित पुस्तकों की प्रतियाँ वहाँ भेजनी है लेकिन उल्लंघन पर दण्ड की क्या व्यवस्था है? किसी को नहीं पता। कैग ने यह भी रिपोर्ट किया कि केवल 1 प्रतिशत पुराने, दुर्लभ, अप्राप्य अखबारों का डिजिटलीकरण किया जा सका था। रिपोर्ट में संस्थागत कमियों की ओर उल्लेख करते हुए कहा गया है कि 83 अग्निशामकों में से 64 को पिछले चार सालों से पुनः भरा ही नहीं गया है। मतलब कि माचिस की एक तीली या किसी धूम्रपान करने वाले व्यक्ति की छोटी सी लापरवाही पूरे पुस्तकालय का काम तमाम कर सकती है। इसके लिए किसी बख्तियार खिलजी के आक्रमण की जरूरत नहीं होगी। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि उसे पैसा

नहीं मिला क्योंकि 2009-10 में तो 13 करोड़ रुपये बिना खर्च किए वापस कर दिए थे। कैग की इसी रिपोर्ट में इशारा किया गया है कि सुभाष चन्द्र बोस, रवीन्द्र नाथ टैगोर और सरोजिनी नायडू द्वारा लिखे गए कुछ दुर्लभ पत्र चोरी हो गए हैं।

किसी कानून के न होने का असर दूसरी जगहों पर दिखता है। जैसे कि मीडिया में एक खबर आई थी कि मुम्बई में रहने वाले एक कला पारखी गिरीश शहाणे ने एक बार एक शो का आयोजन किया था जिसके लिए जर्मनी से एक कलाकृति लाई गई जिसे कस्टम वालों ने यह कहते हुए जब्त कर लिया कि यह अश्लील है। प्रश्न है कि क्या कस्टम विभाग यह देख सकता है कि कोई कलाकृति अश्लील या श्लील है? क्या वह स्वयं सेंसर का काम कर सकता है? लेकिन इसमें कुछ नहीं किया जा सकता क्योंकि किसी नीति के अभाव में हमारे देश में हर व्यक्ति स्वयं को संस्कृति का, मूल्यों का रक्षक मानने लगता है और स्वयं अपराधियों को सजा तक सुना देता है।

राजधानियों में स्थापित सांस्कृतिक अकादमियाँ कई बार तो किसी प्रस्ताव या आवेदन पर प्रतिक्रिया तक नहीं देतीं। आवेदन करने वाले को यह तक पता नहीं चल पाता कि उसका आवेदन स्वीकृति की प्रक्रिया में है या अस्वीकृत कर दिया गया। कई बार राष्ट्रीय स्तर के संग्रहालय के निदेशक खर्च करने से सीधे इन्कार कर देते हैं जिससे खर्च के बाद होने वाली सामान्य पूछताछ से बच सकें। जो सरकारी संस्थाएँ दिल्ली में नहीं हैं उनकी हालत तो और भी खस्ता है। मुम्बई के नेशनल गैलरी ऑफ माडर्न आर्ट में 2005 से निदेशक ही नहीं हैं। देश में कुछ संग्रहालय तो ऐसे भी हैं जहाँ बिजली के बल्ब तक नहीं हैं क्योंकि इनका समय सूर्योदय से सूर्यास्त तक ही होता है इसलिए लोगों को इन कमियों का पता तक नहीं चल पाता।

यह देखने में आया है कि संस्कृति को बढ़ावा देने में राज्य सरकारों की स्थिति अपेक्षाकृत ज्यादा सराहनीय रही है। स्थानीय अभिमान को बढ़ावा देने में संस्कृति का महत्व समझते हुए ये सरकारें सांस्कृतिक परम्पराओं को संरक्षित करती हैं और बढ़ावा भी देती हैं। इस बात से इन्कार नहीं किया जा सकता कि ऐसा वे अपने वोटों को बढ़ाने के लिए करती हैं परन्तु लोकतंत्र में सरकार के हर कार्य के पीछे वोट की राजनीति देखी जा सकती है। लेकिन दुर्भाग्यपूर्ण है कि राज्य सरकारों के इन कार्यों में लालफीताशाही, भाई-भतीजावाद, क्षेत्रवाद, समूहवाद, विभिन्न प्रकार के भ्रष्टाचार ज्यादा प्रभावी होते हैं जिससे उनके ये कार्य किसी खास समुदाय, संस्कृति या फिर क्षेत्र को अधिक महत्व प्रदान करते हैं।

भारत में सांस्कृतिक पर्यटन की भरपूर संभावनाएँ हैं परन्तु सांस्कृतिक नीति की अदूरदर्शिता तथा उनका आपसी टकराव इसके रास्ते का सबसे बड़ा रोड़ा साबित होता है। एक तो खराब सड़कों और अधबने पुलों को पार करके देश के कोने-कोने में जाने की कठिनाईयाँ और दूसरी ओर संस्कृति के नाम पर अभिलेखागारों में डिजिटलीकरण का अधूरा कार्य, सार्वजनिक पुस्तकालयों का अभाव या रूका हुआ उन्नतीकरण, बहुमूल्य कलाकृतियों की चोरी, अनवरत चलते रहने वाले निर्माण कार्य, खाली पड़े निर्जीव से संग्रहालय और मरती हुई कला विधाएँ हमारी सांस्कृतिक विरासत को कहीं से भी प्रशंसनीय नहीं बना पाती। देश में कोई सांस्कृतिक नीति नहीं है। लोग उसे बनाना भी नहीं चाहते क्योंकि जितनी विविध हमारी संस्कृति है उतनी विविधता को समेटते हुए कोई नीति बना पाना उनके लिए बारूद के ढेर पर बैठने जैसा लगता है और इसी डर से कोई भी इसमें हाथ नहीं डालना चाहता। लेकिन फिर बिना किसी राष्ट्रीय नीति के इसके लिए अलग मंत्रालय और इतने तामझाम क्यों? क्या इसका निजीकरण कर दिया जाना चाहिए?

निजीकरण कोई समाधान नहीं है क्योंकि सांस्कृतिक क्षेत्र बहुत विविधतापूर्ण है और उसमें लगातार आर्थिक लाभ की गुंजाइश नहीं होती, इसलिए निजी संस्थान बहुत दिनों तक इसे संरक्षित नहीं कर सकते। निजी गैलरियाँ, संस्थाएँ, लोग तथा इम्प्रेसारियो मिलकर संस्कृति को बढ़ावा दे रहे हैं। वे सेमिनार, प्रदर्शनियाँ, कन्सर्ट और कला मंचों का आयोजन करते रहते हैं। लेकिन ऐसे समर्थन कुछ ही कलाओं को मिल पाते हैं जबकि संस्कृति के संरक्षक को न्याय संगत, वित्तीय रूप से जवाबदेह तथा अपनी कार्यप्रणालियों में पारदर्शी होना चाहिए। भारत में असंख्य कलाकार और कलारूप हैं जो गरीबी से मरे जा रहे हैं, अनगिनत इमारतें हैं जो संरक्षण के अभाव में गिरती जा रही हैं, इन सबको निजी हाथों में नहीं छोड़ा जा सकता। सांस्कृतिक क्षेत्र में अपने देश को एक पहचान देने के लिए हमें जरूरत है एक मजबूत सांस्कृतिक नीति और मजबूत राजनीतिक इच्छाशक्ति के साथ ही एक व्यापक दृष्टि की जिससे भारतीय विविधता को समेटा जा सके।

भारतीय लोकतंत्र ने सभी धाराओं के समुदायों और व्यक्तिगत लोगों को बिना उनका परिवर्तन किए अपने में साधा है। इसकी सांस्कृतिक नीति भी इसी बहुलवादी दृष्टिकोण का प्रक्षेपण होनी चाहिए, जिसमें किसी भी संस्कृति का ऊँचा या नीचा स्थान नहीं हो। संस्कृतियों को उनके नाम की बजाय केवल उनके विभिन्न गुणों से संरक्षित, प्रदर्शित और विकसित किया जाना चाहिए। विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों का समावेशन व्यापक और व्यक्तिगत स्तर पर ही होना चाहिए जब तक कि वह किसी विशेष क्षेत्र, समुदाय या धर्म से न जुड़ा हो। जैसे कि यदि बुनकरी की कोई

पुरातात्विक स्थलों के साथ एक अच्छाई जुड़ी है कि यह किसी भी स्थल को इतिहास से जोड़कर उसे महत्व प्रदान कर देते हैं। दक्षिण भारत में मामल्लपुरम में एक खुदाई से मिले मन्दिर और वाराह की मूर्ति ने उस शहर के इतिहास को सैकड़ों साल पुराना बना दिया। इससे लोगों में अपनी भूमि से जुड़ने में एक अलग गर्व का अनुभव होता है।

शैली बहुत विशिष्ट हो और उसे महाराष्ट्र के किसी व्यक्ति ने विकसित किया हो तो उसका सम्मिलन उस व्यक्ति के नाम या किसी विशिष्ट नाम के आधार पर होना चाहिए न कि महाराष्ट्र या उस व्यक्ति के समुदाय के नाम पर। साथ ही नीति में व्यापक दिशा निर्देश मात्र होने चाहिए न कि पेटेण्ट जैसे अधिनायकवादी अधिकार।

भारत में अभी भी अनगिनत ऐसे **पुरातात्विक स्थल** हैं जो बिना खुदाई के पड़े हैं। इनके उत्खनन में सबसे बड़ी बाधा पैसे को माना जाता है। पुरातात्विक स्थलों के साथ एक अच्छाई जुड़ी है कि यह किसी भी स्थल को इतिहास से जोड़कर उसे महत्व प्रदान कर देते हैं। दक्षिण भारत में मामल्लपुरम में एक खुदाई से मिले मन्दिर और वाराह की मूर्ति ने उस शहर के इतिहास को सैकड़ों साल पुराना बना दिया। इससे लोगों में अपनी भूमि से जुड़ने में एक अलग गर्व का अनुभव होता है। इस क्षेत्र में पैसे की कमी को विदेशी विश्वविद्यालयों या संस्थाओं के योगदान से पूरा किया जा सकता है। हम अपने शिक्षा के क्षेत्र को विदेशी विश्वविद्यालयों के लिए खोलने के लिए तैयार हैं जबकि विदेशी विश्वविद्यालयों के लिए ऐसे पुरातत्व स्थल प्रयोग के लिए दिए जा सकते हैं। इसमें राष्ट्रवाद के विरोध जैसा भी कुछ नहीं है क्योंकि एशिया और अफ्रीका के कई देशों में उनके पुरातत्वस्थलों की खुदाई ऐसे ही प्रयोगों से हुई है। इतना ही नहीं भारत की पुरातात्विक संस्था भी अंग्रेजों द्वारा ही स्थापित है और बहुत सारे प्रोजेक्ट उन्हीं के द्वारा शुरू किए गए थे।

भारत में बहुत से आश्चर्यजनक महलें, ब्रिटिश राज की इमारतें, पुराने घर, प्राचीन गाँवों के मन्दिर और ऐसे पारिस्थितकी विरासत हैं जो आज के स्मारक संरक्षण कानून के अन्तर्गत नहीं आते। ऐसे स्थल विकास के नाम पर या बाजार की नीतियों के अन्तर्गत भूमाफियाओं द्वारा हस्तगत कर लिए जाते हैं। कुछ स्थल ऐसे हैं जो रहस्यात्मक गतिविधियों के लिए जाने जाते हैं, कुछ भूतहा करार दिए गए स्थल आज के वैज्ञानिक युग में भी विद्यमान हैं, जहाँ पढ़े लिखे लोग भी जाने से इन्कार करते हैं। कुछ स्थल ऐसे जंगलों से घिरे हैं जहाँ तांत्रिक साधना वाले लोग अपनी साधना करते हैं या फिर उसे गैर कानूनी रूप से लोगों ने अपने अनावश्यक वस्तुओं के स्टोर के रूप में अपने अधिकार में कर रखा है।

ऐसी सभी **पुरानी इमारतों** को पुरातत्व की परिभाषा में शामिल करने के साथ ही हमें नीति में ऐसे कानूनों की भी जरूरत होगी जिसमें विभिन्न वास्तुकलात्मक शैलियों के संरक्षण की बात शामिल हो। ये शैलियाँ जरूरी नहीं कि किसी ऐतिहासिक इमारत या फिर किसी सार्वजनिक इमारत में ही प्रयुक्त की गई हों। बहुत से पुराने व्यक्तिगत इमारतों में भी विभिन्न वास्तुकलात्मक शैलियों का प्रयोग है। इतना ही नहीं बहुत से घरों में प्राचीन काल में प्रचलित वर्षा जल संरक्षण की व्यवस्था आज भी विद्यमान है। इसे भी संरक्षित किए जाने की जरूरत है। इनकी विशेषता यह है कि ये स्थानीय जरूरतों को ध्यान में रखकर बनाए गए है। इसमें प्रयोग किए गए संसाधन स्थानीय रूप से उपलब्ध, सस्ते और संपोषणीय होते हैं।

इमारतों और **वास्तुशैलियों** का केवल संरक्षण ही काफी नहीं है बल्कि इसके साथ आसपास के क्षेत्रों की सफाई, उनका सौन्दर्यीकरण तथा लोगों की आसान पहुँच बनाना भी हमारी नीति में शामिल होना चाहिए। आजकल अधिकांश पुरातत्व या प्राचीन स्थलों की हालत यह है कि उनके आसपास शौच और कूड़े कचरे की भरमार होती है। इनके आसपास भिखारियों और लालची विक्रेताओं का जमावड़ा होता है जो पर्यटकों को बहकाने और उनसे ज्यादा से ज्यादा वसूल लेने में लगे रहते हैं। सांस्कृतिक नीति में इसके लिए भी निर्देश होने चाहिए कि ऐसे पर्यटन स्थलों

के पास से भिखारियों को हटाया जा सके, केवल रजिस्टर्ड विक्रेताओं को ही दुकानों का अधिकार हो। फेरीवालों, ठेलियों के लिए भी रजिस्ट्रेशन प्रक्रिया और पहचान की व्यवस्था हो जिससे कि गलत करने वालों पर कार्यवाही की जा सके। हमें यह मानकर चुप नहीं रहना चाहिए कि यह भारत के गरीबी का चेहरा है। गरीब तो वास्तव में गाँवों में, जनजातीय क्षेत्रों में, अन्दरूनी क्षेत्रों में रहते हैं जहाँ वे भूख से मर जाते हैं। पर्यटन स्थलों पर तो प्रायः भिखारियों का सिंडिकेट कार्य करता है। इसका नजारा देखना हो तो किसी भी ऐसे स्थल पर किसी नये भिखारी को खड़ा करके देख लीजिए, आपको खुद बखुद प्रमाण मिल जाएगा। यदि इन भिखारियों को काम करने को कहें या फिर काम आवंटित भी कर दें एक गुजारे लायक वेतन के साथ, तो भी ये भिखारी काम करने से इन्कार कर देंगे।

भारत की सांस्कृतिक परम्परा को सनातन माना जाता है। जब से सभ्यता की शुरूआत हुई है, भारतीय संस्कृति किसी न किसी रूप में चलती रही है। इसकी विशेषता भी यही है कि इसने विभिन्न धाराओं को अपने में इस तरह समाहित कर लिया है कि उनकी अपनी पहचान मिटकर उनका भारतीयकरण हो गया है। ऐसी संस्कृति के लिए यह स्वाभाविक है कि उसके शहर विभिन्न संस्कृतियों के प्रतीक रूप हों। प्राचीन भारत की स्थिति ऐसी थी कि **प्रमुख शहर** अपने विशिष्ट संस्कृतियों के लिए जाने जाते थे। बनारस, कन्नौज, तक्षशिला, कश्मीर, मालवा, सोमनाथ, पाटन, नालन्दा, कामाख्या, कांची, दिल्ली, उड़ीसा (कलिंग), बंग (बंगाल), गुर्जर देश (गुजरात), धार (माण्डू), मदुरई, अरिकामेडु आदि अपनी-अपनी स्थानीय-परम्पराओं, सांस्कृतिक विशिष्टताओं के लिए जाने जाते हैं। ऐसे शहरों को विश्व विरासत शहरों में शामिल करवाने का प्रयास किया जाना चाहिए, जिससे कि स्थानीय संस्कृतियों को भी मुख्य धारा में लाया जा सके, उनके अस्तित्व को पूर्णतः बचाए रखते हुए।

प्रत्येक स्थल की **प्राकृतिक, पारिस्थितिकीय और जैव विज्ञानी विरासत** विशिष्ट होती है। और बहुत से मायनों में यह सहेजने योग्य होता है। सुधा मूर्ति की कहानियों में एक जगह उड़ीसा के किसी जनजातीय गाँव का उदाहरण है जहाँ स्थानीय जड़ी बूटियों के प्रयोग से वहाँ के लोगों के बाल बड़ी उम्र में भी एकदम काले बने रहते हैं। ऐसी परम्पराओं और प्रयोगों की खोज, उनका संरक्षण और उन्हें आगे बढ़ाने के बारे में सोचा जाना चाहिए। इसी प्रकार बहुत से क्षेत्रों में ऐसे औषधीय पौधे मिलते हैं जिनका लाभकारी प्रयोग वहाँ के स्थानीय निवासी जानते हैं। उत्तर प्रदेश के पूर्वान्चल क्षेत्र में कुत्ता काटने पर और बवासीर की बीमारी में ऐसे ही किसी स्थानीय पौधे की पत्तियों का रस पिलाया जाता है। ऐसे विशिष्ट सांस्कृतिक तत्वों के संरक्षण के साथ, उसके साथ उठने वाले बौद्धिक सम्पदा संबंधी अधिकार, उससे उत्पन्न लाभ तक लोगों की पहुँच, परम्परागत ज्ञान के संरक्षण और विभिन्न प्रकार के नवोन्मेष तथा स्थानीय अभिव्यक्तियों का ध्यान रखा जाना अत्यन्त आवश्यक है।

सीखने और ज्ञान के स्थानान्तरण की देशी परम्पराओं, तरीकों को सांस्कृतिक तत्व के रूप में मान्यता देनी चाहिए। यह ज्ञान का स्थानान्तरण पीढ़ियों के दरमियान भी होता रहा है। इस नीति में इसे देशी गुरू-शिष्य परम्परा के रूप में प्रवेश दिया जा सकता है। यह सांस्कृतिक तत्व शिक्षणशास्त्र के नये प्रारूपों में मददगार हो सकता है।

भारत में **संग्रहालय** भारी संख्या में हैं। इनमें सरकारी और निजी दोनो प्रकार के संग्रहालय हैं। लेकिन अधिकांश संग्रहालय मृतप्राय तथा निर्जीव हालत में हैं। इनमें जाकर उस काल के बारे में कोई भाव नहीं पैदा होता। वहाँ उपस्थित निर्देश देने वाले भी इतना ऊबे हुए, अनमने तथा खानापूर्ति करने वाले होते हैं कि देखने वाले की बची-खुची इच्छा भी मर जाती है। इसीलिए पर्यटन स्थलों पर सबसे कम लोग संग्रहालयों में जाते हैं। जबकि संग्रहालय का उद्देश्य पर्यटन और मनोरंजन के साथ ही शैक्षणिक भी होता है। गाइडों की कमी, नामपट्टों का अभाव, रास्ते का सही अनुक्रम न होना, जगह-जगह से सामान गायब होना लगभग सभी संग्रहालयों की सामान्य विशेषता है। सांस्कृतिक नीति में इनके आधुनिकीकरण तथा एक मानक स्थिति को तय किया जाना चाहिए।

संग्रहालय का एक स्वरूप **अभिलेखागार** है जिसमें विभिन्न कालों के अभिलेख या लिखित ग्रन्थ संग्रहीत किए जाते हैं। प्राचीन और मध्यकालीन भारत में ऐसी परम्परा रही है कि गाँव का पटवारी या कहीं-कहीं स्थानीय मन्दिर का पुजारी समूह पूरे परिवार के बारे में जानकारी लिखित रूप में रखता था। इसके साथ ही स्थानीय इतिहास को लिपिबद्ध करने की परम्परा भी कई जगहों पर रही है। एक बार देवघर (झारखण्ड) की यात्रा में जब एक पुजारी ने मेरे परदादा से लेकर पिताजी के नाम तक का खुलासा कर दिया तो मेरे आश्चर्य का ठिकाना न रहा। उसने ऐसा बकायदा अपने रजिस्टर से देखकर मुझे बताया था। ऐसे लिपियों का, पुरानी लिखावटों का संरक्षण किया जाना चाहिए। इससे किसी क्षेत्र के भाषा व्यवहार, बोलियों की परम्परा में बदलाव का पता चलता है। स्थानीय स्तर पर ऐसे संग्रहालय जिला स्तर पर बनाये जा सकते हैं।

अभिलेखागार का एक रूप हमें विभिन्न स्थानों के **गजेटियर** के रूप में मिलता है। गजेटियर के बारे में ऐसा कहा जाता है कि उसमें उस क्षेत्र या जिला के बारे में पूरी जानकारी होती है। ऐसे

गजेटियर का संपादन, नवीनीकरण और डिजिटलीकरण किया जा सकता है। आज भी जिले के अधिकांश लोगों को यह पता नहीं होता कि उनके जिले का गजेटियर होता है, और वह कहाँ से मिल सकता है।

लोगों में पुस्तक संस्कृति के विकास के लिए तथा लोगों में पुस्तक पढ़ने की परम्परा को बढ़ाने के लिए स्थानीय स्तर पर **पुस्तकालयों** की स्थापना की जानी चाहिए। पुस्तकालयों का निर्माण तो गाँव स्तर पर होना चाहिए जिससे कोई भी इच्छुक व्यक्ति किताबों की दुनिया तक पहुँच सके। इसके अतिरिक्त जो बड़े स्तर के राज्यीय, राष्ट्रीय पुस्तकालय हैं उनका उन्नतीकरण होना चाहिए। उनके कैटलाग डिजिटलाइज्ड होने चाहिए तथा सार्वजनिक रूप से सबके लिए उपलब्ध भी होने चाहिए जिससे कोई भी इच्छित पुस्तक ढूढ़कर उस तक पहुँचा जा सके। अन्यथा पुस्तकों के अभाव में पता नहीं कितने होनहारों की इच्छा मर जाती है।

भारत की **शिल्पकला** बहुत प्राचीन तथा विविधतापूर्ण है। लगभग हर क्षेत्र किन्हीं न किन्हीं शिल्पों के लिए जाना जाता है। कुछ शहर अस्त्र-शस्त्रों के लिए, कुछ दियासलाई के लिए, कुछ तालों के लिए, कुछ चाकुओं के लिए, कुछ चूड़ियों के लिए, कुछ कांच के सामानों के लिए, कुछ पीतल के बर्तनों के लिए, कुछ कृषि उपकरणों के लिए जाने जाते हैं। इन सभी क्षेत्रों की परम्पराओं को संरक्षित किया जाना चाहिए। आज के मशीनी युग में ऐसे हस्तशिल्प मृतप्राय होते जा रहे हैं इसलिए इनके लिए जिला स्तर पर संरक्षण गृह बनाये जाने चाहिए।

हथकरघा और बुनकरी में भारत का कोई सानी नहीं था। सुनने में आता है कि जब ब्रिटेन में मशीनों से बुनाई शुरू हो चुकी थी तब भी भारतीय बुनकरों से वे टक्कर नहीं ले पाते थे। मुर्शिदाबाद व ढाका के मलमल के विषय में बहुत लोगों ने सुना होगा। यहाँ तक कि अंग्रेजों ने प्रतियोगिता में बने रहने के लिए बुनकरों के अंगूठे तक काट दिये। ऐसी धनी सांस्कृतिक विरासतों को बचाया जाना चाहिए।

भारत में स्वास्थ्य के लिए **आयुर्वेद पद्धति** का प्रचलन रहा है। अंग्रेजों के आने के बाद ही यहाँ एलोपैथ बहुत बाद में प्रचलित हुआ। विभिन्न क्षेत्रों में वैद्य अभी भी विभिन्न प्रकार के लाइलाज बीमारियों का इलाज करने का दावा करते हैं या फिर आपरेशन वाली बीमारियों का बिना ऑपरेशन इलाज करने का दावा करते हैं। उनकी पूरी वैद्यकी स्थानीय जड़ी बूटियों पर आधारित होती है। ऐसी परम्परागत औषधियाँ हमारे लिए किसी सांस्कृतिक विरासत से कम नहीं हैं। इसके अलावा अभी भी बहुत से वैद्य ऐसे हैं जो मात्र नाड़ी छूकर मरीज के रोग के बारे में विस्तार से बता देते हैं। पैथोलॉजी आधारित स्वास्थ्य सेवाओं के इस दौर में इन परम्पराओं को बचाने और उनका विकास करने की आवश्यकता है। इससे भारत की बहुत बड़ी जनसंख्या को स्वास्थ्य सुविधा उपलब्ध कराई जा सकती है।

संस्कृति का एक महत्वपूर्ण पक्ष **साहित्य** के रूप में आता है। आज साहित्य का क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है। साहित्य में विधाओं की भरमार के साथ ही पुस्तकों की भरमार एक समस्या की तरह है। लेकिन विभिन्न भाषाओं में साहित्य को बढ़ावा देने तथा भारतीय भाषाओं की पुस्तकों के आपस में अनुवाद की व्यापक व्यवस्था होनी चाहिए। हिन्दी को जो मुख्यता प्राप्त है वैसी ही सुविधा सभी भाषाओं को मिलनी चाहिए तथा अनुवाद विभाग यदि अलग से बन सके तो और भी अच्छी बात है। इसमें निजी क्षेत्र का भी सहयोग लिया जा सकता है। जो पुस्तकें अत्यधिक लोकप्रिय होती हैं तथा जिनसे लाभ की उम्मीद होती है उनका अनुवाद तो निजी प्रकाशक अपने स्तर पर करवा लेते हैं। अन्य जरूरी तथा महत्वपूर्ण पुस्तकों का अनुवाद

भी सरकारी स्तर पर करने की व्यवस्था होनी चाहिए।

प्रकाशन के क्षेत्र में लोगों का मानना है कि बहुत अधिक शोषण है जिससे लेखकों को प्रोत्साहन नहीं मिल पाता। बहुत से उम्दा साहित्यकार इसी चक्करघिन्नी में साहित्य रचना की बजाय आजीविका साधन में लगकर अपनी रचनात्मकता का गला घोंट देते हैं। अधिकांश साहित्यकारों के साथ अनिवार्य सी बात है कि वे कहीं न कहीं नौकरी करते हुए ही साहित्य साधना में लगे हैं। इससे उनकी रचनात्मकता प्रभावित होती है। लेखकों के लिए नौकरी, आजीविका या फिर लेखक-घर जैसी किसी संकल्पना को बनाया जा सकता है जहाँ लेखक को रहने की छूट हो और अपने पेट की फिक्र किए बिना लिख सके।

कर्मकाण्ड हमारी संस्कृति के महत्वपूर्ण अंग हैं। संस्कृति से प्रायः हमारा अभिप्राय धर्म की ओर मुड़ जाता है। हालांकि संस्कृति और धर्म बिल्कुल अलग अवधारणाएँ हैं लेकिन धर्म के कुछ अंग संस्कृति के भी अंग हैं। ऐसे कर्मकाण्ड जो पर्यावरण के लिए, प्रकृति के लिए, मनुष्य के मानसिक, शारीरिक विकास के लिए आवश्यक हैं, का संरक्षण किया जाना चाहिए। यदि उनमें किसी प्रकार की अवैज्ञानिकता या अंधविश्वास हो तो उसे दूर कर उसे वैज्ञानिकता के धरातल पर स्थापित करने की कोशिश होनी चाहिए।

दर्शन भी संस्कृति का ही अंग है। इसके संरक्षण और विकास के लिए विश्वविद्यालयी क्रियाकलापों के साथ ही विभिन्न स्तरों पर आवधिक सेमिनार, गोष्ठी या चर्चाओं का आयोजन किया जाना चाहिए।

मेलों का आयोजन किया जाना चाहिए। गाँवों में जीवन की जरूरत का हर सामान उपलब्ध नहीं हो पाता इसके लिए प्राचीन समय में कई गाँवों को मिलाकर साप्ताहिक या मासिक हाटों का आयोजन किया जाता था जहाँ प्रत्येक गाँव के लोग अपने विशिष्ट उत्पादों के साथ आते थे तथा आपसी सौदेबाजी करते थे। ऐसे साप्ताहिक या मासिक हाटों का आयोजन आज भी किया जाना चाहिए। इससे विभिन्न क्षेत्रों में समन्वय के साथ ही दैनिक जरूरतें भी पूरी होती हैं। इन हाटों में बंजारों की टोलियाँ दूर शहरों के सामान लाती थीं तथा विशिष्ट वस्तुओं का व्यापार करती थीं। आज उन बंजारों की जगह जिले की कम्पनियों या बड़ी कम्पनियों को भी बुलाया जा सकता है।

विभिन्न **मंचन कलाएँ** जैसे कि संगीत, नृत्य, नाटक, नृत्य-नाटिकाएँ, कठपुतली नाच, कथा वाचन, गायन, वादन आदि भारतीय संस्कृति में मुख्य स्थान रखती हैं। भारत में हजारों ऐसी पद्धतियाँ और परम्पराएँ प्रचलित हैं। इन सबका संरक्षण स्थानीय स्तर से लेकर राज्य तथा राष्ट्रीय स्तर तक होना चाहिए। हमें छोटे-छोटे शहरों तथा गाँवों में भी बहुत से गायक, नर्तक मिल जाते हैं जो विभिन्न आयोजनों के समय नाच गाकर अपना पेट पालते हैं और प्रायः बेहद गरीबी में जीवन जीते हुए अनजानी और भयानक मौत मरते हैं। ऐसे संस्कृति कर्मियों का संरक्षण तथा उनको वित्तीय सहायता दी जानी चाहिए। संस्कृति विभिन्न प्रकार की संवेदनाओं और अभिव्यक्तियों का समूह होता है। इसमें किसी भी व्यक्ति की अभिव्यक्ति का महत्वपूर्ण स्थान होता है। यदि कोई एक भी अभिव्यक्ति छूट गई या लुप्त हो गई तो समझिए हमने एक संवेदना खो दिया। प्रत्येक व्यक्ति में अपनी विशिष्टता तथा अद्वितीयता होती है। इसलिए ऐसे लोगों को सहायता देकर उन पर हँसने और दया करने की बजाए उन्हें संस्कृति कर्मी की तरह सम्मान देना चाहिए।

इसी प्रकार **दृश्य कलाएँ** भी मनुष्यों के विभिन्न भावों को रेखाओं, रंगों और अन्य माध्यमों से प्रकट करने की परम्पराओं को शामिल करती हैं। इनका संरक्षण भी बेहद निचले स्तर गाँव के स्तर से करना चाहिए। एक बच्चे की बनाई हुई पेण्टिंग भी हमसे कुछ ऐसा कह सकती है जो कोई और नहीं कह सकता। कोई पेण्टिंग या कलाकृति किसी व्यक्ति पर क्या और कैसा प्रभाव डाले, कहा नहीं जा सकता। इसे बढ़ावा देने के लिए कला प्रदर्शनियों का आयोजन गाँव, ब्लॉक तथा जिला स्तर पर किया जा सकता है।

मूर्तिकला तथा विभिन्न प्रकार की **काष्ठ कलाएँ** भी संस्कृति का अंग है। इनका संरक्षण, इनकी प्रदर्शनी तथा मानव जीवन में उनके उपयोगितापूर्ण प्रयोग पर जोर दिया जाना चाहिए। धातु के युग में ऐसी कलाओं का महत्व और भी बढ़ जाता है क्योंकि एक जैसे जीवन ने मनुष्य के जीवन में ऊब पैदा की है। इसे दूर करने के लिए लगातार बदलाव तथा पुरानी वस्तुओं को बदलकर नई वस्तुओं का प्रयोग करने की परम्परा को अपनाना एक सरल उपाय हो सकता है।

संस्कृति का क्षेत्र बहुत व्यापक है तथा हर व्यक्ति किसी न किसी प्रकार से संस्कृति के विविधीकरण और उसे धनी बनाने में अपना योगदान दे रहा है। चूँकि प्रत्येक व्यक्ति अद्वितीय होता है अतः उसकी कुछ विशिष्टताएँ संस्कृति का अंग हो सकती हैं। कोई बोलने की शैली दे सकता है, कोई गाने की नई शैली दे सकता है, कोई किसी भी प्राकृतिक संसाधन से वादन कर सकता है, कोई पत्थर के टुकड़ों से संगीत निकाल सकता है, कोई हवा में कलाबाजियाँ खा सकता है तो कोई बन्दरों की तरह पेड़ों की एक टहनी से दूसरी टहनी पर कूद सकता है। मानव की क्षमताएँ अनन्त हैं और इसीलिए संस्कृति के अंग भी अनन्त ही हैं। जो भी विशिष्ट हो, जो भी परम्परा में आगे ले जाने योग्य हो,

जो भी मानव जीवन के लिए उपयोगी हो उसे संरक्षित किया जाना चाहिए।

इस प्रकार संस्कृति के व्यापक संरक्षण के लिए जो तंत्र हो वह भी व्यापक होना चाहिए। सांस्कृतिक नीति में बस एक बाह्य रूपरेखा होनी चाहिए। जैसे कि पंचायती राज संस्थाओं और नगरपालिकाओं के लिए किया गया है। फिर प्रत्येक राज्य पर छोड़ दिया जाना चाहिए कि वह अपने नीति में क्या-क्या शामिल करता है। जैसे पंचायती राज संस्थाएँ विभिन्न राज्यों में विभिन्न क्षेत्रों में अपने अधिकारों, अपने कार्यों, अपने स्वरूपों, अपने वित्तों, अपने नामों के मामले में भिन्न-भिन्न हैं उसी प्रकार राज्यों की सांस्कृतिक नीतियाँ भी अलग-अलग हो सकती हैं। परन्तु उनका मौलिक स्वरूप स्थापित केन्द्रीय नीति के दायरे में होना चाहिए। इन कुछ मौलिक अवधारणाओं का ध्यान व्यापक सांस्कृतिक नीति में रखा जाना चाहिए-

• सांस्कृतिक नीति का ढांचा इतना व्यापक हो कि विभिन्न संस्कृतियों के लोग एक दूसरे के नजदीक आएँ और साथ ही अपनी परम्पराओं को संजोए रखें।

• नीति में युवाओं पर विशेष फोकस होना चाहिए जिससे वे सांस्कृतिक गतिविधियों में शामिल होकर संस्कृति में विभिन्न तत्वों की रचनात्मक प्रक्रिया को समझ सकें।

• नीति को इस बात पर भी ध्यान देना चाहिए कि पर्यटन और निर्यात के लिए सांस्कृतिक विरासतों का प्रयोग बाजार की तर्ज पर न होकर सांस्कृतिक देयों की तरह हो।

• विभिन्न सांस्कृतिक तत्वों में स्थानीय नामों का प्रयोग यथावत चलते रहना चाहिए, यदि वे किसी स्थान विशेष से संबंधित हैं। भारत एक बहुभाषिक, बहुवंशीय, बहुप्रजातीय, बहुधार्मिक, बहुलपरंपरा वाला समाज है, यह व्यापक सांस्कृतिक नीति से झलकना चाहिए।

• प्रत्येक व्यक्ति के अन्तर्निहित मर्यादा को सम्मान दिया जाना चाहिए और सांस्कृतिक नीति प्रत्येक व्यक्ति के लिए समानता के सिद्धान्त पर आधारित होनी चाहिए। यह समानता व्यक्ति के लिए सांस्कृतिक जीवन तक पहुँच के अधिकार के साथ-साथ सांस्कृतिक गतिविधियों में व्यक्ति की समान भागीदारी तक विस्तृत होनी चाहिए।

• प्रत्येक सांस्कृतिक तत्व का एक आर्थिक पक्ष भी होता है। कोशिश यह हो कि जो भी प्राप्ति इन सांस्कृतिक आयोजनों से हो वह राष्ट्रीय सांस्कृतिक कोष या इसी प्रकार स्थापित स्थानीय सांस्कृतिक कोषों में शामिल की जाए और फिर उसका उपयोग सांस्कृतिक विस्तार के लिए नीतियों के अन्तर्गत ही किया जाए।

• सांस्कृतिक गतिविधियों में महिलाओं की भागीदारी को सुनिश्चित किया जाना चाहिए तथा प्रत्येक क्षेत्र में आबंटित कोषों के एक निश्चित भाग को महिलाओं के लिए आवंटित किये जाने की व्यवस्था होनी चाहिए।

• आवंटन में इसी प्रकार की भागीदारी अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए भी यथोचित रूप से होनी चाहिए। जिन सांस्कृतिक आयोजनों का संबन्ध केवल अनुसूचित जातियों या जनजातियों के लिए हो उन्हें इस आवंटित भाग में नहीं जोड़ा जाना चाहिए।

• संस्कृति कर्मियों की लगातार आपूर्ति के लिए तथा संस्कृति को जीवन की मुख्य धारा में शामिल करने के लिए भारतीय सांस्कृतिक लोक सेवा जैसी किसी संस्था का निर्माण किया जा सकता है। ऐसे अध्ययनों के लिए प्राथमिक विद्यालय से लेकर विश्वविद्यालय स्तर तक संस्कृति आधारित पाठ्यक्रमों को शामिल किया जा सकता है।

• मीडिया के पास आज तकनीकी उच्चता प्राप्त संसाधन है तथा मीडिया विभिन्न औद्योगिक घरानों के साथ मिलकर सशक्त हो चुकी है। उसे अपनी जिम्मेदारी का एहसास कर नकारात्मक सूचनाओं के संग्रहण के बजाए इस प्रकार के सांस्कृतिक खबरों को स्थान देना चाहिए।

• सांस्कृतिक गतिविधियों के ज्ञान या उसमें भागीदारी के लिए वृहद आयोजन स्थल प्रत्येक जिले में होने चाहिए जहाँ उसके सभी क्षेत्रों की स्थानीय परम्पराओं को केन्द्रीय स्थान मिल सके।

• सांस्कृतिक आयोजनों और उसके कार्यान्वयन में बालिकाओं की भागीदारी तथा उनके औचित्यपूर्ण शिक्षण पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए।

• व्यक्तिगत रूप से और सामूहिक रूप से प्रत्येक व्यक्ति व समूह को अपनी संस्कृति में भागीदारी करने तथा उसके बारे में बताने का मौलिक अधिकार होना चाहिए।

• सांस्कृतिक अधिकारों और रीतिगत कानूनों को कूटबद्ध किया जाना चाहिए। तथा ये सभी कानून संविधान के अन्तर्गत मान्य और स्वीकार्य होने चाहिए।

• संस्कृति के विभिन्न तत्वों के लगातार अध्ययन की जरूरत पड़ती है तथा विभिन्न विधाओं में पारंगत होने तथा तकनीकी उच्चता के लिए विदेशों से भी संपर्क आवश्यक है। इसके अतिरिक्त सांस्कृतिक संबंधों के लिए भी बाहरी सम्पर्क आवश्यक होते हैं। अत: अन्तरराष्ट्रीय आयोजनों में भागीदारी तथा अन्य देशों को अपने देश में आमंत्रण की बातें भी सांस्कृतिक

नीति के अन्तर्गत शामिल की जानी चाहिए। विभिन्न विधाओं में अनुसंधान को भी बढ़ावा दिया जाना चाहिए जिससे संस्कृति और अधिक व्यापक और सशक्त हो सके।

प्रस्तावित सांस्कृतिक नीति में प्रत्येक शहर, कस्बे या गाँव के स्तर पर एक 'संस्कृति' या 'विरासत' समिति हो सकती हैं। ये समितियाँ उस क्षेत्र के सांस्कृतिक कर्मियों को लेकर बनी हों जिसमें वहाँ के राजनीतिक समुदायों की भी प्रत्यक्ष भागीदारी हो। शुरू करने के लिए ये समितियाँ अपने विकास कार्यों की भांति ही सांस्कृतिक संरक्षण के लिए वहाँ के प्रत्येक स्थानीय विरासत क्षेत्रों, पुरानी इमारतों, बुनाई, संगीत या शिल्प की परम्पराओं, तकनीकी, कृषिक या प्राकृतिक ज्ञान के स्रोतों को इकट्ठा कर उसे सूचीबद्ध करें और फिर वहाँ के लोगों के व्यक्तिगत सांस्कृतिक प्रयासों जैसे कि कलाकृतियाँ, पेण्टिंग, मूर्ति, शिल्प या अन्य दस्तकारियों का लेखाजोखा रखे। फिर इन समितियों को पुरातात्विक और विरासत वाली इमारतों के संरक्षण के लिए उत्तरदायी बनाया जाए। इसके साथ ही विभिन्न संग्रहालयों को स्थानीय कला परम्पराओं आदि के संग्रहण के लिए जिम्मेदार बनाया जाए। इन्हें अपने कार्यों के लिए राजस्व इकट्ठा करने की छूट होनी चाहिए या फिर स्थानीय प्रशासन को दिये गए विकासात्मक खर्चों की भांति इसके लिए भी इन्हें कुछ धन आवंटित किया जा सकता है।

हम सभी ने अपने-अपने क्षेत्रों में देखा है कि जब भी किसी धार्मिक स्थल के पुनरोद्धार या फिर नये स्थलों के निर्माण की जरूरत होती है कोई भी व्यक्ति सरकार का मुखापेक्षी नहीं होता और आसपास के लोगों से चन्दा इकट्ठा करके काम कर लिया जाता है, तो फिर संस्कृतियों के संरक्षण के लिए भी इस तरह कोष जुटाया जा सकता है। अभी हाल में उत्तर प्रदेश के पूर्वांचल क्षेत्र में दुर्गापूजा के एक पण्डाल में एक विशेष आयोजन किया गया। साधारणतया दुर्गापूजा के पण्डालों में भीड़ उमड़ती है। एक पण्डाल ने भीड़ से अलग एक द्वार बनाया और जिन लोगों को पंक्ति में इंतजार करने में दिक्कत थी उन्हें पाँच रुपये में उस द्वार से दर्शन कराया गया। इसके लिए बाकायदा उसे रसीद दी गई और इस तरह मिलने वाला पैसा अलग इकट्ठा किया गया जिसका इस्तेमाल आयोजन समिति ने कह रखा था कि गरीब लड़कियों के विवाह के आयोजन में किया जाएगा। मात्र इस एक आयोजन से लाख से ज्यादा रूपये आयोजन समिति ने जुटा लिए थे। संस्कृति के कार्यों के लिए भी ऐसे आयोजन किए जा सकते हें। इसके अतिरिक्त संस्कृति कर्मियों की निशुल्क सेवाएँ भी ली जा सकती हैं जिसके लिए वे सहर्ष तैयार होंगे यदि आगे उनके लिए उससे सुविधाएँ मिलेंगी।

भारतीय संस्कृति के तत्व इतने उथले नहीं हैं कि उनके संरक्षण से या समर्थन से किसी समुदाय विशेष को नकारात्मक संदेश मिलेगा। भारत ऐसा देश है जिसमें मुहर्रम के जुलूसों का नेतृत्व हिन्दू करते हैं और बहुत से मुस्लिम अमरनाथ यात्रा को सफल बनाने में अपना सर्वस्व झोंक देते हैं। बहुत से मुस्लिम कारीगर गणपति पूजा, दुर्गापूजा, दशहरा में अपना योगदान जी जान से देते हैं। यह उनके लिए केवल दस्तकार होने या आजीविका कमाने तक सीमित नहीं रहता बल्कि वे मानसिक रूप से भी इन आयोजनों में शामिल होते हैं। हमें ऐसी सांस्कृतिक नीति की जरूरत है जो लोकप्रिय लोगों को बिना जनवादी बनाए कला के कामों में सन्नद्ध कर सके। अन्यथा ये संस्थाएँ जड़ बनी रहेंगी और कला को भी जड़ बनाए रखेंगी। कई बार कई दृश्य और मंचन कलाओं के लिए जरूरी हो जाता है कि उन्हें कहीं से आर्थिक सहायता मिले अन्यथा वे मृतप्राय, लुप्त या फिर बहुत ही कम लोगों में बची रह जाती हैं। भारतीय संस्कृति की महानता इसके सर्व समावेशन की भावना में है। आज राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति एक अनिवार्यता बन चुकी है फिर भी सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि यह सांस्कृतिक नीति ऐसी होनी चाहिए जो पूरे विश्व से सांस्कृतिक तत्वों को आकर्षित कर सके और उन सबको समाहित कर लेने की घोषणा करे।

□□□

प्राचीन भारतीय पुस्तक संस्कृति

रवीन्द्रनाथ तिवारी

प्राचीन भारत में साहित्य एवं सांस्कृतिक बदलाव की प्रक्रिया एक समय के बाद आयी। इस बदलाव की प्रक्रिया शायद निम्नलिखित कारणों से आयी होगी। (1) राजनीतिक प्रभाव–अशोक द्वारा बौद्ध धर्म के विकास में योगदान और चन्द्रगुप्त के द्वारा हिन्दू उदय में योगदान। (2) विदेशियों का प्रभाव–ग्रीक और शक क्षत्रियों का पतन और (3) दर्शन में बदलाव की प्रक्रिया– बौद्ध धर्म के विभिन्न सम्प्रदाय या पंथ के रूप में जिसे हम हीनयान और महायान कहते हैं के रूप में आई तथा वैदिक काल में जो बलिप्रथा और देवता थे, वे सब धीरे-धीरे लुप्त होने लगे। जैन धर्म एवं बौद्ध धर्म में जो लाक्षणिक बदलाव की प्रक्रिया रही वह 340 ई॰ सन् से 750 ई॰ सन् तक भारतीय ब्राह्मणवाद में भी बदलाव आते रहे। इतिहासकारों द्वारा इस बदलाव की प्रक्रिया को एक शास्त्रीय युग का नाम दिया गया।

ऐतिहासिक प्रमाण के अनुसार तीन प्रकार के पुस्तकालय प्राचीन काल से ही जुड़े हुए थे। (अ) राजप्रासाद/अदालत (ब) विद्याध्ययन के केन्द्र और (स) धर्म स्थल (हिन्दुओं के मठ, बौद्धों के विहार, और जैनों के उपसराय)

राजप्रासाद/राजमहल के पुस्तकालय

इन सारे पुस्तकालयों के बारे में हमें बहुत कम जानकारी है। इतिहास में प्रमाण स्वरूप कुछ ऐसे राजाओं के नाम हैं जिन्होंने राजप्रासादीय पुस्तकालय या राजमहल के पुस्तकालय के काम को बढ़ाया था। कन्नौज के राजा हर्षवर्धन का पुस्तकालय सबसे बड़ा था। कुछ प्रमाण के अनुसार हर्षवर्धन ने चीनी बौद्ध यात्री हवेनसांग को बहुत सारी पुस्तकें दी थी। (633 ई॰ - 642 ई॰) ये राजा लोग अपने यहाँ आने वाले मेहमानों की इच्छाओं की पूर्ति के लिए ये पुस्तकालय बड़ी हार्दिक तन्यमयता के साथ दिखाते थे। इनका पुस्तकों को एकत्रित करने का जो स्वभाव था वह गुणात्मक एवं परिमाणात्मक रूप में बहुत अच्छा रहा होगा। चालुक्य का राजकीय पुस्तकालय उतना ही महत्वपूर्ण था। इसका नाम भारती भंडागार के रूप में जाना जाता है। चीनी यात्री हवेनसांग ने प्रमाण के रूप में बताया है कि जो राजकीय पुस्कालय थे उनमें एक कश्मीर के पास (गांधार नाम) राजा कनिष्क एवं कुषाण के शासन काल का है।

चीनी यात्री ह्वेनसांग पहले उन पुस्तकों, लिपियों को पढ़ता था फिर उन लिपियों के बारे में कुछ कहता था। उसे ऐसा कहने की पूरी आजादी थी और उसके इस काम के लिए एक

नकलनवीस भी मिला हुआ था। इससे हमें यह भी जानकारी मिलती है कि राजा कनिष्क के शिलालेख और ताँबे की परतों पर यह सब उकेरवाया था। इन सारे शिलालेखों को एक संदूक में रखा गया और उस पर स्तूप उकेरवाया। यह भी जानने में आया है कि कनिष्क अपने आराम के क्षणों में बौद्ध-ग्रंथ को पढ़ता था और एक भिक्षु भी था जो उनको समझाने एवं पढ़ने में मदद करता था।

एक और दूसरा पुस्तकालय आसाम के कामरापुर में था। हवेनसांग ने वर्णन किया है कि राजा भाष्कर वर्मा का स्वभाव बड़ा ही परोपकारी, जानकारी अर्जित करने वाला था जो कन्नौज के राजा हर्षवर्धन के लिए एक प्रकार का वरदान साबित हुआ।

जो राजकीय पुस्तकालय होते थे उसमें दूसरी वस्तुओं के अलावा अनेक प्रकार की पुस्तकें होती थीं, जो एक स्थान से दूसरे स्थान तक स्थानान्तरित की जाती थी। मालवा के परमार जारा भोज के द्वारा एक राजकीय पुस्तकालय की नींव दसवीं सदी की शुरूआत में डाली गयी थी, यह पुस्तकालय वहाँ से राजा सिद्धराज जयसिंह द्वारा (1094-1143) 1140 के आसपास गुजरात के अन्हिलवाड़ ले जाया गया। (बहलर-पृष्ठ 93) यह कहा जाता है कि उसने 300 कर्मचारियों को नकलनवीसी के काम में लगाया था। ऐसा प्रमाण भी मिलता है कि इस राजा ने 1,25,000 प्रतियाँ भी छात्रों के लिए बनवाने का आदेश दिया था। यह संग्रह चालुक्य के राजकीय पुस्तकालय में बड़े काम आई।

एक और राजकीय पुस्तकालय गुजरात के पाटन में था। यह पुस्तकालय श्री कुमारपाल देव के शासन काल में (1143-1174) काफी विकसित हुआ। इन्होंने 21 बड़े पुस्तकालय बनवाये थे। लेकिन बड़े दु:ख की बात है कि इनके उत्तराधिकारी अजयपाल ने इन सारे पुस्तकालयों की अमूल्य निधि जैन धर्म को नष्ट करने के पागलपन में नष्ट कर दिया। हिंदुओं ने भी अपने पागलपन में जब भी मौका मिला इस पुस्तकालय एवं जैनों की लिपियों को जला डाला (दत्ता 1970 पृष्ठ 93) कुमारपाल के मंत्री उदयन और दूसरों ने इस संग्रह को पाटन में स्थानान्तरित किया और कुछ पुस्तकें जैसलमेर भेजी गई। संग्रह का जो भाग पाटन में बचा रहा गया था, चाहे वह राजकीय पुस्तकालय में था या व्यक्तिगत पुस्तकालय में अंत में वह सब वहाँ के क्षेत्रीय पुस्तकालयों को बेच दिया गया जो प्रकारान्तर से विदेशी पुस्तकालयों में पहुंच गये। कहा जाता है कि एक छत्र वाले राजा विक्रमादित्य ने भी एक राजकीय पुस्तकालय बनवाया था। ऐसा ही एक राजकीय पुस्तकालय चालुक्य शासक विशालदेव ने भी बनवाया था जिसने इसका नाम भारती भंडागार रखा।

विद्यालयी पुस्तकालय के केन्द्र

प्राचीनकाल में जितने भी शैक्षिक केन्द्र का पता चलता है उसमें तक्षशिला विश्वविद्यालय सबसे प्राचीन है। इसके साथ दूसरे भी शिक्षा केन्द्र थे, जैसे- काशी, कुरु, विदेह, मत्स्य, उसीनारा और नैमिषारण्य। (कुमार 1977 पृष्ठ 2) गांधार शहर में तक्षशिला 1000 वर्षों तक आगे बढ़ता रहा। ऐसा माना जाता है कि इस विश्वविद्यालय का पुस्तकालय काफी बड़ा रहा होगा। ऐसा माना जाता है कि इस पुस्तकालय का पुस्तकों को वर्गीकृत करने का अपना तरीका था, जिसे संस्कृत में महान व्याकरणाचार्य पाणिनी ने दिया था। तक्षशिला शहर, विश्वविद्यालय एवं उसका पुस्तकालय एक शताब्दी के अंदर ही हूणों के शासनकाल में नष्ट कर दिया गया। ऐसा प्रमाण मिलता है कि पाणिनी और कौटिल्य इसी विश्वविद्यालय की देन थे।

बिहार के पटना में स्थित नालंदा विश्वविद्यालय कई शताब्दियों तक शिक्षा के केन्द्र के रूप में प्रसिद्ध रहा, इसमें हूणों के आक्रमण का बुरा समय भी रहा। हवेनसांग ने इस शिक्षा केन्द्र के बारे में एक विस्तृत वर्णन दिया है, जो हमें यह भी प्रमाण देता है कि उस समय भारत में शिक्षा को लेकर क्या दूरदृष्टि थी। जो पाठ्यक्रम होता था उसमें बौद्ध धर्म एवं हिन्दू धर्म के साहित्य रखे जाते थे, (रेवाहुति- 1790, पृष्ठ 144) जो एक बड़े समूह में तीन इमारतों रत्नोदधि, रत्नसागर, और रत्नगंजम में रखे गये थे। पुस्तकालय परिसर को धर्मगंज नाम से पुकारा जाता था (धर्म क्षेत्र या पवित्र क्षेत्र) शायद यह नाम इसलिए दिया गया था, क्योंकि वहाँ केवल धार्मिक पुस्तकें होती थी, वहाँ धर्मनिरपेक्ष पुस्तकों का अभाव था। कुछ ऐसे भी प्रमाण मिलते हैं कि रत्नोदधि या रत्नसागर इमारत नौ मंजिलों की थी।

बहुत सारे यात्री, तीर्थयात्री इस संस्थान की प्रसिद्धि सुनकर यहाँ आते थे। ये सारे यात्री बौद्ध धर्म की पुस्तकों को मूलभाव में उसके वास्तविक अर्थ को समझने, देखने, सीखने के लिए पुराने विद्वानों के पास भारत आते थे। ये बौद्ध यात्री केवल चीन से ही नहीं बल्कि तिब्बत, जापान और कोरिया से भी आते थे। लगभग 57 यात्री इसी उद्देश्य से 629ई॰ के बीच यहाँ आये थे। (सैल्टोर- पृष्ठ 319) आधुनिक चीनी साहित्य के विद्वान लियांग-ची-चो ने बताया है कि 162 यात्री पाँचवीं शताब्दी से आठवीं शताब्दी के बीच आये। (देवाहुति- 1970, पृष्ठ 144) फाह्यान जो भारत 402 से 414 ई॰ के बीच आया था वह पाटलिपुत्र और तमलुक के बौद्धबिहार में रहा और उसने शायद प्राचीन भारतीय भाषा संस्कृत अथवा पाली सीखी। बौद्ध धर्म जब अपने विकास के चरम बिन्दु पर था, तब पाटलिपुत्र अपने बौद्धबिहार के लिए प्रसिद्ध था और वह भारत में बौद्ध धर्म के विचारों का आकर्षण केन्द्र था।

यह दर्शाता है कि पुस्तकालय के जो कर्मचारी थे वे भी शिक्षित होते थे जो साधारणतया शैक्षिक पृष्ठभूमि से आते थे। उनका शैक्षिक पृष्ठभूमि का होना उन्हें एक कुशल पुस्तकालयाध्यक्ष बनाता था न कि यांत्रिक (मशीन) पुस्तकालयाध्यक्ष...

इत्शिंग ने लगभग 400 प्रतियों को संस्कृत से अनुवाद करवाने की व्यवस्था की थी। यह सत्य हमें बताता है कि नालंदा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय उस समय काफी प्रसिद्ध रहा होगा। उसकी प्रसिद्धि को देखकर जावा के राजा ने इस विश्वविद्यालय की आर्थिक मदद हेतु पाँच गाँव अनुदानित किए थे। इस अनुदान से बंगाल के राजा देवपाल ने उसकी अनुकृतियों की प्रतियां बनवाई, जो उस विश्वविद्यालय में उपलब्ध थी। दु:ख की बात यह थी कि नालंदा अपनी अवनति के अंतिम दौर में चला गया, जो वहाँ के जनमानस में दो प्रमुख तीर्थंकरों के प्रति प्रतिष्ठा थी, विश्वविद्यालय के कुछ नव विद्वानों द्वारा अपमानित हुए। (दत्ता- 1970, पृष्ठ 28)

एक और प्रसिद्ध पुस्तकालय बिहार के मगध स्थान में विक्रमशिला विहार से संबंधित था। यह पुस्तकालय राजा धर्मपाल जो पाल साम्राज्य का राजा था आठवीं शताब्दी में नालंदा की अवनति के समय स्थापित किया गया था। इस संस्थान में 8000 विद्यार्थियों एवं 200 संकाय की व्यवस्था थी। विद्वत् परिषद का अध्यक्ष ही पुस्तकालय का संचालक होता था। इस संस्थान में भी जन ने लगभग 200 पुस्तकों पर काम किया, जिसके लिए एक बड़े पुस्तकालय की जरूरत थी। तिब्बतियों ने इसके पूर्ण विवरण की जानकारी दी है। एक पर्सियन स्रोत तवा-कित-ए-नसीरी जो मिन्हाज उस सिराज के द्वारा लिखी गई थी इस जानकारी से मेल खाती है। संयोगवश बख्तियार खिलजी मिन्हाज के समय के ही आस-पास कुछ खोज के संदर्भ में ही इस केन्द्र में आये। मिन्हाज से यह जानकारी मिलती है कि यहाँ हिन्दू धर्म पर बहुत सारी धार्मिक पुस्तकें थी। (बौद्ध धर्म के बारे में भी) यहाँ आनेवाले जो लोग थे, वे यह महसूस करते कि वे मुक्त हैं, लेकिन वहाँ के जो लोग थे वहाँ से भागने लगे, इस प्रकार कोई भी मुसलमानों को कोई भी सूचना इन पुस्तकों के बारे में देना नहीं चाहते थे। आनेवाले जो लोग थे (मुसलमानों ने) उन्होंने पुस्तकालय को एक किला समझकर नष्ट कर दिया (दत्त 1970, पृष्ठ 20) इस प्रकार की ऐतिहासिक सूचना जो आज भी उपलब्ध है और जिसे बड़े जोर-शोर के साथ उठाया और बताया जाता है कि मुसलमानों ने हिन्दुओं की पहचान नष्ट करने में भाग लिया था, यह सत्य नहीं है।

दक्षिणी भारत में पश्चिमी चालुक्यों के अधीन एक महत्वपूर्ण उच्च शिक्षा का केन्द्र विकसित किया गया था, जो घटिकशाला के नाम से जाना जाता था। यह महाराष्ट्र के नगाई नामक स्थान में स्थित था। इस साम्राज्य के प्रसिद्ध शासक राजा त्रैलोक्यमल थे। इस केन्द्र के अस्तित्व एवं उस पर उकेरे गये शिलालेख 1092 ई॰ के हैं। इस पुस्तकालय में छ: सदस्य होते थे, जो सरस्वती भंडगरिका कहे जाते थे और इनका वेतन दूसरे संकाय के समकक्ष ही होता था। इनका दायित्व पुस्तकों का रख-रखाव पुस्तकों को देना (जारी करना) एवं वापस लेने के साथ विद्यार्थियों का मार्गदर्शन भी करना था। छात्रों को मार्गदर्शन देने का जो कार्य था, वह प्रमुख कार्यों में से एक था, जो आज के संदर्भ में भी प्रासंगिक है, क्योंकि यह दर्शाता है कि पुस्तकालय के जो कर्मचारी थे वे भी शिक्षित होते थे, जो साधारणतया शैक्षिक पृष्ठभूमि से आते थे। उनका शैक्षिक पृष्ठभूमि का होना उन्हें एक कुशल पुस्तकालयाध्यक्ष बनाता था, न कि यांत्रिक (मशीन) पुस्तकालयाध्यक्ष उसके बाद यह पुस्तकालय एक उच्च शिक्षा केन्द्र से जुड़े होने के कारण पुस्तकालय के कर्मचारी का दर्जा प्राध्यापक वर्ग से कम न था।

अयोध्या का जेठवन विहार भी एक शैक्षिक केन्द्र था, ऐसा ह्वेनसांग ने विवरण दिया है। इस केन्द्र में एक पुस्तकालय और एक अध्ययन कक्ष था। वहाँ जो अध्ययन सामग्री थी उसमें न केवल बौद्ध धर्म के साहित्य थे, बल्कि उसमें वैदिक और बौद्ध धर्म के अलावा दूसरे धर्मों की कृतियां भी थीं। जो मुख्य विहार था वह बुद्ध के समय में जलकर नष्ट हो गया था। इत्शिंग द्वारा हमें ज्ञात होता है कि उस समय भारत में बौद्ध धर्म के अलावा अन्य धर्मों के साहित्य को बेचने का प्रचलन था, ऐसा प्रायः बौद्ध लोगों द्वारा किया जाता था। इस तरह जो धन मिलता था, वह विहार में रहने वाले पुरोहितों में बाँट लिया जाता था। बौद्धों के धर्मग्रंथ को बहुत संभालकर रखा जाता था और उसके अनुयायी उसका अध्ययन करते थे, तथा इसे बाहर नहीं भेजा जा सकता था (दत्ता- 1790, पृष्ठ 24, कुमार- 1799, पृष्ठ 13) ह्वेनसांग ने विवरण दिया है कि जेठवन विहार का दुरुपयोग एवं विनाश प्रायः बौद्ध धर्म के इतर लोगों द्वारा किया जाता रहा। किसी समय यह विहार बौद्धों द्वारा पूरी तरह से खाली कर दिया गया था और राजकीय अस्तबल के काम आता था। ऐसा हिन्दू राजा लोग करते थे। इस तरह की असहिष्णुता का उदाहरण ब्राह्मण, बौद्ध राजाओं के परस्पर टकराव एवं विनाश के कारण अराजक दृश्य उपस्थित हो जाते थे। इसी कारण पुस्तकालय और शिक्षा केन्द्र भी बच नहीं सके।

मैत्रिक विहार (गुजरात का मैत्रिक साम्राज्य) जो वल्लभी में था, जो अब वाला में है, इसे महाविहार भी कहा जाता था, जो मैत्रिक शासकों के अधीन था, पांचवीं से बारहवीं शताब्दी के बीच विकसित हुआ। हमें इतिहास से पता चलता है कि इस विहार में सौ के आसपास संघम् या स्कूल थे। लेकिन पता नहीं चल पाता कि इसमें से प्रत्येक संघ का अपना पुस्तकालय होता था या वे किसी केन्द्रीय पुस्तकालय से जुड़े थे। जिनसे 6000 पुरोहितों और कई हजार विद्यार्थियों की जरूरतें पूरी होती थीं। इस केन्द्रीय पुस्तकालय के लिए धर्म-ग्रंथों की खरीददारी के लिए राजकीय अनुदान मिलता था। इस प्रकार का राजकीय अनुदान राजा गुहसेन प्रथम द्वारा दिया जाता था जो 559 ई॰ में थे ऐसा इत्शिंग द्वारा प्रमाण दिया जाता है। (जोशी- 1973, पृष्ठ 102)

गुजरात के पाटन में प्रथम ज्ञात पुस्तकालय था, जिसमें मराठी में ग्रंथ थे, जिसे बनाने में किसी एक विद्वान ने अपना पूरा जीवन लगा दिया था। 12वीं सदी के ऐतिहासिक प्रमाणों के अनुसार इनका नाम भाष्कराचार्य था (1992-93) वे अपने युग के एक प्रखर एवं प्रसिद्ध व्यक्तित्व थे। भाष्कराचार्य को यह गुण उन्हें पिता से विरासत में मिला था, यही कारण है कि वे अंततः अपने पिता से भी आगे निकल गये थे। (जोशी-197, पृष्ठ 19) प्राचीनकाल में उपलब्ध समस्त ग्रंथों का उन्होंने संकलन किया था, जैसे ज्योतिषशास्त्र, गणित-विज्ञान और धर्मशास्त्र। उनकी कृतियों में हमें बौद्ध धर्म एवं जैन सिद्धांतों का उल्लेख मिलता है, जिससे हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनके पास इन दोनों समुदायों से संबंधित साहित्य भी था। इन्होंने एक स्कूल, पुस्तकालय, प्रयोगशाला एवं शोध संस्थान का निर्माण कराया था। उनके पोते चंद्रदेव ने इसे एक उच्च शिक्षा संस्थान में बदल दिया। यह सत्य है कि भाष्कराचार्य ने इस संस्थान का निर्माण अपने ही कोष से कराया था, जबकि चन्द्रदेव ने अपने आश्रयदाता राजा की मदद ली थी, जो उन्हें सहज ही मिल गई थी। यह सहायता उन्हें पाटन के राजा निकुंभ से प्राप्त हुई। एक शिलालेख पर 1207 रुपये की सहायता का उल्लेख मिलता है। जो एक महान आचार्य के कार्यों को पूरा करने के प्रति सर्मपण का भाव दिखाता है। शिलालेख के अनुसार यह वित्तीय अनुदान भविष्य में आनेवाले शासकों द्वारा दिया जायेगा ताकि धार्मिक विचारों का संवर्द्धन होता रहे। सबसे उल्लेखनीय बात यह है कि इस शिलालेख में संस्कृत और मराठी दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया था। इससे यह अनुमान लगता है कि भारतवर्ष तभी से बहुभाषा की तरफ चल पड़ा; हालांकि संस्कृत का प्रयोग कुछ शास्त्रीय प्रतिबंधों के बाद भी होता रहा, पर संस्कृत एक प्रमुख भाषा नहीं रह गई थी। इस प्रकार के कार्यों का संपादन करने के लिए 'कर', लगाया जाने लगा, जिसका उल्लेख इसी शिलालेख में मिलता है। (जोशी- 1793, पृष्ठ 104)

इतिहास में ज्ञात अन्य शिक्षा केन्द्र मिथिला और औद्यंतपुरी (बिहार), सोमनाथ पुरी (अथवा सोमपुर महाविहार/पहाड़पुर जगदल बंगाल में) साग्नात (बिहार में) इत्यादि थे। मिथिला के बारे में हमें जो ज्ञात है कि वे अपने छात्रों को लेखन सामग्री एवं पाठ्य सामग्री बाहर नहीं ले जाने देते थे, क्योंकि बाहर (बाजार) इस प्रकार की पुस्तकें उपलब्ध नहीं थी। (चोपड़ा- 1976, पृष्ठ 152) एक अन्य उदाहरण के अनुसार वासुदेव के लिए तथ्य चिंतामणि और कुसुमांजलि पुस्तक मिलनी दुर्लभ हो गई थी। अतः इन्होंने मिथिला में अध्ययनरत रहकर इसे कंठस्थ कर लिया था। बाद में वहाँ से निकलकर नदिया नामक स्थान में इसे लिखा। इस प्रकार की बँदायूनि ने बड़े अच्छे ढंग से प्रमाणित किया है। संक्षेप में हम कह सकते हैं कि यहाँ जो शैक्षणिक केन्द्र थे वे वाणिज्य केन्द्र के समान ही आकर्षण के केन्द्र थे। दक्षिण भारत में पालना नामक स्थान पर कृष्णा नदी के किनारे नागार्जुन नामक एक बौद्ध भिक्षु ने एक विश्वविद्यालय का निर्माण करवाया था। उस पाँच मंजिली इमारत की अंतिम मंजिल पर एक पुस्तकालय का प्रावधान था। (कुमार- 1977, पृष्ठ 8) ये शिक्षा के केन्द्र दर्शनशास्त्र के केन्द्र के रूप में महान गुरुओं के द्वारा संचालित होते थे। ऐसा अनुमान लगाया जाता है कि पुस्तकों का जो संग्रह

होता था उस पर समय के शासकों या संभ्रांत वर्गों के विचारों एवं दर्शन का प्रभाव पड़ता था।

हमें ऐसा ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है कि मुहम्मद गोरी ने अजमेर में 1191 में पहला मदरसा स्थापित किया था (दिनांक 1206) इस प्रकार से भारतीय इतिहास में एक नये प्रकार के पुस्तकालयों का चलन शुरू किया।

धार्मिक पुस्तकालय के केन्द्र

विभिन्न समुदायों में धार्मिक केन्द्रों के विभिन्न नाम मिलते हैं। साधारणतया इन्हें मंदिर के नाम से जाना जाता है। इस प्रकार के प्रसिद्ध मंदिर पुस्तकालयों के अस्तित्व का उल्लेख कला-इतिहास में मिलता है, जिसमें अध्ययन कक्ष भी होते थे। मालवा के परमार राजाओं ने उदयपुर में नीलकंठेश्वर का जो मंदिर 1059 ई॰ में बनवाया था, इस बात की ओर संकेत करता है। मुख्य मंदिर के चारों तरफ चार लघु मंदिर थे, जिनमें चर्तुभुजाकार वेदी वेदों के अध्ययन के लिए होती थी। इस पुस्तकालय के अंतिम सिरे में ये सब स्थित होते थे (डी॰ सी॰ गांगुली- पृष्ठ 262)

मुस्लिम पंचांग में भी एक अन्य मंदिर पुस्तकालय का उल्लेख मिलता है जो नागरकोट के ज्वालामुखी मंदिर के नाम से जाना जाता है। यह पुस्तकालय 12वीं सदी के आस-पास काफी समृद्ध था और इसका संग्रह विशाल था। मुस्लिम जब तक इस पुस्तकालय तक पहुंचते तब वहाँ केवल 1300 खंड बचे रह गये थे। जब फिरोजशाह तुगलक ने इस स्थान को जीत लिया तो उसने विद्वानों को इस पुस्तकालय के सारे ग्रंथों का अनुवाद करने के लिए आमंत्रित किया। फरिश्ता द्वारा हमें ऐसी जानकारी मिलती है। (कुमार- 1799)

राजराज चोल ने (995-1013) एक विशेष प्रकार के संग्रह को विकसित करवाया था, जिसमें सातवीं शताब्दी के संत देवाराम की स्तुतियों के भाग हैं, ऐसा जेतवर्मन, सुंदर, पांड्य के मंदिर से मिले तमिल शिलालेखों (1251) से पता चलता है।

जैन मंदिर जिन्हें उपसराय के नाम से जाना जाता था उसमें भी अध्ययन सामग्री थी। जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है कि पारंपरिक रूप से लेखन (तत्कालीन कृतियों का पुर्नलेखन) आध्यात्मिक आस्था का एक स्रोत था, और प्रतिदिन उसका पठन एक आम आदमी का कर्तव्य समझा जाता था। पुस्तकालय को ग्रंथ भंडार भी कहा जाता था, जिन्हें पुरोहित संचालित करते थे। इस प्रकार के ग्रंथ भंडार दक्षिण कनारा जिले (कर्नाटक में) जैसलमेर और जयपुर (राजस्थान) आगरा (उ प्र) पाटन और खंभात (गुजरात में) आरा (बिहार) और दिल्ली इत्यादि स्थानों में पाये गये हैं। जैनों ने कई संस्थानों का निर्माण किया, जिनमें ग्रंथों को संरक्षित करने हेतु पुस्कालयों का भी समावेश होता था जो कि एक प्रमुख लक्षण था जो अन्य भारतीय समूहों द्वारा अनुकरणीय था। (बाशम 1975, पृष्ठ 109) जैनों ने अपने साहित्य द्वारा बौद्ध साहित्य की ही तरह पुस्तकालयों एवं पाठ्य सामग्री के विकास में काफी योगदान दिया। ब्राह्मणवादी व्यवस्था ने अपने समक्ष एक पुनर्जागरण का समय पाया, जिसका प्रभाव जैन एवं बौद्ध पुस्तकों के विनाश में दिखाई देता है। तमिल के एक शैव अनुयायी जिसका नाम संबंदर था, ने कई जैन ग्रंथों को नष्ट किया एवं कई जैन भिक्षुओं की हत्या कर दी थी। (कुमार- 1977 पृष्ठ 10)

यह संग्रह बेहद विशाल था। हमें ऐसे यात्रियों का उल्लेख मिलता है जो अपने साथ सैकड़ों पुस्तकें लेकर चलते थे।

फाह्यान नामक यात्री जिसने कई प्रमुख केन्द्रों को देखा था, जैसे उदयन, गांधार, तक्षशिला, पटना, नालंदा, वाराणसी एवं श्रीलंका। बारह वर्ष व्यतीत करने के पश्चात् 414 ई में यह समुद्र मार्ग से चीन लौट गया। उसने अपने संस्कृत के ज्ञान को और भी गहरा किया और बौद्ध धर्म के साहित्य का संग्रह भी किया, जो चीन में उस समय उपलब्ध नहीं थे, और सैकड़ों की संख्या में थीं। ह्वेनसांग 11 वर्षों में 657 पुस्तकों को संग्रहित कर सका। इस प्रकार की पुस्तकों का आकार-प्रकार क्या था हमें इसका कुछ पता नहीं चलता। किन्तु यह सर्वविदित है कि अपने 520 पुस्तकों को यहाँ से समुद्री मार्ग से चीन ले गया। उसने अपने जीवन के शेष बचे नौ वर्षों (664) के लिए चीन में बस गया और केवल 73 पुस्तकों का अनुवाद कर सका या समस्त संग्रह का दसवां हिस्सा ही अनुवादित कर सका। अपने वृहद अध्ययन एवं शोध के आधार पर उसने अपने घर में ही बौद्ध चेतना का स्कूल खोला। ह्वेनसांग अधिकतर नालंदा में ही रहा, जहाँ उसने संस्कृत के ज्ञान, बौद्ध दर्शन एवं भारतीय विचारों को समृद्ध किया। इत्शिंग (672 और आइचिंग) एक अन्य प्रमुख बौद्ध चीनी यात्री था, जो पुस्तकें नालंदा से ले गया। वह दूसरे अन्य संस्थानों से कितनी पुस्तकें ले गया इसकी निश्चित जानकारी हमें नहीं है।

राजाओं, संभ्रांत वर्गों का व्यक्तिगत संग्रह यह एक गहन शोध का विषय है। पाटन के जैन भंडार (पुस्तकालय) की वृद्धि सूची पर एक नजर डालने पर यह ज्ञात होता है कि उस समय वहाँ व्यक्तिगत पुस्तकालयों को बनवाने का चलन था। (दत्ता- 1970, पृष्ठ 39) अपने क्षेत्र के जो प्रकांड विद्वान थे जैसे बाण, कौटिल्य, पातंजलि, पाणिनी, शंकराचार्य और रामानुजाचार्य, इन सबका अपना व्यक्तिगत संग्रह था। इत्शिंग ने ऐसी सूचना दी है कि भिक्षुओं का अपना व्यक्तिगत संग्रह होता था।

प्रशासन एवं प्रबंधन

हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो की खुदाई से यह विदित होता है कि उन दिनों प्रशासन एवं उपलब्धियों के प्रमाण को संरक्षित करने का प्रचलन था। (जे॰ ए॰ शर्मा- 1965 पृष्ठ 13-14 और पी॰ एन॰ कौल- 1958, पृष्ठ 58) उन दिनों कृतियों को संरक्षित करने की तकनीक एवं प्रयोग का भी प्रमाण मिलता है। लेकिन वे इमारत की बनावट के प्रति बहुत ध्यान नहीं देते थे। गार्डेन चाइल्ड के मतानुसार सिंधु घाटी सभ्यता के समय पुस्तकालय की जो इमारतें थीं वे पूर्व योजना के अनुसार बनाई जाती थीं और उनको बनाने में ईंटों का प्रयोग होता था (चाइल्ड 1952 पृष्ठ 225) नालंदा विश्वविद्यालय के पुस्तकालय का परिसर जिसके इमारत की संरचना का कुछ विवरण आज भी उपलब्ध है। जैसे कि पहले ही कहा जा चुका है कि इमारत नौ मंजिला थी।

हमें एक संकेत मिलता है कि नागाई में जो शिक्षाकेन्द्र था उसमें छः सदस्य थे जिनका वेतन और स्तर संकाय के दूसरे विद्वानों के समान था।

"अर्थशास्त्र" एक प्रमुख स्रोत है जिससे हमें विशेष जानकारी प्राप्त होती है कि उस समय के पुस्तकालयों के रख-रखाव की जिम्मेदारी लोगों पर थी। इस विशिष्ट जानकारी के संदर्भ में हमें एक संकेत मिलता है कि नागाई में जो शिक्षाकेन्द्र था उसमें छः सदस्य थे जिनका वेतन और स्तर संकाय के दूसरे विद्वानों के समान था। पुरातत्वविद् और जो संग्रहकर्ता थे वे बढ़ते जा रहे थे। इतिहास साक्षी है कि विक्रम संवत के भीमदेव ने संग्रहकर्ता की नियुक्ति की। (कुमार 1977, पृष्ठ 21) इस विवरण के अतिरिक्त दूसरी ऐसी कोई जानकारी का स्रोत नहीं है। जिससे हमें उनके सहायक पैटर्न की जानकारी मिले। इस तरह का कोई भी प्रमाण हमें दसवीं शताब्दी के पश्चात ही मिलता है, जब ऐतिहासिक तथ्यों एवं दस्तावेजों का समुचित संकलन किया जाने लगा, जिसका सीधा तात्पर्य है कि भारत में मुस्लिम काल की शुरुआत। पांडुलिपि तैयार करने वाले एवं उनके सहायक प्रायः पुस्तकालय के कर्मचारी उसके अभिन्न अंग होते थे।

जो संग्रह का विकास हुआ। वह प्रायः उपहार या युद्ध में जीते भाग से मिलता था, अथवा उपलब्ध ग्रंथ की नकल से तैयार किया जाता था। ग्रंथ खरीदे जाते थे, ऐसा सुना नहीं गया। प्रायः पुस्तकालय पवित्र ग्रंथों से भरे पड़े रहते थे। भाषाओं के विकास के साथ संदर्भ ग्रंथों का उदय भी अध्ययन एवं शोध के लिए संभावित वस्तुओं के रूप में हुआ होगा। आठवीं शताब्दी के आसपास इस प्रकार के भाषा एवं व्याकरण संबंधित पुस्तकों की भरमार हो गयी थी। स्थानीय लोग और अभारतीय सम्राट जो पूर्वोत्तर से थे उन सबों ने संस्कृत का प्रयोग साहित्यिक कार्य के लिए किया, एवं यही लोग इन भाषाओं के पहले प्रयोगकर्ता रहे होंगे। इस काल में स्तुतियों की रचना की जाने लगी एवं सभाओं को इन लोकप्रिय भाषाओं में संबोधित किया जाने लगा। यह क्रमशः संस्कृत एवं प्राकृत भाषाओं से टूटकर नया रूप पकड़ने लगेगा। इसी घटनाक्रम में कई क्षेत्रीय भाषाओं का प्रादुर्भाव होने लगा। जैसे कन्नड़, तेलुगु, मराठी, मलायलम, गुजराती, बंगाली एवं उड़िया। भक्ति आंदोलन, जो उस युग में अपनी गतिशीलता

को पकड़ रहा था, ने इन क्षेत्रीय भाषाओं के प्रसार में महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा की। इस युग में संस्कृत ग्रंथों की अधिक से अधिक अध्ययन की परिपाटी का चलन हुआ। लेकिन विचारों का धरातल पहले जैसा ही था। जैसा कि उनमें सामाजिक एवं वैज्ञानिक साहित्य नहीं था। तकनीकी एवं वैज्ञानिक पुस्तकें बहुत कम मात्रा में लिखी गईं, जो कि मुस्लिमों द्वारा पश्चिमी जगत को दे दिए गये।

इन पुस्तकों का वर्गीकरण करने के लिए विभिन्न प्रकार के सिद्धांत थे। पुस्तकों के वर्गीकरण करने का जो सिद्धांत था वह बौद्ध, ब्राह्मण एवं जैन पुस्तकालयों में सर्वथा भिन्न था। मुस्लिम पुस्तकों के वर्गीकरण की पद्धति भी पूर्णत: अलग थी। उदाहरण के तौर पर बौद्ध धर्म के साहित्य के तीन प्रमुख भाग थे, जैनों के छ: समूह थे और ब्राह्मण वर्गीकरण के चार भाग थे।

प्राचीन भारतीय पद्धतियों का निरीक्षण करने से यह पता चलता है कि उस समय भी विचारों का अस्तित्व और ज्ञान के स्तर के वर्गीकरण की परंपरा थी। बौद्ध धर्म के तीन भाग थे जिन्हें 'त्रिपिटिक' नाम से जाना जाता है, जैसे विनय, सूत्र और अभिधम्म। जैनों ने अपने शास्त्रीय साहित्य को छ: भागों में बाँटा जिसमें 12 अंग, 12 उपंग, 10 पैनास, 6 क्षय सूत्र, 4 मूल सूत्र और दो स्वतंत्र ग्रंथ थे। ब्राह्मणों के वर्गीकरण के चार प्रकार थे जिनके नाम इस प्रकार हैं– धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। कौटिल्य ने जिसे अपने मतानुसार पुन: चार भागों में वर्गीकृत किया– विक्षकी, त्रयी, वार्ता और दंडनीति। (गोवेन 1975, पृष्ठ 93, दत्ता 1970)

प्राचीन एवं मध्यकाल में ग्रंथों को वर्गीकृत करने की जो सूची थी वह बहुत व्यवस्थित नहीं थी। पूर्ववर्ती काल में जो अनुक्रमणिका होती थी। (अथवा भारतीय संदर्भ ग्रंथ) जिसमें श्लोकों, लेखकों, सूत्रों के रूप में, श्लोकों की संख्या, ऋषियों के नाम जिनके द्वारा वे रचित होते थे तथा वे छंद जिनमें ये श्लोक लिखे जाते थे आदि सभी समाहित होते थे। भारतीय संदर्भ सूची परम्परा से असंतुष्ट होकर पुस्तकालय विशेषज्ञ पिछले 150 वर्षों से अधिक समय से यह प्रयास कर रहे हैं कि प्राचीन कृतियों को सही ढंग से सूचीबद्ध किया जा सके।

पुस्तकों के संरक्षण की सफलता के संदर्भ में जैन बहुत आगे रहे। उनके पुस्तकालय तलधर में होते थे। ताकि उन्हें सूर्यप्रकाश एवं धूल से बचाया जा सके। इन पुस्तकों को सुरक्षित रखने के लिए चमड़े एवं लकड़ी के संदूकों (बाक्स) का प्रयोग किया जाता था। इन पुस्तकों को सूती धागे की गाँठ बनाकर बदलते वातावरण की स्थितियों एवं धूल इत्यादि से बचाया जाता था। वृक्षों की छाल एवं नारियल की पत्ती को आपस में मिलाकर (बँटना) बीच में एक छेंद बनाकर पुस्तक को बाँधा जाता था, जिसे आज बुक बाइंडिंग कहते हैं। पुस्तक का आवरण पृष्ठ प्राय: कपड़े का होता था। सामान्यता बाहरी आवरण मौसमी लकड़ी से बनते थे, आवरण पृष्ठ को चमड़े से कभी भी ढँका नहीं जाता था– जैसा कि मुसलमानों के भारत में आने के बाद प्रचलित हुआ। वृक्षों की छाल मोड़ने पर टूट जाती है। इस प्रकार प्राचीन पुस्तकों का एक बड़ा भाग गोल ढंग से लपेटे हुए (रोलफार्म) रूप में मिलता है।

पुस्तकालयों के लिए इस समय व्यक्तिगत वित्तीय अनुदान प्राय: नहीं मिलता था। वित्तीय अनुदान के संदर्भ में हमें 'महाभारत' में एक उल्लेख मिलता है जिसके अनुसार प्रत्येक राजा को पुस्तक से संबंधित कार्यों के लिए 'सरनवीस' या वित्तीय सहायता देनी चाहिए। इस प्रकार की वित्तीय सहायता महलों/अदालतों के नियंत्रण में होती थी। (रघुनंदन शास्त्री– 1951) राजकीय वित्तीय सहायता के कई उदाहरण मिलते हैं, जैसा कि छठीं शताब्दी में वल्लभी के राजा गुहसेन द्वारा पुस्तकालय के लिए दी गई गाँव की वित्तीय सहायता, नालंदा के विकास के लिए राजा देवपाल द्वारा दिया गया गाँवों का वित्तीय अनुदान, इसी प्रकार ग्याहरवीं शताब्दी में राजा त्रैलोक्यमल द्वारा एक शिक्षा केन्द्र एवं पुस्तकालय की स्थापना का वर्णन मिलता है। जिसमें छ: पुस्तकालय कर्मचारी थे। पाटन के शासकों द्वारा भाष्कर के शोध संस्थान एवं पुस्तकालय के लिए दिया जाने वाला अनुदान और इसकी अनवरत सहायता हेतु लिया जाने वाला 'कर' एक मील का पत्थर के उदाहरण स्वरूप प्रमाण रूप में है। गुप्त साम्राज्य ने नालंदा विश्वविद्यालय के रख-रखाव हेतु कई गाँवों की आर्थिक सहायता दी थी।

उस समय जब भारत में पुस्तकों की छपाई का प्रचलन नहीं था, उनके संदर्भ में हम डी एन मार्शल का कथन उद्धृत कर सकते हैं। जो भारतीय पुस्तकों एवं पुस्तकालयों के अग्रणी इतिहासकार रहे हैं– 'कुछ विद्वानों का मानना है कि यहाँ (भारत) जो बड़े एवं महान पुस्तकालय थे, वे मुसलमानों के आने के पहले थे ही नहीं, उसे केवल बढ़ा-चढ़ाकर बताया जाता है, जो सत्य से परे हैं।' (मार्शल 1983, पृष्ठ 79) कोई भी इस बात पर बल नहीं दे सकता कि प्राचीन भारत में पुस्तकालय एक सामान्य संस्थान होते थे। प्राचीन भारत में पुस्तकालय को खंड-खंड रखने का चलन परंपरा में थी। पुस्तकालयों की अपेक्षा एक ऐसा युग था जिसमें ग्रंथों की सुरक्षा एवं संग्रह किया जाने लगा था, ऐसा भी विश्वास था कि सूचनाओं के स्रोत का आदान-प्रदान करना 'अधार्मिक' है, ऐसा माना जाता था।

□□□

भूमण्डलीकरण के दौर में किताबें

परमानंद श्रीवास्तव

याद आता है कि लगभग आधी सदी पहले 'युगमन्दिर' उन्नाव गया था–सुमित्रा कुमारी सिन्हा से मिलने। उनके पति और अजित कुमार व कीर्ति चौधरी के पिता चौधरी राजेन्द्र शंकर मिले थे और निराला जी की एक समय की कार्यशाला के रूप में वे जहाँ युगमन्दिर का कोना-कोना दिखा रहे थे, वहीं अपने समय की वे घटनाएँ भी, जो आगे इतिहास बन जाने वाली थीं। कीर्ति-ओंकार का विवाह हुआ– सम्पूर्णानन्द जी के घर में। मैं दोनों पक्षों की ओर से था। लखनऊ मेरे लिए राही मासूम रजा का अलीगढ़ था। आधी सदी बाद विजय पंडित-मृदुला पंडित के अनुरोध पर उन्नाव पुस्तक मेले में न गया होता, तो यह सब याद नहीं आता। संयोग यह कि वहाँ सुरेश सलिल और जगदम्बा प्रसाद दीक्षित भी थे, जो उन्नाव के थे। अशोक वाजपेई ने गाँव की चर्चा की। गणेश शंकर विद्यार्थी, कम्युनिस्ट पार्टी, गढ़ाकोला से जुड़ी निराला की यादें। अब पुस्तक मेले के साथ शिल्प मेला भी था और पुस्तकालय समिति और पुस्तक मेले की आयोजन समिति के अध्यक्ष जिलाधिकारी मुकेश मेश्राम भी थे। उनका होना विभूति नारायण राय की तरह "भूमण्डलीकरण के दौर में किताबों का भविष्य" संगोष्ठी में सहज-सजग लेखक का होना था। उधर प्राची पाठक के साथ रंगशिल्पी मुम्बई की टीम थी जो प्राची के निर्देशन में 'पूर्ण पुरुष' नाटक की प्रस्तुति करने जा रही थी। और आलोक, अशोक, पीयूष तथी प्रियमन-जैसे संस्कृति कर्मी थे जो किताबों को जन-संस्कृति का हिस्सा मानकर समर्पित थे और लग रहा था कि मेधा पाटेकर, अरूंधती राय, शबाना आजमी अकेले नहीं हैं। पुस्तक मेले में राजस्थान का कालबेलिया नृत्य था, जिसके छंद में एक अनिवार्य लयात्मक तेजी थी। यह हुनर से अधिक था–और 'किताबों को बचाओ' नारे के साथ था। आलेख लौट कर लिखा जा रहा है इसलिए यह पूर्व टिप्पणी अनिवार्य हो उठी। अब हम मूल विषय की ओर आ सकते हैं– "भूमण्डलीकरण के दौर में किताबों का भविष्य"। मेले में राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय नई दिल्ली के निदेशक देवेन्द्र राज अंकुर निर्देशित सम्भव की प्रस्तुति थी-रंगयात्रा, जिसे मैं प्राची की प्रस्तुति की तरह ही देख नहीं सका, पर उत्सुकता बनी थी। यह एक तरह का प्रबल जन-प्रतिरोध था या सांस्कृतिक पहल थी–किताब को लेकर किताब के बहाने। 'सहारा समय' में मेरे लेख 'किताब से कौन डरता है' की लगातार चर्चा थी।

पहला सवाल तो यही उठेगा कि भूमण्डलीकरण (ग्लोबलाइजेशन) है क्या? वह क्या

अचानक घटित होने वाला नया यथार्थ है या पूँजीवाद-साम्राज्यवाद का नया सा रूप या संस्करण! उसका उत्तर आधुनिकता से या बाजारवाद से क्या रिश्ता है? वह इलेक्ट्रानिक मीडिया को हाई-टेक क्रांति में बदलने वाली परिघटना मात्र है, या प्रिंट मीडिया पर हमला है। वह कलाओं को लम्बी आयु देता है या तकनीकी से जुड़कर उनकी क्षय ग्रस्त दुर्घटनाओं का अंतिम विस्फोट है। उसका प्रकृति, धर्म राजसत्ता, विश्वधर्म से क्या रिश्ता है। वह कितना पुरातात्विक है, कितना नया है। कितना स्वीकार, कितना नकार है। इसमें दलित स्त्रियाँ व आदिवासी कहाँ है। गाँधी के हिन्द-स्वराज (1909) को नये भूमण्डलीकरण वाले दौर में पढ़ें तो कैसा लगता है। अगर गाँधी का दु:स्वप्न था कि एक दिन राष्ट्र की आत्मा में भी दरार पड़ सकती है, जो कि पड़ गयी है, तो इस अंधकार से निकलने की युक्ति या रणनीति क्या हो सकती है। हो भी सकती है या नहीं। आखिर किशन पटनायक की किताब का नाम ही है–'विकल्पहीन नहीं है यह दुनिया।' तो पुस्तकों से डर किसे है? लोकार्पण पर प्रतिबंध क्यों है? वह भी सोलहवें विश्व पुस्तक मेले के अवसर पर। किसे एतराज है कि पुस्तकें गड़बड़ी फैला सकती हैं, इसलिए इन पर रोक लगे। इतने सवाल हैं और जाहिर है ये जटिल सवाल भी हैं। ये छूट जाएंगे और हम और-और विमर्शों में फंस जायेंगे। इसलिए एक-एक कर कुछ बातें कही जा सकती हैं। इसमें क्या शक है कि भूमण्डलीकरण की प्रक्रिया अपने आप में मुश्किल चुनौती है। उसे जाने बगैर, किताबों के भविष्य पर आयु के संकट को न समझा जा सकता है, न बताया जा सकता है।

प्रसिद्ध पत्रकार और विचारक शाम लाल ने पैथॉलाजी ऑफ ग्लोबलाइजेशन नामक अपने निबंध में 1996 में कहा था–हम भ्रम में न रहें कि यह हमारे पुरखों का दिया स्वप्न वसुधैव कुटुम्बकम का नजदीकी अर्थपाद (टर्म) है। यह उससे भिन्न बाजार, पूँजी, मुक्त व्यापार, साम्राज्यवाद के नये दबावों से जुड़ा है। आधुनिकता ने पारंपरिक को छोड़ दिया है। पर भमूण्डलीकरण के प्रवक्ता तो मानवीय भाईचारे, मैत्री, सामाजिक एकता को ही भावुकतापूर्ण प्रलाप (सेंटिमेण्टल नूसेन्स) मान रहे हैं। जिसमें भावुक होने की गुंजाइश नहीं है। ऐसे दौर में किताबें जो प्रेम और करुणा का विस्तार करती हैं, दलित विमर्श या स्त्रीविमर्श का विस्तार करती हैं या सिर्फ माल (कॅमोडिटी) हैं–उनकी मार्केटिंग कैसे करें सवाल यह है, प्रकाशक इसके लिए विक्रम सेठ, सलमान रुश्दी, तस्लीमा नसरीन के पीछे भागेगा और उनके लिए बड़ी पूँजी खर्च करेगा। महत्वपूर्ण नये लेखक, विचारक या पत्रकार से दूर ही रहना चाहेगा। बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ हमारे रोज के जीवन में हस्तक्षेप करेंगी। वे नीम, बासमती, पर्यावरण को ब्रैंड बना देंगी और हमारा सब कुछ उनके नाम पर बिकेगा। यह हो रहा है। अधिक विकृत और अश्लील रूप से होने वाला है। कम्पनियाँ बंद हो रही हैं। 60 की उम्र से पहले लोग ऐच्छिक सेवानिवृत्त पसंद कर रहे हैं। हम विस्थापित होने के कगार पर हैं। केन्द्र में ज्योतिष कर्मकाण्ड पुरोहितों की दुकानें किस तरह सत्ता का संरक्षण प्राप्त कर रही हैं। यह 16वें विश्व पुस्तक मेले में हम देख चुके हैं। किताबों पर सन्नाटा है–उनसे बाहर स्वर्ग ही स्वर्ग है। कमलेश्वर का 'कितने पाकिस्तान' राजस्थानी, गुजराती, मराठी, बांग्ला की तुलना में निरन्तर बिक रहा है–सिर्फ इसलिए नहीं कि पुरस्कार प्राप्त कृति है–चर्चित वह इसलिए है कि भारत-पाक रिश्ते में नयी उम्मीद का प्रतीक है। खबर है कि साहित्य अकादमी के अध्यक्ष पद के संघर्ष में कमलेश्वर उधर थे, जहाँ से सेकुलरिज्म को चुनौती दी जा रही है। कमलेश्वर लम्बे समय से लिखते आ रहे थे–राजा निरबसिया जैसी कहानी से आँधी फिल्म तक, अब मिला तो पुरस्कार ही संदिग्ध लगने लगा। बिकने वाली किताबें और भी होंगी वही जो सनसनी पैदा करती हों।

याद करें कि 'चंद्रकान्ता' की मार्केटिंग किसने की होगी और पाठक ऐसे उमड़े होंगे कि पढ़ने के लिए हिन्दी सीखें। पर प्रेमचंद की असीमित लोकप्रियता की पृष्ठभूमि भी प्रेमचंद के कठोर श्रम और लेखक की बहुपक्षीय भूमिका से जुड़ी है। प्रेमचन्द के पत्र बताते हैं कि छपाई से लेकर पैकिंग, डिस्पैच की चिन्ता खुद

प्रेमचंद के जिम्मे है। यह कहना भी अर्द्धसत्य है कि थोक खरीद ने पुस्तक को पाठकों तक जाने ही नहीं दिया। इस तर्क को आगे बढ़ाकर सरकारी खरीद को रोकने की मुहिम चलाएंगे, तो दूसरे संकट का सामना करना होगा। हम सरकारी एजेन्सियों पर दबाव क्यों न बनायें कि वे किताबें खरीदें, लाइब्रेरियों में पहुँचायें, किताब भेजने पर डाक खर्च अलग से कम करें। रेडियो-टेलीविजन यानी प्रसार भारती का दायित्व हो कि हर खबर में किताब से जुड़ी खबर शामिल हो। 'सुबह सवेरे' चैनल को अचानक जिस सत्ता ने बंद किया उसकी सोच किताब पर घोषित हमलों से ज्यादा खतरनाक थी। मीडिया चैनलों पर 'पुस्तकों की दुनिया' जैसे कार्यक्रम नगण्य हैं। 'लेखक-पाठक-संवाद' जैसे मंच अनुपस्थित है।

अब आयें जन प्रतिरोध मंच से किताब की आजादी पर बहस कहाँ से शुरू हो। सबसे पहले-पहले जो जरूरी संभावनाएँ शैक्षणिक संस्थाओं विश्वविद्यालयों के परिसर में संभव थी, वह धीरे-धीरे खत्म हो रही हैं। हालाँकि नयी शुरूआत भी वहीं से होगी। कम साधनों में किताब को बचाने की लड़ाई कहाँ से लड़ी जाय। किताब बचाओ यात्रा कहाँ से कहाँ तक निकाली जाय। यह सच्ची भारत की नवजागरण जैसी यात्रा होगी। साधन स्वयंसेवी संस्थाएँ दें। स्थानीय समितियाँ यात्रा पहुँचने पर सहयोग आतिथ्य जनता से संवाद जैसी जिम्मेदारियाँ स्वीकार करें। पुस्तक का पक्ष एक 'कम्यून' की तरह काम करे। थिएटर इसका जरूरी हिस्सा हो सकता है। संस्कृति कर्मी एकजुट हों, काव्यपाठ, कथा पाठ, नाट्य प्रस्तुति जरूरी कार्यक्रम हों। जनता पुस्तक मेले में नही जा रही हो तो हम पुस्तकें लेकर जनता तक जायें। व्यक्तिगत अहंकार और स्वार्थ आड़े न आये। क्राँति कल्पना भी है, कर्म भी। हम दोनों से जुड़ें। उन पर भरोसा करें। स्त्रियों की भागीदारी इस हद तक हो कि 'घर' का एक कोना घरेलू बजट में किताब के लिए हो।

भूमण्डलीकरण के अपने संकट हैं वह बड़े ताकतवर देशों के खेल की तरह हैं। बड़ी पूंजी, बड़ी सत्ता, एलीट का खेल है। दूसरे क्षेत्रों में जैसे भारतीय राजनीति, अर्थतंत्र को देखें तो अँधेरा ही अँधेरा है। पेप्सी कोला, कोका कोला के विज्ञापन किस वर्ग की खुशियाँ दिखा रहे हैं। यह मुफ्त रोमांस है—आग में न आते लीलाविनोद के बिम्ब हैं। यह मार्केटिंग है। नये कार मॉडल, नये फैशन, फैशनालिटी के टी वी कार्यक्रम रोज की खुशियाँ हैं। यही 'गुड फील' है। दूसरी ओर भुखमरी, गरीबी, हत्या, हिंसा, दंगे, लूट, भ्रष्टाचार की दुनिया है। रेल यात्राएँ, विमान यात्राएँ असुरक्षित हैं, पर फार्म हाउसों में काकटेल पार्टियाँ हैं, नये ढंग से देह व्यापार है।

यह तो शुद्ध भ्रम है कि प्रिंट मीडिया का विकल्प 'इलेक्ट्रानिक मीडिया, फ्लॉपी, सीडी कैसेट हैं। किताब का कोई विकल्प नहीं है। किताबें दिन रात साथ रहने वाले दोस्त की तरह हैं। यहाँ लेखक का एकांत है—कोई तीसरा पाठक-पुस्तक के बीच नहीं है। ध्यान रखें-भूमण्डलीकरण का कोई अर्थ उसके लिए नहीं है जो न विक्रेता है न ग्राहक। किताब का आनंद सेंटिमेण्टल नूसेन्स नहीं है—एक विज़नरी या स्वप्न दृष्टा का स्वप्न है। वह फैंटेसी नहीं है, सच्चाई है। रोलॉ बार्थ की लेखक की मृत्यु की अवधारणा 'पुस्तक' का निरन्तर स्वप्न है। लेखक रहे न रहे, किताब पुरानी होकर भी नयी रहेगी क्योंकि उसका भाग्य वही नहीं होगा जो पहले था। हम उसे देख रहे होंगे छू रहे होंगे, पढ़ रहे होंगे।

उन्नीसवीं सदी की अमरीकी कवयित्री एमिली डिकेन्सन की जीवन काल में कुल छह कवितायें छपी हैं और उनकी काव्य प्रतिभा संदिग्ध मानी गयी है। मरणोपरान्त उनके पत्र, डायरियां दो हजार से अधिक कविताएँ उपलब्ध हैं। कहते हैं कि एमिली के किसी प्रेमी बढ़ई ने काठ की डिबिया में जिस अमूल्य ग्रंथ को बचाया था, वह एमिली की डायरी थी। हम अंत में केवल उस असंभव सी कृति से कुछ वाक्य या सूत्र दे रहे हैं—जिनसे लिखित या मुद्रित शब्द के बारे में हमारी धारणा पुष्ट होती है—कि भूमण्डलीकरण के दौर में भी किताब का कोई विकल्प नहीं है—

—तुम्हें क्या पता कि क्या-क्या तुम बुन सकते हो इन अदृश्य धागों से! सुनहरे धागे, जो तुम्हें जीवन के प्रति लगातार उत्सुक बनाते हैं।

—स्त्री और पुरुष दोनों अपने इर्द-गिर्द चौहद्दियाँ बनाते हैं। होना तो उन्हें चाहिए, जो इन्हें तोड़ सकें।

—संगीत की जगह में चुनती हूँ चुप्पी।

—जीवन उसकी प्रतीक्षा है जो कभी आता नहीं।

—कवि बोलते हैं। पर सच पुरुष-कवि, स्त्री-कवि में भेद नहीं करता।

—उम्मीद के पंख होते हैं आत्मा में धागे।

—मैं प्रेम को छिपाती नहीं। खुश हूँ कि प्यार करती हूँ।

—कविता मेरा कुल जीवन नहीं है। कविता से अधिक है मेरा जीवन।

□□□

ई-बुक के बरक्स पुस्तक संस्कृति

रवीन्द्र कात्यायन

सैकड़ों साल से पुस्तकें हमारी ज़िन्दगी का अभिन्न हिस्सा रही हैं। हम ऐसी दुनिया की कल्पना ही नहीं कर सकते जहाँ पुस्तकें न हों। पुस्तकों में ज्ञान का ख़ज़ाना तो भरा ही है, हमारी ज़िंदगी की सारी ज़रूरतें भी पुस्तकों द्वारा ही पूरी होती रही हैं। पुस्तकें न होती तो हम अपनी परंपरा, संस्कृति, सभ्यता, साहित्य, कला आदि को न संचित कर पाते और इनके बारे में कभी जान पाते। पुस्तकें हमें जीना सिखाती हैं, जीने की कला सिखाती हैं।

लेकिन हमारी कल्पना में पुस्तकों का जो रूप है, वो हाथ में लेकर उसे देख-परखकर पढ़ने का है। तकनीक के आगमन से पुस्तक की हमारी अवधारणा में फर्क आया है। पिछले बीस-पच्चीस सालों में संचार-क्रांति ने हमारे जीवन की दशा और दिशा में मौलिक परिवर्तन किए हैं। जीवन की गति, जो बैलगाड़ी की रफ़्तार से आगे बढ़ रही थी, आज जेट प्लेन की रफ़्तार से आगे बढ़ रही है। ऐसे में जितना परिवर्तन एक हज़ार साल में आया था, उतना पिछले लगभग तीस सालों में आया है। इंटरनेट ने एक ऐसी आभासी दुनिया के द्वार खोल दिए हैं, जो पूरी दुनिया से हमें जोड़ने का महाद्वार है।

इंटरनेट ने जहाँ संचार के नए-नए संसाधन तलाश किए हैं, वहीं अभिव्यक्ति के नए-नए माध्यम भी खोजे हैं। कम्प्यूटर, मोबाइल, ईमेल, सोशल नेटवर्किंग साइट्स, ई-पुस्तक, आइ-पैड, टेबलेट पीसी आदि ने हमारी जीवन शैली ही बदल कर रख दी है। युवा हो या बच्चा या वृद्ध, गाँव हो या शहर, अमीर हो या गरीब–इस जीवन शैली से अछूता नहीं रहा। ई-पुस्तक भी इस जीवन शैली का हिस्सा है जो धीरे-धीरे हमारे जीवन में प्रवेश कर रही है। दूसरे माध्यम, जैसे कम्प्यूटर, मोबाइल, ई-मेल आदि हमारे लिए बिल्कुल नए हैं इसलिए हमने उन्हें तुरंत अपना लिया, लेकिन पुस्तक हमारे लिए बहुत परिचित रही है, इसलिए ई-पुस्तक अपनाने में हम बहुत सहज नहीं हो पा रहे हैं। दूसरी बात यह है कि ई-पुस्तक की उपलब्धता अभी भारतीय भाषाओं में लगभग न के बराबर है इसलिए भी आम आदमी में अभी भी इसके लिए बहुत आकर्षण नहीं दिख रहा है।

पहले ई-पुस्तक के बारे में कुछ जानना आवश्यक है। मुक्त ज्ञानकोश विकीपीडिया के अनुसार– "ई-पुस्तक (इलैक्ट्रॉनिक पुस्तक) का अर्थ है डिजिटल रूप में पुस्तक। ई-पुस्तकें कागज के बजाय डिजिटल संचिका के रूप में होती हैं जिन्हें कम्प्यूटर, मोबाइल एवं अन्य डिजिटल यंत्रों पर पढ़ा जा सकता है। इन्हें इंटरनेट पर भी छापा, बांटा या पढ़ा जा सकता है। ये पुस्तकें कई फाइल फॉर्मेट में होती हैं जिनमें पीडीऍफ (पोर्टेबल डॉक्यूमेण्ट फॉर्मेट), ऍक्सपीऍस आदि शामिल हैं। इनमें

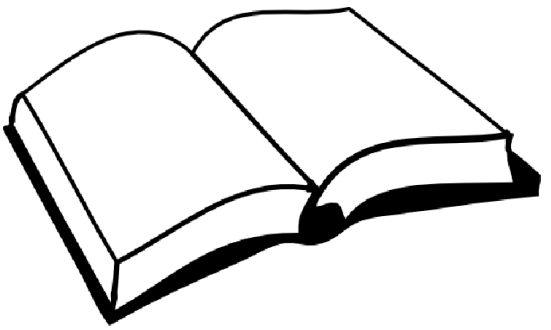

पीडीऍफ सर्वाधिक प्रचलित फॉर्मेट हैं। जल्द ही पारंपरिक किताबों और पुस्तकालयों के स्थान पर सुप्रसिद्ध उपन्यासों और पुस्तकों के नए रूप जैसे ऑडियो पुस्तकें, मोबाइल टेलीफोन पुस्तकें, ई-पुस्तकें आदि उपलब्ध होंगी।"

ई-पुस्तक का इतिहास करीब साठ साल पुराना है। सन् 1949 में रोबर्टो बूसा ने "इंडेक्स थॉमिस्टिकस" नामक पहली इलैक्ट्रॉनिक सूची बनाने की कोशिश की थी। लेकिन उसके कार्य को बहुत मान्यता नहीं दी गई क्योंकि ये पुस्तक सूची के रूप में थी, प्रकाशित किताब के रूप में नहीं। उसके बाद पूरी दुनिया में अलग-अलग स्तरों पर बहुत से लोगों ने इस तरह के कार्य किए जो ई-पुस्तक के विकास में किसी न किसी रूप में सहायक हुए हैं। पिछले लगभग दस सालों में तकनीक ने जो प्रगति की है, उसमें ई-पुस्तकों की उन्नति अपने आप हुई है। ई-पुस्तक तकनीक का एक हिस्सा है इसलिए तकनीक के साथ ही उसकी प्रगति भी हुई है।

ई-पुस्तक को पढ़ने के लिए दो चीज़ों की ज़रूरत है–एक सॉफ्टवेअर, दूसरा हार्डवेअर। बाज़ार की ज़रूरत को देखते हुए टेकनॉलोजी बनाने वाली कंपनियों ने विभिन्न तरह के सॉफ्टवेअर और हार्डवेअर विकसित करके बाज़ार में उतार दिए हैं। इनमें प्रमुख सॉफ्टवेअर फॉर्मेट्स हैं–एडोब पीडीएफ, ईपब, एजेडडब्ल्यू , टीएक्सटी, आरटीएफ, एचटीएमएल आदि। इनमें से कुछ तो पहले से ही उपलब्ध थे और कुछ केवल ई-पुस्तकों के लिए ही बनाए गए हैं। ई-पुस्तकों को पढ़ने के लिए कुछ ई-बुक रीडर भी बनाए गए हैं जो सिर्फ किताब पढ़ने के लिए ही प्रयोग किए जाते हैं। ये मोबाइल या कम्प्यूटर की तरह प्रयोग किए जाने वाले हार्डवेअर उपकरण हैं जो हज़ारों किताबों को अपनी मेमोरी में सुरक्षित कर सकते हैं। इसके अलावा ऑनलाइन दुकानों या स्टोर्स में भी ई-बुक का भंडार है जो मुफ्त में या भुगतान करके डाउनलोड किया जा सकता है। कुछ ई-बुक रीडर दुनिया के बड़े पुस्तक प्रकाशकों और वितरकों ने विकसित किए हैं, जिनमें हज़ारों ई-किताबें लोड करके वे उन्हें बेच रहे हैं। इनमें अमेज़न किंडल, नूक सिंपल, एप्पल आइपैड, सोनी रीडर, कोबो ई-रीडर आदि प्रमुख हैं। इसके अलावा आजकल के स्मार्ट फोन में भी ई-पुस्तक पढ़ने के कई विकल्प रहते हैं। कम्प्यूटर और लैपटॉप में तो पहले से ही ई-बुक पढ़ने के कई विकल्प मौजूद हैं।

लेकिन बात ई-बुक के उन विकल्पों की या उनकी उपलब्धता की नहीं है। बात है ई-किताब के भविष्य की और उससे प्रभावित होने वाली किताब के भविष्य की। ई-किताब का भविष्य तो तकनीक के सहारे प्रगति करने वाला ही है। आने वाले समय में ई-किताब और भी प्रचलित होगी। उसके विभिन्न रूप सामने आएंगे और लोग को लुभाएंगे। उसे पढ़ने में लोगों को और सरलता, सहजता होगी और उसे सहेजना भी आसान होगा। ई-बुक किसी एक छोटी सी डिवाइस या उपकरण में हज़ारों की संख्या में स्टोर की जा सकती हैं। और जो स्टोर में न हों तो ऑनलाइन जाकर मुफ्त या थोड़े से रुपयों से डाउनलोड की जा सकती हैं। ऐसे में ई-किताब का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है।

अब प्रश्न है किताब के भविष्य का। पारंपरिक रूप से किताबें करीब दो हज़ार वर्ष से भी अधिक समय से हमारे जीवन का अभिन्न हिस्सा रही हैं। किताबों को रखने के लिए हर घर में एक सम्मानजनक स्थान रहा करता है। किताबों की खुशबू एक अलग सा महत्व रखती हैं। सालों-साल पड़ी हुई किताबों में जमा होने वाली धूल से अस्थमा, एलर्जी आदि बीमारियाँ होती हैं। उनमें दीमक लग जाती हैं। किताबों की अलमारियाँ भी दीमक की चपेट में आ जाती हैं। लेकिन फिर भी लोग किताबों को घर से फेंकते नहीं हैं। कारण, किताबें हमारे जीवन में थीं, हैं और

पूरी दुनिया में प्रकाशन व्यवसाय आज तकनीक से संचालित हो रहा है। जहाँ हर छोटे-बड़े प्रकाशक की अपनी वेबसाइट है, वहीं उसकी किताबें ऑनलाइन बेची-खरीदी जा रही हैं। हर प्रकाशक आज अपनी मुद्रित किताबों की एक ई-किताब भी जारी करना चाहता है। बड़े प्रकाशक तो ऐसा कर भी रहे हैं...

रहेंगी। घर में कोई भी काम करते हुए या सफ़र में या किसी भी स्थान पर हाथ में लेकर पढ़ी जाने वाली किताब का महत्व कभी भी कम न होगा। लेकिन ई-किताब ने मुद्रित किताब के अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया है।

मुद्रित किताब और ई-किताब में अंतर देखा जाए तो उसके स्वरूप का है। किताब तो वही है लेकिन उसके रूप अलग-अलग हैं। दो रूपों में आकर भी किताब की विषय सामग्री में कोई अंतर नहीं है। तो यहाँ बहस किताब पर न होकर उसके स्वरूप पर है। पूरी दुनिया में प्रकाशन व्यवसाय आज तकनीक से संचालित हो रहा है। जहाँ हर छोटे-बड़े प्रकाशक की अपनी वेबसाइट है, वहीं उसकी किताबें ऑनलाइन बेची-खरीदी जा रही हैं। हर प्रकाशक आज अपनी मुद्रित किताबों की एक ई-किताब भी जारी करना चाहता है। बड़े प्रकाशक तो ऐसा कर भी रहे हैं इससे एक तो वह पुस्तक दोनों रूपों में ग्राहकों के पास आती है। दूसरे जिसे मुद्रित पुस्तक खरीदनी न हो, वो ई-किताब खरीद सकता है। ई-बुक संस्कृति अब बहुत तेजी से प्रचलित हो रही है जिसे अपनाना फैशन नहीं, प्रकाशकों की मजबूरी बनती जा रही है।

फ्रैंकफर्ट पुस्तक मेला दुनिया का सबसे बड़ा पुस्तक मेला होता है। इस साल यह मेला 10 से 14 अक्टूबर 2012 के बीच लगाया गया। इसमें सौ से अधिक देशों के करीब आठ हज़ार प्रदर्शकों ने भाग लिया। जब पूरी दुनिया डिजिटल हो रही है तो भी इस पुस्तक मेले में लाखों लोग आते हैं। यहाँ इस बात पर सबसे अधिक बहस हुई वह है मुद्रित बनाम ई-किताब। एक बड़े जर्मन अखबार ने लिखा है कि– "इंटरनेट छपी हुई किताब की संस्कृति और डिजिटल संस्कृति के बीच का बड़ा पुल है। इसमें कोई सवाल ही नहीं है कि डिजिटल किताब का युग अभी शुरू हो रहा है। हालांकि यह यात्रा कहाँ खत्म होगी इस बारे में लोगों के विचार एकदम अलग-अलग हैं। कुछ तथ्य एकदम साफ हैं, एक तो यह कि जर्मनी में किताब खरीदने वाले लोगों की संख्या कम होगी।"

जर्मनी ही नहीं सारी दुनिया में यह चिंता प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेताओं को हो रही है। फ्रैंकफर्ट पुस्तक मेले में भी ई-प्रकाशन पर विशेष ध्यान दिया गया। यहाँ सारी दुनिया के बड़े प्रकाशक इसीलिए आते हैं कि यहाँ करीब 1000 लेखक और लाखों पाठक भी आते हैं। उन प्रकाशकों का सबसे बड़ा उद्देश्य होता है ग्राहकों को लुभाना और उनके मन मुताबिक पुस्तकें उन्हें देना। जर्मनी ही नहीं, दुनिया के लगभग सभी बड़े देशों में ई-किताबों की माँग बढ़ती जा रही है। ई-प्रकाशन उद्योग से बहुत से पैसे कमाए जा रहे हैं। जर्मन प्रकाशकों और पुस्तक विक्रेता संघ के अध्यक्ष अलेक्सांडर स्किपिस कहते हैं– "हर किताब की दुकान अमेजॉन से कहीं ज्यादा कर सकती है। उसे ग्राहकों के साथ ऑनलाइन शॉप के जरिए संपर्क बनाना होगा। तभी किताब की दुकानें बड़ी कंपनियों की प्रतियोगिता से टकरा सकती हैं।" उन्होंने कहा– "प्रकाशक संघ ने हाल में एक प्रतियोगिता की थी, उसमें जीतने वाले आइडिया का मूल मंत्र था–जो किताब फेसबुक, फिल्म और कम्प्यूटर गेम्स के साथ खुद को जोड़ती है वह जीतेगी। इस ब्रांच में भी मल्टिमीडिया में काम लगातार अहम होता जा रहा है।"

2010 के फ्रेंकफर्ट पुस्तक मेले के मुख्य अतिथि जर्मनी के विदेश मंत्री गिडो वेस्टरवेले ने कहा कि– "जब मैं यहाँ अपने आस-पास देखता हूँ, पुस्तकों के बारे में हालिया चिंता सच्चाई से दूर लगती है। मुझे लगता है कि पुस्तक नाम के परेशान मरीज की हालत अच्छी है। शायद हमें अपने पारंपरिक दिमागी संबंधों को खत्म करना होगा। हर किताब को लेदर की बाइडिंग हो जरूरी नहीं। मुझे नहीं लगता कि इलेक्ट्रॉनिक किताबें छपी हुई

किताबों को नजरअंदाज कर देंगी।"

अर्जेंटीना के राष्ट्रपति क्रिस्टीना फर्नान्डेज डे-किर्शनर ने मेले का उद्घाटन करते हुए कहा– "जब तक ये शब्द है तब तक संवाद स्थापित करने का सबसे महत्वपूर्ण साधन किताबें और ये शब्द भी जीवित रहेगा।"

2012 के फ्रेंकफर्ट की रिपोर्ट (ईशा भाटिया और आभा मोंढे) के अनुसार इसमें ई-बुक की धूम रही। बाजार में आने वाली अधिकतर नई किताबें इलेक्ट्रॉनिक संस्करण के साथ आने लगी हैं। 2011 के आंकड़ें बताते हैं कि 42 प्रतिशत किताबें ई-बुक के साथ ही रिलीज हो गयी। फ्रेंकफर्ट बुक फेयर की काथरिन ग्रून बताती हैं– "हार्ड कवर के साथ-साथ अब ज्यादा से ज्यादा ई-बुक संस्करण भी आने लगे हैं। यहाँ हमने खास जगह रखी है और छह हॉट स्पॉट भी हैं जहाँ प्रकाशक और खास तौर से नई कंपनियाँ लोगों को अपनी ई-बुक के बारे में बता सकती हैं।" ग्रून बताती हैं कि अधिकतर प्रकाशकों ने ई-बुक्स के लिए अलग डिपार्टमेंट भी बनाए हैं।

यही नहीं अब ई-बुक से आगे टेक्स्ट-टु-स्पीच तकनीक के ज़रिये अब आप अपनी ई-बुक को सुन भी सकते हैं। जैसे पुराने ज़माने में दादी या नानी कहानी सुनाया करती थीं, उसी तरह अब ई-बुक ऑडियो बुक में तब्दील हो जाएगी। इस तरह की किताबें बच्चों के बीच बहुत लोकिप्रिय होने की उम्मीद है। पहले से ही शिक्षा जगत की कुछ पुस्तकें ऑडियो बुक के रूप में उपलब्ध है। जिन्हें बच्चे अपनी कक्षाओं में पढ़ते हैं। मल्टीमीडिया तकनीक से ये किताबें और अधिक आकर्षक रूप में बच्चों के सामने आएंगी और ई-बुक का विस्तार होगा। अब ई-बुक और मुद्रित बुक के साथ-साथ ऑडियो बुक का प्रचलन भी स्कूली किताबों के लिए हो रहा है। जिससे माता-पिता भी आकर्षित हो रहे हैं। और प्रकाशक भी इन संस्करणों के दाम नहीं बढ़ा रहे हैं। ग्राहकों को लुभाने का यह एक शानदार तरीका है।

इस मेले में इस बात पर भी बहस उठी कि इलेक्ट्रॉनिक सामान की तरह ई-बुक्स को भी इंटरनेट पर खरीदना-बेचना आसान होना चाहिए। अभी ई-बुक्स को आप खरीद तो सकते हैं लेकिन उन्हें बेच नहीं सकते क्योंकि उनमें इलेक्ट्रॉनिक वाटरमार्क होता है। दूसरी बात यह है कि ई-बुक्स को सभी उपकरणों या सभी फॉर्मेट्स पर पढ़ा नहीं जा सकता। ई-बुक बनाने वाली कंपनियाँ इस बात का खास ख्याल रखती हैं। इसी साल 'यूरोपियन कोर्ट ऑफ जस्टिस' ने डाउनलोड किए हुए सॉफ्टवेअर की खरीद और बिक्री पर रोक को गैरकानूनी कहा है। इससे प्रकाशन कंपनियाँ दुविधा में पड़ गई हैं। अभी तक ई-बुक्स को लेकर कोई बात नहीं उठी है लेकिन वह दिन दूर नहीं कि उस पर भी बवाल मचने वाला है। आखिर ई-बुक का हल्का होना उसकी सुविधा भले ही हो, लेकिन उसे दोबारा बेच सकना संभव नहीं है। न ही आप उसे किसी को दे सकते हैं, चाहे आप उस किताब को नष्ट कर दें और उसकी जगह दूसरी किताब सुरक्षित कर दें। लेकिन एक बार आपने जो किताब खरीद ली उसका पैसा वसूलना संभव नहीं है।

जहाँ तक भारत का सवाल है, ई-बुक्स का बाज़ार यहाँ भी बढ़ता हुआ नज़र आ रहा है। दिल्ली पुस्तक मेला और देश में होने वाले अन्य पुस्तक मेलों में यही बातें मुख्य रूप से छाई रहती हैं। यहाँ मुख्य रूप में स्कूल, कॉलेज की शैक्षिक किताबें और साहित्य की किताबें ई-बुक के रूप में प्रकाशित हो रही हैं। बहुत सी प्रकाशित किताबें ई-बुक के रूप में परिवर्तित की जा रही हैं। लेकिन यहाँ लोग अभी भी मुद्रित पुस्तक को ही महत्व देते हैं। युवा भले ही ई-बुक को तवज्जो दे रहे हों। भारत में ई-बुक को प्रचलित होने में करीब दस-पंद्रह साल लग सकते हैं। जहाँ ई-बुक-रीडर कम हैं इसलिए उन्हें बेचना अभी भी चुनौती का काम है। लेकिन अब यहाँ भी लोग डिजिटल अख़बार पढ़ने लगे हैं इसलिए धीरे-धीरे ई-बुक का प्रचार-प्रसार होना भी निश्चित है।

भारत में जहाँ ई-किताबों के लिए लोगों की रुचि जागनी बाकी है, उनका उत्पादन भी ज़ोरों से शुरू होना आवश्यक है। ई-किताबें अभी भी भारतीय लोगों के दिलों पर राज नहीं कर पा रही हैं। युवा पीढ़ी के लिए तो यह एक साधारण बात है लेकिन ई-बुक्स की उपलब्धता भी एक बड़ी चुनौती है। ई-बुक एक आभासी दुनिया की वास्तविकता है जो वास्तविक दुनिया की किताब को पीछे ढकेल रही है। इससे यह कहा जा सकता है कि तकनीक का वर्चस्व आभासी दुनिया को वास्तविक दुनिया से आगे ले जा रहा है। भले ही इसे मानने में लोगों को हिचक हो, लेकिन आभासी दुनिया का दखल हमारे जीवन में बहुत बढ़ गया है। ई-पुस्तक संस्कृति हमारे जीवन में तकनीक के इसी दखल की ऐसी सच्चाई है जिसे दरकिनार नहीं किया जा सकता।

□□□

राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति का प्रारूप

राजेश चन्द्र

भूमिका

कला एवं सांस्कृतिक नीति का संबंध हमारे रीति-रिवाजों और परंपराओं, विश्वासों, धर्मों, भाषाओं, अस्मिताओं, हमारे प्रचलित इतिहास, शिल्प और इनके साथ-साथ विविध कला विद्याओं जैसे कि संगीत, रंगमंच, नृत्य, रचनात्मक लेखन, चित्रकला, प्लास्टिक कला, फोटोग्राफी, फिल्म और कुल मिलाकर कहा जाए तो मानवीय प्रयासों और उपलब्धियों से है।

संस्कृति विकास की प्रक्रिया का एक अभिन्न अंग है क्योंकि यह इन प्रक्रियाओं में महत्वपूर्ण योगदान करती है। इसके अतिरिक्त इसकी एक और भी महत्वपूर्ण भूमिका इस रूप में है कि यह विकास प्रक्रियाओं को प्रभावी, सवंदेनशील और रचनात्मक बनाती है। राष्ट्र-निर्माण के प्रयासों में भी संस्कृति की भूमिका निर्णायक और असंदिग्ध है। विकास और राष्ट्र-निर्माण की ये दोनों ही प्रक्रियाएँ हमारे देश में प्राथमिकता के स्तर पर चल रही हैं पर इनकी सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इनमें संस्कृति को वह केन्द्रीय भूमिका दी जाए जिसकी वह हकदार है।

साम्राज्यवाद, सांप्रदायिकता, अलगावाद और उपभोक्तावाद ने भारत की विशाल और बहुसंख्यक आबादी की श्रम संस्कृति की न केवल अवेहलना की है, बल्कि उसका दमन और शोषण भी किया है। अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता पर बार-बार हमले हुए हैं तथा तमाम तरह की रचनात्मकताओं को कुचलने के संगठित व नियमित प्रयास भी होते रहे हैं। हमारे देश की विशालतम आबादी संसाधन विहीन है और उनकी सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को कोई जगह नहीं मिल पाती जब तक कि वे साम्राज्यवादी हितों का पोषण न करें। एक प्रभावकारी शैक्षणिक ढांचे के अभाव, निरक्षरता की अत्यधिक दर और भयावह गरीबी ने बहुसंख्यक आबादी को सांस्कृतिक रूप से भी वंचितों की श्रेणी में पहुँचा दिया है।

यह एक ऐतिहासिक सच्चाई है कि भारत की इसी बहुसंख्यक संस्कृति ने साम्राज्यवाद और अलगाववाद के खिलाफ अजेय प्रतिरोध खड़ा किया है तथा हमारे देश के राजनीतिक लोकतंत्र की स्थापना में प्रभावी भूमिका निभाई है। राष्ट्र-निर्माण और विकास के लिए जरूरी उचित स्थान दिया जाए ताकि लोकतंत्र की एक ऐसी संस्कृति विकसित हो सके जहाँ विकास को मानवाधिकारों की हिफाजत करते हुए आगे बढ़ाया जाए और देश की जनता के सभी तबकों की सामाजिक-अर्थिक अपेक्षाओं को पूरा किया जा सके।

उद्देश्य

हमारी राष्ट्रीय सांस्कृतिक नीति निम्नलिखित उद्देश्यों को समर्पित होगी:–

1. यह नीति भारत की समृद्ध और विविधतापूर्ण सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों को स्वीकृति देते हुए उसका विकास सुनिश्चित करेगी। यह इस बात की गारंटी करेगी कि इस देश के हर एक नागरिक को अपनी संस्कृति, भाषा, विश्वासों एवं रीति-रिवाजों को मानने और उनको अभिव्यक्त करने का अधिकार है। यह नीति इस बात की भी गारंटी करेगी कि देश के प्रत्येक नागरिक को किसी दूसरे नागरिक की भावनाओं को आहत न करते हुए अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता हासिल है।

2. यह नीति भारत की एक ऐसी एकीकृत राष्ट्रीय संस्कृति का विकास करेगी जो भारत की समस्त जनता की अपेक्षाओं का प्रतिनिधित्व करे। यह संस्कृति किसी पर आरोपित नहीं की जाएगी, बल्कि इसका उपयोग लोगों में प्रजातिवाद या अलगाववाद, लैंगिक पूर्वाग्रह या भेदभाव के खिलाफ तथा मानवाधिकारों एवं लोकतंत्र के पक्ष में चेतना विकसित करने के लिए किया जाएगा।

3. यह नीति सुनिश्चित करेगी कि कला एवं संस्कृति के उत्पादन, प्रोत्साहन एवं संरक्षण से संबंधित सभी संसाधन एवं सुविधाएं समान रूप से सबके लिए उपलब्ध होंगी तथा सबकी पहुँच में होंगी। उन तबकों एवं व्यक्तियों को प्राथमिकता दी जाएगी जो पहले से इन संसाधनों से वंचित रहे हों।

4. यह नीति हमारे देश की बहुरंगी सांस्कृतिक विरासतों का संरक्षण और विकास करेगी। हमारे ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक संग्रह-संसाधन और स्थल हमारी सांस्कृतिक विरासतों के साक्षी हैं इसलिए हमारे देश के सभी तबकों की उन तक पहुँच सुनिश्चित की जाएगी। खासतौर पर देश की जनता की उस संस्कृति को संरक्षित करने का प्रयास सर्वोपरि होगा जो वर्षों से उपेक्षित और शोषित होती रही हों।

5. यह नीति कलाओं के प्रशिक्षण को राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली एवं सभी प्रकार के अनौपचारिक शैक्षिणक प्रयासों का अनिवार्य हिस्सा बनाने की दिशा में प्रयास करेगी।

6. यह नीति देश की बहुभाषायी संस्कृति को ध्यान में रखते हुए एक ऐसी भाषा-नीति की स्थापना करेगी जिसके तहत देश की जनता द्वारा व्यवहार में लाई जाने वाली सभी भाषाओं का विकास सुनिश्चित किया जा सकेगा। इस भाषा-नीति के अंतर्गत देश की सभी देशज भाषाओं का विकास और संरक्षण किया जा सकेगा।

7. यह नीति हमारे सांस्कृतिक जीवन के लिए मानव संसाधन का एक सर्वसुलभ ढांचा तैयार करेगी और इसके लिए विविध कला विधाओं के प्रशिक्षण का एक ऐसा विकेन्द्रीकृत स्वरूप विकसित करेगी जिसमें सभी क्षेत्रों, भाषाओं, तबकों एवं समुदायों की भागीदारी और जरूरत का विशेष रूप से ध्यान रखा जाएगा। इसके साथ-साथ कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में और विरासतों के संरक्षण के लिए प्रबंध एवं प्रशासन की योग्यताओं के विकास के लिए भी प्रशिक्षण का एक विशेष ढांचा तैयार किया जाएगा।

8. स्वास्थ्य, आवास, पर्यटन, शहरीकरण, भवन-निर्माण जैसे राष्ट्रीय प्राथमिकता वाले क्षेत्रों से संस्कृति को जोड़ा जाएगा और यह सुनिश्चित किया जाएगा कि संस्कृति न सिर्फ विकास के साथ बुनियादी रूप से जुड़ी हुई हो बल्कि विकास का एक प्रमुख उद्देश्य हमारी विभिन्न परंपरागत कला विधाओं के बीच एक मजबूत कड़ी का निर्माण करना भी रहे।

9. यह नीति उन इतिहासों को सामने लाने वाले सांस्कृतिक शोध-कार्यों को प्रोत्साहित करेगी जो सदियों से उपेक्षित रहे हैं।

10. परंपराओं में निहित विशिष्ट संस्कृतियों को प्रोत्साहित करने के साथ-साथ यह संस्कृति के आयामों का चुनाव इस आधार पर करेगी, जो राष्ट्रीय प्राथमिकताओं से मेल खाते हों।

11. यह नीति समाज में संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय लोगों को एकजुट करते हुए उनकी आजीविका के लिए बेहतर उपाय करेगी। इसके अंतर्गत ऐसे संसाधनों का निर्माण किया जाएगा जो अर्थव्यवस्था को मजबूती दें। पेशेवर दक्षता और कलात्मक श्रेष्ठता को उचित स्थान देते हुए उन्हें प्रोत्साहित करना भी इस नीति का एक उद्देश्य होगा।

राज्य की भूमिका

उपरोक्त उद्देश्यों को पूरा करने में राज्य की भूमिका मुख्यत: निम्नलिखित कार्यभारों को पूरा करने के रूप में होगी:

(1) कानून बनाना और उन्हें लागू करना।

(2) ऐसे कार्यवाहक तंत्र का निर्माण करना जो प्रक्रियाओं को कुशलतापूर्वक निष्पादित कर सके।

(3) कला और संस्कृति के विकास हेतु धन मुहैया करना, एक ऐसे आर्थिक ढांचे का निर्माण करना जो उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सक्षम हो।

(4) संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय लोगों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करना।

(5) अंतर्राष्ट्रीय समझौतों, मानकों के अनुसार संस्कृति के संरक्षण, प्रसार एवं प्रोत्साहन हेतु उपाय करना।

(6) राष्ट्रीय एवं प्रांतीय स्तर पर संस्कृति मंत्रालय अलग-अलग प्रकार की सांस्कृतिक संरचनाओं वाले संगठनों को समर्थन एवं प्रोत्साहन देना।

(7) यह राज्य की जिम्मेदारी होगी कि वह (क) विद्यालय स्तर पर और (ख) सामुदायिक स्तर पर पुस्तकालयों की स्थापना करे और उनके लिए समुचित प्रबंध करे।

(8) राज्य ऐसा कानून बनाएगा, जिसके अनुसार रेडियो, टेलीविजन एवं समाचार-पत्र/पत्रिकाओं को अनिवार्य रूप से सांस्कृतिक गतिविधियों का प्रचार-प्रसार करना होगा।

(9) राज्य सरकारी संस्थाओं एवं निजी क्षेत्र के उपक्रमों को प्रोत्साहित करेगा कि वे संस्कृति के क्षेत्र में वित्त प्रदान करें। इसके लिए एक तरफ कर संबंधी राहत प्रदान किए जा सकते हैं और दूसरी तरफ यह भी सुनिश्चित किया जा सकता है कि ऐसे निवेशों से सकारात्मक लाभ भी प्राप्त हों।

(10) सांस्कृतिक उत्पादों का व्यापार एक राष्ट्रीय रणनीति के अंतर्गत ही हो, यह सुनिश्चित करना भी राज्य की जिम्मेदारी होगी।

(11) चूँकि राज्य के पास ऐसी क्षमता, सुविधाएँ एवं संसाधन हैं जिनसे वह समाज के शैक्षणिक स्तर में सुधार ला सकता है तथा जन सामान्य के जीवन-स्तर को बेहतर बना सकता है अतः यह उसकी जिम्मेदारी होगी कि वह कला-शिक्षण की सभी स्तरों पर व्यवस्था करे।

विधाओं से संबंधित गतिविधियाँ

1. **शोधः** संस्कृति, इतिहास, लिखित व मौखिक भाषाओं आदि के क्षेत्र में एक व्यापक और पक्षपात रहित शोध को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया जाएगा। इस क्षेत्र में योगदान करने वाले संस्थानों का सहयोग किया जाएगा और अंतर्राष्ट्रीय, राष्ट्रीय और प्रांतीय स्तर पर सूचनाओं के प्रचार-प्रसार में सरकार की प्रमुख भूमिका होगी।

2. **शिक्षण एवं प्रशिक्षणः** संस्थानों के साथ मिलकर प्रशिक्षण की व्यापक गतिविधियाँ संचालित की जाएँगी। ये प्रशिक्षण निम्न क्षेत्रों से संबंधित होंगे–

(क) विभिन्न कला विधाओं के क्षेत्र में

(ख) कला एवं संस्कृति के प्रबंध एवं संचालन के क्षेत्र में

(ग) कला एवं संस्कृति से जुड़ी तकनीकों के क्षेत्र में, और

(घ) राष्ट्रीय उत्पादों के विपणन एवं प्रचार-प्रसार के क्षेत्र में

शिक्षा-प्रणाली में कला एवं संस्कृति के शिक्षण एवं समावेश को ध्यान में रखते हुए ऐसे प्रशिक्षण कार्यक्रम चलाए जाएँगें जिनसे–

(क) कला प्रशिक्षक और शिक्षक तैयार किये जा सकें तथा

(ख) ऐसे कलाकारों की मदद की जा सके जो अपनी विधाओं में दक्ष हों परन्तु उनके पास उच्च शिक्षाओं में प्रवेश के लिए अपेक्षित प्रमाण-पत्र न हों।

संगीत हमारी संस्कृति का एक प्रमुख उपादान है, इसलिए शिक्षण प्रणाली में सभी स्तरों पर भारत के पारंपरिक संगीत के शिक्षण को अनिवार्यता देनी होगी। संगीत शिक्षण का यह तरीका इस प्रकार का होगा जिससे भारत की समस्त संगीत परंपराओं का प्रोत्साहन किया जा सके तथा उनके सांस्कृतिक, सामाजिक एवं ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य के विषय में लोगों की जानकारी बढ़ सके।

सरकार पर कलाओं के शिक्षण का एक व्यापक ढांचा तैयार करने की जिम्मेदारी होगी जो भारतीय संस्कृति से अविभाज्य रूप से जुड़े हों। उसे इन कलाओं से संबंधित सामग्री एवं तकनीक उपलब्ध करानी होगी। शिल्प, पेंटिंग, मूर्तिकला आदि के क्षेत्र में उच्च कौशल का निर्माण करने के अलावा लेआउट, डिजाइन, आर्किटेक्चर एवं टाउन प्लानिंग जैसे क्षेत्रों में कौशल का निर्माण करना भी सरकार की प्राथमिकता होगी। इन कलाओं के प्रदर्शन और प्रतिस्पर्धाओं को सामुदायिक स्तर तक ले जाने के लिए आवश्यक होगा कि उन्हें स्कूलों में पहुँचाया जाए।

स्कूलों के लिए आवश्यक संसाधन सामग्रियों जैसे पुस्तकालय सामग्री, स्लाइड, वीडियो सामग्री एवं कला-सृजन के अन्य उपकरणों की जरूरत पड़ेगी अतः उनके निर्माण के उपाय करने होंगे। कलाओं का यह शिक्षण पूरी तरह निःशुल्क होगा और इसके लिए आवश्यक सामग्री भी बिना किसी शुल्क के उपलब्ध कराई जाएगी।

नृत्य को न केवल एक सांस्कृतिक गतिविधि के तौर पर हमारी संपूर्ण प्राथमिक शिक्षा प्रणाली का अनिवार्य हिस्सा बनाना होगा बल्कि उसे विविध विषयों के शिक्षण के माध्यम के रूप में भी विकसित और अंगीकार करना होगा। ऐसे प्रशिक्षक तैयार करने होंगे जो प्राथमिक स्तर के विद्यालयों के बच्चों को नृत्य, उसकी परंपराओं एवं इतिहास का ज्ञान दे सकें।

औपचारिक एवं अनौपचारिक स्तर पर फोटोग्राफिक कला का प्रशिक्षण देने की भी व्यवस्था करनी होगी और इसके लिए उसे शिक्षा प्रणाली का एक अंग बनाना होगा। उसके प्रशिक्षण को एक कोर्स के रूप में मान्यता देने के अलावा ऐसे अवकाशकालीन प्रशिक्षण कार्यक्रमों का भी विकास करना होगा,

जिनमें अन्य छात्र भी शमिल हो सकें। फोटोग्राफी को एक व्यवसाय के रूप में अपनाने की इच्छा रखने वाले बच्चों को सूचनाएँ मुहैया कराने हेतु सामुदायिक स्तर पर संसाधन केंद्रों की स्थापना भी करनी पड़ेगी।

3. **प्रकाशन उद्योग:** प्रकाशन उद्योग की न केवल संस्कृति के विकास और प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका है, बल्कि भारत की सामान्य जनता के जीवन-स्तर को सुधारने में भी उसका योगदान रहा है। सरकार के साक्षरता कार्यक्रमों के लिए किताबों से लेकर अन्य शिक्षण सामग्रियों के निर्माण में प्रकाशन उद्योग की प्रमुख भूमिका रही है। प्रकाशनों को निर्देशित करने वाली एक ऐसी व्यापक नीति की आवश्यकता आज काफी महसूस की जा रही है, जिससे लेखकों-रचनाकारों का हित सुरक्षित रहे और ऐसी सामग्रियों का प्रकाशन हो जो भारतीय लोकतंत्र, एकता, सद्भाव और विकास को बल दें। पुस्तकों के मूल्य-निर्धारण के लिए भी एक प्रणाली विकसित करने की जरूरत है ताकि लेखक की कृतियाँ अधिक से अधिक लोगों तक पहुँच सकें। इच्छाशक्ति और सही तालमेल के अभाव में सरकार द्वारा थोक मात्रा में खरीदी जाने वाली पुस्तकें लोगों तक नहीं पहुँच पाती और न सिर्फ इस प्रवृत्ति की वजह से प्रकाशन उद्योग भ्रष्टाचार का शिकार बन चुका है बल्कि उसमें श्रेष्ठ साहित्य और साहित्यकार के प्रति उपेक्षा की भावना भी उत्पन्न हो गई है। अत: नीतिगत स्तर पर ऐसे उपाय किए जाने की जरूरत है जिससे पुस्तकों की सरकारी खरीद पर नियंत्रण किया जा सके और पुस्तकें सीधे पाठकों तक पहुँच सकें। सरकार अपने स्तर पर ऐसे पुस्तक मेलों का आयोजन करे जहाँ प्रकाशक, पाठक और लेखक एक साथ इकट्ठा हों और एक पुस्तक संस्कृति का निर्माण हो सके।

4. **मीडिया:** मीडिया की एक सांस्कृतिक व्यवसाय के तौर पर मान्यता है क्योंकि यह सूचनाएँ प्रदान करने के साथ-साथ घटनाओं एवं संदर्भों का वस्तुपरक और वैज्ञानिक विश्लेषण करने की क्षमताओं में भी वृद्धि करता है। कुल मिलाकर कहें तो यह लोगों को एक सामाजिक इकाई के तौर पर जागरूक और गतिशील बनाने में एक प्रमुख भूमिका निभाता है। प्रिन्ट मीडिया, इलेक्ट्रॉनिक मीडिया, सोशल साईट्स और सिनेमा इसके प्रमुख घटक हैं। एक नए और बेहतर समाज के निर्माण में मीडिया की भूमिका को देखते हुए इस संबंध में एक ऐसी व्यापक एवं स्पष्ट नीति की आवश्यकता है जिससे मीडिया द्वारा प्रसारित की जाने वाली सामग्री लोकतंत्र, मानवाधिकार, शान्ति, न्याय और सद्भाव जैसे हमारे राष्ट्रीय मूल्यों को प्रोत्साहित करें और दमन, उत्पीड़न, भेदभाव के खिलाफ एक वातावरण का निर्माण करे।

यह सरकार की जिम्मेदारी है कि वह मीडिया क्षेत्र में कार्यरत लोगों की सामाजिक एंव आर्थिक स्थिति को सुदृढ़ करने हेतु समुचित नीति का विकास करे और उन्हें किसी भी प्रकार के शोषण से मुक्त वातावरण उपलब्ध कराए। मीडिया क्षेत्र को किसी भी प्रकार की सेंसरशिप, राजनीतिक नियंत्रण और दमनकारी नियमों से पूर्णत: मुक्त रखना लोकतंत्र के लिए निहायत जरूरी है। अत: इस दिशा में किए जाने वाले प्रयासों को नीतिगत एवं व्यावहारिक दोनों ही स्तरों पर प्रोत्साहित करने की जरूरत है।

सिनेमा और फिल्म उद्योग के क्षेत्र में नीतिगत स्तर पर निम्नलिखित उपाय करने की आवश्यकता है:-

(1) एक स्वायत्त और स्वपोषित फिल्म इंस्टीट्यूट स्थापित हो।

(2) फिल्म एवं वीडियो उद्योग को स्वस्थ सांस्कृतिक एवं सामाजिक मूल्यों एवं आदर्शों की दिशा में प्रोत्साहित करे और ऐसी प्रवृत्तियों को नियंत्रित करें जो भारतीय जनता को अपसंस्कृति, अलगाववाद तथा कामुकता की सामग्री परोसकर सिर्फ मुनाफा कमाने में लगी है।

(3) भारतीय सांस्कृतिक विविधताओं को ध्यान में रखते हुए एक फिल्म एवं वीडियो संस्कृति का निर्माण करे।

(4) बहुसंख्यक भारतीय जनता के हितों को ध्यान में रखते हुए उत्पादनों, वितरणों एवं प्रदर्शनों को सहयोग प्रदान करें।

(5) एक ऐसी नीति का विकास करे जिसके तहत सामाजिक सरोकार के व्यापक उद्देश्य वाले सिनेमा को वित्त प्रदान करने हेतु निवेशकों को प्रोत्साहित किया जा सके।

5. **रंगमंच:** संस्कृति मनुष्य के अंतर्जगत और बहिर्जगत के बीच एक क्रियाशील और सृजनात्मक संबंध स्थापित करती है। मनुष्य के अंतर्जगत के बल पर ही आर्थिक विकास या लोकतंत्र की स्थापना का लक्ष्य हासिल किया जा सकता है। इस अंतर्जगत के समस्त पक्ष संस्कृति की दुनिया से ही संचालित होते हैं और यहाँ भी रंगमंच एक ऐसी सशक्त और प्रभावकारी विधा के तौर पर स्थापित और स्वीकृत है जिसने सदियों से मनुष्यों के अंतर्जगत का निर्माण करते हुए उसे श्रेष्ठ मानवीय मूल्यों की तरफ प्रवृत्त भी किया है। हमारे असंख्य पारंपरिक नाट्य रूप सहज भाव से जीवन के गर्भ से उपजे हैं और जीवन के विकास की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते रहे हैं। रंगमंच ही ऐसी विधा है जो भारत की जनता के विशाल वर्ग की सांस्कृतिक भूख को तृप्त कर सकती है पर आज के परिप्रेक्ष्य को देखें तो रंगमंच चारों तरफ से समस्याओं एवं चुनौतियों से घिरा हुआ है

और उसे इस स्थिति से निकालने के लिए किसी भी स्तर पर कोई प्रयास दिखाई नहीं देता। आज देश के लाखों युवा रंगमंच को अपनाना चाहते हैं, पर न तो उनके लिए प्रशिक्षण की कोई व्यवस्था है और न ही कोई ऐसी योजना उपलब्ध है जो रंगकर्म को व्यवसाय के रूप में अपनाने की चाहत रखने वाले लोगों को प्रोत्साहित करते हुए उनकी आजीविका का कोई विकल्प रखे।

रंगमंच स्थानीय होता है और सदियों से हमारे देश के गाँवों-कस्बों में रंगमंच होता रहा है। आज भी हमारे रंगकर्म का सबसे सार्थक और उत्तेजक स्वरूप महानगरों से बाहर ही मौजूद है, जहाँ संसाधनों के मामले में कुछ भी उपलब्ध नहीं होता। जिस प्रकार हमारे देश में विकास को शहर-केन्द्रित स्वरूप दिया गया है उसी प्रकार रंगमंच को भी महानगर केन्द्रित बनाने की कोशिश की जा रही है जो अनुचित है। सरकार का सारा ध्यान उस खास तरह के रंगमंच को संरक्षण और प्रोत्साहन देने में लगा हुआ है जो संभ्रांत वर्ग के हितों का पोषण करता है, और दूसरी तरफ देश की बहुसंख्यक आबादी के जीवन से सरोकार रखने वाले रंगमंच की भयावह उपेक्षा की जा रही है। देशभर में फैली रंग मंडलियों एंव उनमें काम करने वाले रंगकर्मियों के पास न तो प्रदर्शन की कोई जगह है और न ही पूर्वाभ्यास की। नाटक के लिए जरूरी उपकरण तक जुटा पाना अधिकांश समूहों के वश में नहीं होता। ऐसी परिस्थिति में रंगकर्मियों का रंगमंच में टिककर रहना असंभव हो जाता है और वे रोजी-रोटी के लिए महानगरों की तरफ पलायन कर जाते हैं। आज भी देश में रंग प्रशिक्षण का एक ही विद्यालय है और उसमें भी सभी वर्गों एवं क्षेत्रों के रंगकर्मियों को जगह नहीं मिल पाती। इस विद्यालय से निकलने के बाद भी रंगकर्मी एक खानाबदोश जिन्दगी बिताने के लिए मजबूर होते रहे हैं और उनके लिए मुंबई के सिनेमा जगत में कच्चे माल की तरह खप जाने के अलावा कोई रास्ता नहीं बचता। रंगमंच के स्वस्थ, समाजोन्मुख और व्यापक विकास के लिए निम्न स्तरों पर प्रयास किए जाने की जरूरत है:-

(1) देश के सभी राज्यों में जिला एवं प्रखंड स्तर पर राष्ट्रीय नाट्य प्रशिक्षण विद्यालय स्थापित किए जाएँ ताकि वहाँ के रंगकर्मी स्थानीय भाषाओं में एवं स्थानीय जरूरतों के हिसाब से रंगकला का प्रशिक्षण प्राप्त कर सकें।

(2) हमारा देश एक संस्कृति प्रधान देश है इसलिए संस्कृति मे मद में कुल राष्ट्रीय बजट का कम से कम 20 प्रतिशत हिस्सा खर्च किया जाना चाहिए।

(3) ग्रांट बांटने, स्कॉलरशिप देने, महोत्सव आयोजित करने जैसे कार्य सरकार के नियंत्रण से पूरी तरह मुक्त किए जाने चाहिए ताकि इस क्षेत्र में व्याप्त अफसरशाही, भ्रष्टाचार और भाई भतीजावाद को समाप्त किया जा सके। यह काम राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर रंगकर्मियों की एक स्वतंत्र समिति बनाकर उन्हें तत्काल सौंप देना चाहिए। इन समितियों को इतना अधिकारसंपन्न बनाया जाना चाहिए कि वे सहायता प्राप्त करने वाले या इच्छुक रंगमंडलियों या रंगकर्मियों की योग्यता का मूल्यांकन कर सकें और न केवल इस बात का निर्णय कर सकें कि कितनी सहायता दी जा सकती है, बल्कि दिए जाने वाले आर्थिक सहयोग के उपयोग की गुणवत्ता का भी आकलन प्रस्तुत करें।

(4) अनुदान या सहायता उपलब्ध करने की प्रक्रिया में ऐसे समूहों एवं रंगकर्मियों को प्राथमिकता मिलनी चाहिए जो संसाधन विहीन स्थितियों में काम कर रहे हों और उनमें यह क्षमता हो कि वे अवसर मिलने पर रंगकला के क्षेत्र में नवीन और सार्थक प्रयोग कर सकें।

(5) देश में रंगकला के प्रशिक्षण का एक ऐसा मॉडल तैयार किया जाए जो हमारे देश और समाज की जरूरतों, अपेक्षाओं को पूरा कर सके। यह मॉडल रंगकर्मियों को न केवल रंगकला के विविध क्षेत्रों में समुचित प्रशिक्षण उपलब्ध कराए बल्कि उनमें ऐसी दृष्टि और चेतना भी विकसित करे कि वे समाज की कड़वी सच्चाइयों, चुनौतियों को समझ कर अपनी कला के माध्यम से हस्तक्षेप करें और एक बेहतर भारत के निर्माण के लिए वातावरण का निर्माण करे।

(6) सरकार को यह सुनिश्चित करना चाहिए कि देश के प्रत्येक गाँव, कस्बे एवं छोटे-बड़े शहरों में रंगकर्मियों के लिए पूर्वाभ्यास और प्रस्तुति के लिए उचित स्थान निर्धारित किए जाएं। ऐसे प्रबन्ध स्थानीय सांसदों की निधियों से किए जा सकते हैं पर इनके नियंत्रण एवं संचालन में किसी भी प्रकार का राजनीतिक हस्तक्षेप न हो इसका विशेष ध्यान रखना होगा।

(7) सरकार को एक ऐसी एकीकृत राष्ट्रीय सांस्कृतिक योजना शुरू करनी चाहिए जिसके माध्यम से रंगकला के क्षेत्र से जुड़े रंगकर्मियों को सामाजिक और आर्थिक रूप से सशक्त एवं आत्मनिर्भर बनाया जा सके।

(8) सरकार को राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर रंगकर्मियों एवं विशेषज्ञों की एक ऐसी समिति बनानी चाहिए जो न केवल उपलब्ध प्रेक्षागृहों के किराये, सुविधाओं एवं गतिविधियों की समीक्षा कर सके बल्कि उन्हें निर्देशित भी कर सके।

(9) यह सरकार की जिम्मेदारी होगी कि वह देश के सभी राज्यों में दूर-दराज के इलाकों में रंग-महोत्सवों के आयोजन को प्रोत्साहित करे ताकि देश की बहुसंख्यक ग्रामीण आबादी की सांस्कृतिक भूख को तृप्त किया जा सके।

(10) संस्कृति के क्षेत्र में काम करने वाले देश के शीर्षस्थ संस्थानों जैसे–संगीत नाटक अकादमी, साहित्य अकादमी, राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय आदि में जितने लोग सेवाएँ दे रहे हैं, उनकी योग्यता, भूमिका और उनके सांस्कृतिक योगदान आदि से संबंधित जानकारियों को सार्वजनिक किया जाना चाहिए। सरकार इन संस्थानों को कितना वित्त उपलब्ध करा रही है और उनका कहाँ-कहाँ और किस मात्रा में उपयोग हो रहा है इसकी अद्यतन सूचना भी इन संस्थानों की वेबसाइट पर उपलब्ध कराया जाना चाहिए।

(11) रंग कलाओं के प्रशिक्षण को शिक्षा प्रणाली के प्राथमिक स्तर से ही अनिवार्य हिस्सा बनाने की जिम्मेदारी भी सरकार को उठानी होगी। यह सुनिश्चित करना भी सरकार की जिम्मेदारी होगी कि देश के सभी प्राथमिक, मध्य, उच्चतर विद्यालयों में रंगकला को एक विषय के रूप में पढ़ाया जाए, उसके व्यावहारिक अभ्यास एवं प्रदर्शन के लिए सभी जरूरी संसाधन मुहैया कराए जाएँ।

(12) सरकार ऐसी नीति बनाए जिसमें मीडिया की सभी इकाइयों में रंगकला से जुड़ी गतिविधियों के प्रचार-प्रसार और प्रकाशन का वातावरण बने और उसके पक्ष में एक सकारात्मक चिंतन का विकास हो।

(13) सरकार रंगकला एवं इसके विविध आयामों से संबंधित शोध-कार्य, प्रकाशन आदि कार्यों को प्रोत्साहित करेगी और अन्य कला-विधाओं के बीच एक संवाद का वातावरण तैयार करने में भी सहयोग उपलब्ध कराएगी।

6. **नृत्यः** सरकार राष्ट्र के निर्माण में नृत्य की भूमिका को स्वीकृति देगी तथा उसके विकास एवं प्रसार के लिए समुचित प्रबंध करेगी। नृत्य एक ऐसी कला है जहाँ हमारी संस्कृति विविधताओं के सभी रूपों के दर्शन होते हैं। सरकार के स्तर पर ऐसे प्रयासों की जरूरत है जिनके माध्यम से नृत्य की शास्त्रीय एव परंपरागत सभी शैलियों को पल्लवित-पुष्पित होने का एक समान अवसर प्राप्त हो और इस विधा में लगे कलाकारों की सामाजिक एवं आर्थिक स्थिति सुदृढ़ हो। नृत्य को हमारी शिक्षा प्रणाली के सभी स्तरों पर एक विषय के रूप में अंगीकृत किए जाने की आवश्यकता है तथा इस दिशा में सरकार को प्राथमिकता के साथ काम करना होगा।

7. **दृश्य कलाएँः** दृश्य कलाओं की परिभाषा का विस्तार कर उसकी परिधि में लेआउट, डिजाइन, इलस्ट्रेशन, कार्टून और प्रिंट मीडिया में उपयोग में आने वाले अन्य पृष्ठ सज्जात्मक साधनों को भी शामिल किए जाने की जरूरत है।

8. **शिल्पकलाएँः** ग्रामीण क्षेत्रों के शिल्पकारों, खासकर महिला शिल्पकारों की दशा वर्तमान में काफी दयनीय बनी हुई है और उनका सभी स्तरों पर शोषण होता है। न तो उनकी कला को मान्यता मिली है और न ही उनके द्वारा निर्मित उत्पादों के संगठित व्यापार की कोई योजना ही है, जिसके कारण बड़ी संख्या में दलाल सक्रिय हैं। एक लोकतांत्रिक देश के लिए यह आवश्यक है कि वहाँ शिल्प कलाओं के विकास और संवर्द्धन के लिए एक राष्ट्रीय एजेंसी हो जो यह सुनिश्चित करे कि (1) शिल्पकारों को अपने उत्पादों के विक्रय से संबंधित सभी सुविधाएँ उपलब्ध हों, (2) शिल्प कलाओं से जुड़े संस्थान शिल्पकारों को उनके श्रम का उचित पारिश्रमिक प्रदान करें, (3) शिल्प कलाओं के विपणन हेतु राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर बाजार की तलाश हो, (4) शिल्प कलाओं के लिए एक मानक और गुणवत्ता का स्तर निर्धारित हो, (5) शिल्प कलाओं के विकास और उनमें गुणवत्ता लाने हेतु प्रशिक्षण उपलब्ध हो तथा इस कार्य में लगे लोगों को व्यवसाय एवं प्रबंधन से जुड़े कौशल उपलब्ध कराए जाएँ।

7. **संगीतः** सरकार और राज्य की यह जवाबदेही है कि वह हमारे देश की समृद्ध संगीत परंपराओं एवं विविधताओं का विकास करे तथा उन्हें एक राष्ट्रीय संसाधन के तौर पर मान्यता प्रदान करे।

8. **सांस्कृतिक विरासतः** देश के सांस्कृतिक विरासतों का संरक्षण और विकास करना सरकार की जिम्मेदारी है। सरकार उन्हें संरक्षित करते समय इस बात का विशेष ध्यान रखे कि उनके साथ जनभावनाएँ जुड़ी होती हैं इसलिए वे हर जरूरत के वक्त लोगों की पहुँच में रहे। इन विरासतों के संरक्षण और विकास का जिम्मा किसी ऐसे स्वायतशासी परिषद को दिया जाना चाहिए जिसकी एक लोकतांत्रिक जवाबदेही निश्चित हो।

देश की संस्कृति को समृद्ध करने वाले तथा राष्ट्र-निर्माण की प्रक्रिया में महत्वपूर्ण योगदान करने वाले साहित्यकारों, संस्कृतिकर्मियों, कलाकारों, शिल्पकारों, रंगकर्मियों, संगीतकारों, चित्रकारों, फोटोग्राफरों, कार्टूनिस्टों एवं अन्य सृजनशील व्यक्तियों को सम्मानित एवं पुरस्कृत करना, उनकी जीवन-दशाओं को बेहतर बनाना एक लोकतांत्रिक देश की प्राथमिक जिम्मेदारी होती है। सरकार की इस दिशा में सोच का पता इस बात से चलता है कि आज तक किसी भी साहित्यकार, संस्कृतिकर्मी, शिल्पकार या संगीतज्ञ के योगदान को राष्ट्र के सर्वोच्च पुरस्कारों एवं सम्मानों के लायक नहीं समझा गया है जबकि राजनीति, खेल, पत्रकारिता, समाजसेवा आदि से जुड़े व्यक्तित्वों को न केवल भारत रत्न जैसे पुरस्कारों से समानित किया गया है बल्कि उन्हें और भी कई प्रकार से लाभ पहुँचाने की कोशिश की जाती

रही है। यहाँ तक कि हम अपने देश के गाँवों, कस्बों, शहरों, सड़कों, भवनों, पार्कों आदि के नामकरण में भी संस्कृति के क्षेत्र के व्यक्तित्वों की अनदेखी करते रहे हैं जो अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण ही नहीं निंदनीय भी है।

सरकार को चाहिए कि वह पुरस्कार, सम्मान, फेलोशिप, अनुदान, विदेश-भ्रमण जैसे निर्णयों के लिए राष्ट्रीय एवं राज्य स्तर पर एक स्वतंत्र समिति गठित करे जो बिना किसी राजनीतिक दखल के संस्कृतिकर्मियों एवं साहित्यकारों की सहायता करे। इस समिति की यह जिम्मेदारी भी हो कि वह बीमारी, दुर्घटना या इस जैसी किसी अपरिहार्य स्थिति में कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों एवं साहित्यकारों के इलाज, पुनर्वास और पोषण की समुचित व्यवस्था करे। यह समिति ऐसे संस्कृतिकर्मियों एवं साहित्यकारों की रचनाओं एवं कृतियों के प्रकाशन एवं विक्रय की व्यवस्था करे जो उपेक्षित रहे हों तथा उनकी असमय मृत्यु हो गई हो। ऐसे व्यक्तियों के परिवार के भरण-पोषण के लिए उपाय करना भी समिति की जिम्मेदारी होनी चाहिए।

9. **कलाकारों एवं संस्कृतिकर्मियों की सामाजिक आर्थिक सुरक्षा:** सरकार को एक राष्ट्रीय कला परिषद स्थापित करना चाहिए जो एक तरफ सामुदायिक कला केन्द्रों को संसाधन एवं भौतिक सहयोग उपलब्ध कराए तथा दूसरी तरफ सांस्कृतिक संस्थाओं को सहयोग उपलब्ध कराए ताकि उनके साथ जुड़कर काम करने वाले कलाकारों एवं संस्कृतिकर्मियों का आर्थिक सशक्तिकरण हो सके। सरकार को एक ऐसे कानून का निर्माण करना चाहिए जो संस्कृतिकर्मियों की सामाजिक, आर्थिक स्थिति को मजबूत करने में सहायक हो।

10. **समुदाय-केन्द्रित गतिविधियाँ:** सरकार समुदाय केन्द्रित कला केंद्रों की स्थापना एवं विकास में सहयोग करेगी, क्योंकि यही वह तरीका है जिसके माध्यम से कला एवं संस्कृति तक प्रत्येक नागरिक की पहुँच हो सकती है। ये सामुदायिक कला केन्द्र कला-प्रशिक्षण की भी प्राथमिक इकाईयों के तौर पर काम करेंगे। इन गतिविधियों को प्रोत्साहित करने हेतु सरकार (1) उन्हें वित्तीय मदद देगी (2) प्रशिक्षक तथा प्रशासक उपलब्ध कराएगी (3) उनकी रचनात्मक स्वायत्तता की रक्षा करेगी (4) प्रिन्ट एवं इलेक्ट्रॉनिक मीडिया को निर्देश देगी कि वह इनके प्रचार-प्रसार के लिए तत्परता दिखाए एवं (5) इन केन्द्रों के बीच संवाद एवं आदान-प्रदान सुनिश्चित करेगी।

11. **संस्कृति के क्षेत्र में अनुदान:** सरकार इस दिशा में सभी संभव उपाय करेगी कि निजी क्षेत्र के उपक्रम कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में वित्त लगाएँ। वह उन उपक्रमों को टैक्स में छूट दे सकती है जो कलाओं के प्रोत्साहन में संलग्न हो।

12. **संवैधानिक उपाय:** उपरोक्त अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर तथा एक राष्ट्रीय संस्कृति के विकास के लिए सरकार ऐसे कानून बनाने की दिशा में प्रयास करेगी जो:-

(1) संस्कृति के क्षेत्र में सक्रिय कलाकारों एवं व्यक्तियों की किसी भी प्रकार के शोषण से सुरक्षा करें। यह कानून संस्कृतिकर्मियों को पेंशन, बीमा, स्वास्थ्य सुविधाओं एवं कर-राहत, श्रम कानूनों आदि की सुरक्षा प्रदान कर उनकी सामाजिक-आर्थिक स्थिति में सुधार लाने की पहल करे।

(2) अंतर्राष्ट्रीय कलाकारों को भारत में अपनी कलाओं के प्रदर्शन के लिए अवसर उपलब्ध कराए ताकि भारतीय कलाकारों को भी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर अपनी कलाओं के प्रचार-प्रसार की अनुमति मिले।

(3) फिल्मों के निर्माण एवं वितरण से जुड़े एकाधिकारों को समाप्त करने की दिशा में ठोस उपाय करें।

(4) अभिव्यक्ति और संप्रेषण की आजादी सुनिश्चित करे।

(5) कलाकारों, संस्कृतिकर्मियों एवं साहित्यकारों के हितों की सुरक्षा के लिए कॉपीराइट कानूनों को प्रभावी बनाए।

(6) यह सुनिश्चित करे कि सभी स्तरों पर कला-शिक्षण नि:शुल्क हो एवं इसके लिए आवश्यक संसाधन भी नि:शुल्क मुहैया कराए जाएं।

(7) यह सुनिश्चित किया जाए कि कला एवं संस्कृति के बजट का एक न्यूनतम हिस्सा ही इसके प्रशासनिक कार्यों में खर्च किया जाएगा। इस बजट का कम से कम 80 प्रतिशत हिस्सा रचनात्मक कार्यों में खर्च हो।

(8) विभिन्न सांस्कृतिक गतिविधियों जैसे नाटक या अन्य किसी भी प्रदर्शन पत्र-पत्रिकाओं के पंजीकरण एवं नियमन आदि के लिए लाइसेंस या अनुमति देने की प्रक्रिया को पुलिस के नियंत्रण से मुक्त किया जाए तथा इसके लिए एक सांस्कृतिक समिति बनाई जाए।

□□□

परंपरा में पुस्तक संस्कृति

मुन्ना पाठक

पुस्तकों को हमारे समाज में, खासकर ग्रामीण क्षेत्रों में देव-तुल्य स्थान प्राप्त है। भारत विश्वगुरु रहा है। इसमें पुस्तकों की भूमिका से इन्कार नहीं किया जा सकता है। प्राचीन काल में भारत की धार्मिक परंपरा, सामाजिक परंपरा की संवाहक के रूप में पुस्तकों का योगदान रहा है। वेद, गीता, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, धम्मपद, जिन्नवाणी, गुरुग्रंथ साहिब, भारतीय परंपरा की ये चंद ऐसी किताबें हैं जिनमें समाहित विचारों से तात्कालिक समाज तो संचालित होता ही था, आज के आधुनिक भारतीय समाज में इन किताबों द्वारा दिए गए संस्कार का गहरा प्रभाव देखा जा सकता है। जैसा कि आज की आधुनिक व्यवस्था में पुस्तकों को महज एक संसाधन के रूप में देखा जाता है, ऐसा हमारे भारतीय समाज की ग्राम्य परंपरा में कभी नहीं रहा। हर भारतीय के घरों में पुस्तकों को वही स्थान प्राप्त है जो उनके देवताओं को हासिल है।

हम भी उसी परंपरा से आते हैं जहाँ पुस्तकों का सम्मान करना सिखलाया गया है। भारतीय संस्कृति में विद्या की देवी सरस्वती के समान पुस्तकों को भी आदर देने एवं उनकी पूजा करने की परंपरा रही है। भारतीय चिंतन के इसी संस्करण को पुस्तक संस्कृति कह सकते हैं। बचपन में किताबों के ऊपर अगर भूल वश पैर पड़ जाते थे या पुस्तके नीचे जमीन पर गिर जाती थी तो तत्काल उठाकर हम उन्हें माथे से लगाते थे। हमारी यही परंपरागत आदतें एक संस्कार का रूप लेती हैं और यही हमारी संस्कृति है।

भारतीय पूजा विधान में चाहे सत्यनारायण व्रत कथा हो, या दुर्गा सप्तशती का पाठ या अखंड रामायण हर परंपरागत पूजन प्रक्रिया में पुरोहित द्वारा पुस्तक पूजन की परंपरा रही है। इतना ही नहीं सोलह संस्कारों में एक विद्यारंभ संस्कार में भी पुस्तकों की पूजा की जाती है। बचपन से हम सबको बताया गया कि विद्या की देवी सरस्वती हैं अतएव बिहार सहित देश के अनेक क्षेत्रों में सरस्वती पूजन का विधान बसंत पंचमी को किया जाता है। मुझे याद है अपने-अपने विद्यालयों के अलावा हर गली-मुहल्ले में बच्चों की टोली बड़ी धूमधाम से सरस्वती पूजा मनाती थी। हम सब अपने-अपने कोर्स की किताबों को माता सरस्वती के पास रख देते थे। और विसर्जन के बाद माता सरस्वती के ऊपर चढ़ाए गए फूलों को अपने-अपने किताबों के पन्नों में डाल देते थे और कामना करते थे कि माता की कृपा से पुस्तकों में अंतर्निहित ज्ञान हमें प्राप्त हो। इस पूरी प्रक्रिया में आस्था, विश्वास और उत्सव का समावेश

होता था यूँ कह सकते हैं बाल मन पर पहली बार पुस्तकों के प्रति सम्मान का विश्वास जागृत होता था जो उम्र भर एक संस्कार के रूप में हमारे जीवन में हावी रहता था। पुस्तकें हमें ज्ञान सिखलाती हैं, भला इस बात से कौन इंकार कर सकता है, मगर ज्ञान प्रदान करने वाली इन पुस्तकों के प्रति हमारी आस्था, विश्वास और सम्मान हमारे समाज में जिस सांस्कृतिक चेतना को जागृत करती है वो अनायास नहीं है बल्कि लंबे समय से देश के विभिन्न हिस्सों में विभिन्न समुदायों में पुस्तकों के प्रति स्थापित परंपरा का परिणाम है। इन प्रचलित परंपराओं के अलावा अन्य परंपराएं भी महत्वपूर्ण हैं। दीपावली में कौन नहीं महालक्ष्मी की पूजा करता है, मगर गीता प्रेस से प्रकाशित नित्यकर्म पूजा प्रकाश के अनुसार अधिकांश व्यापारी वर्ग न सिर्फ खाता बही बल्कि लेखनी के स्वरूप में कलम दवात की पूजा भी करते हैं। विधान के अनुसार "स्याही युक्त दवात को भगवती महालक्ष्मी के सामने रखकर गंध पुष्प अक्षत से पूजा की जाती है। दवात की प्रार्थना का मंत्र है।

कालिके! त्वं जगन्मातर्मसि रूपेण वर्तसे।

उत्पन्ना त्वं च लोकानां व्यवहार प्रसिद्धये।।

दवात पूजन के उपरांत लेखनी पूजन का विधान है। लेखनी की प्रार्थना का मंत्र है: *लेखनी निर्मिता पूर्वं ब्रह्मणा परमेष्ठिता/ लोकानां च हितार्थाय, तस्मातां पूजयाम्यहम्।*

इसके बाद खाता बही का पूजन भी विधानपूर्वक किया जाता है। अर्थात् न सिर्फ पुस्तक बल्कि पुस्तक परिवार के सहयोगियों को भी पूजने की परंपरा रही है।

कायस्थ समुदाय में दीपावली के बाद गोवर्धन पूजा के दिन चित्रगुप्त पूजा करने का विधान है। ऐसी मान्यता है कि चित्रगुप्त महाराज स्वर्गलोक में मनुष्य के कर्मों का हिसाब-किताब रखते हैं अतएवं चित्रगुप्त पूजा के दिन अपने-अपने खाता बही की पूजन की परंपरा है इसी दिन बिहार के कुछ वर्गों में अमर पीठा बनाने की परंपरा है। मुझे याद है गोवर्धन पूजा के दिन मेरी माता जी अमर पीठा बनाती थीं। जिसमें पीठा, झांवी, चिड़िया, पोथी, पतरा, खडाऊं, खांची, कुदारी की आकृति चावल के आटे से निर्मित किया जाता था, फिर उसे भोजन के रूप में पकाया जाता था और पकने के बाद घर की बेटियों को झांपी और चिड़िया की आकृति रखने को दी जाती थी। बच्चों को पोथी, पतरा और खंड़ाऊँ दिया जाता था, जबकि घर में काम करने के लिए आने वाली दाई को खांची, कुदारी की आकृति दी जाती थी। यह एक परंपरा है जिसमें संभवत: झांपी देना परिवार द्वारा बेटियों को शादी के वक्त दिए जाने वाले आशीर्वाद स्वरूप समृद्धि का प्रतीक है वहीं चिड़िया इस बात का प्रतीक है कि बच्चियाँ एक दिन मायका छोड़ उड़ जाएंगी। वहीं पोथी पतरा और खडाऊं ज्ञान धर्म के प्रतीक के रूप में इंगित है और खांची-कुदारी, श्रम शक्ति को सम्मान की परंपरा है।

आज भी किताबों की ताकत से इंकार नहीं किया जा सकता। दुनिया के चाहे जो भी धर्म, मजहब या पंथ है उनके केन्द्र में कोई-न-कोई पुस्तक जरूर है। चाहे इस्लाम धर्म की पुस्तक कुरान हो या ईसाई धर्म की पुस्तक बाईबल या तो सिख धर्म की पुस्तक गुरू ग्रंथ साहिब हो या हिन्दू धर्म का वेद, रामायण। सभी धर्मों की आस्था अपनी-अपनी धार्मिक पुस्तकों पर है इन पुस्तकों में वर्णित आचार-विचार और ज्ञान के आधार पर ही ये धर्म आज भी संचालित होते हैं। सिख समुदाय एक ऐसा समुदाय है जहाँ गुरु नानक देव रचित "गुरु ग्रंथ साहिब जी" की ही पूजा होती है। प्रकाश पर्व के दिन कार्तिक पूर्णिमा को गुरु ग्रंथ साहिब जी की भव्य झांकी भी निकलती है। इस दिन पूरा समुदाय अपने धर्म ग्रंथ के प्रति महान आस्था के साथ पूजा करता है। ये हमारी पुस्तक संस्कृति का अनूठा उदाहरण है। किताबों के प्रति इसी महान आस्था के कारण भारतीय अदालतों में गीता, कुरान, बाईबल, गुरु ग्रंथ साहिब जैसी महान पुस्तकों की शपथ भी दिलवायी जाती है। इन परंपराओं के अलावा देश एवं विश्व में किताबों के प्रति अनेक लोकमान्य, धर्ममान्य परंपराएँ जीवित हैं।

□□□

सांस्कृतिक स्मृतियों में पुस्तकें

प्रभाकर श्रोत्रिय

इतना तो तय है कि पुस्तकों का विकल्प नहीं हो सकता। आजकल ई-बुक और सी डी का चलन हो रहा है। इससे पढ़ना एक अलग तरह की गति और चीजें माँगता है। कंम्प्यूटर पर हर कोई पढ़े संभव नहीं है। यह एक अलग उपक्रम, समय माँगता है। यह रेफरेंस के तौर पर तो ठीक है। पर, ये हम कैसे मान लें कि एक सौ बीस करोड़ से ऊपर की आबादी में सबके पास कम्प्यूटर हो पाएगा। इसीलिए हमारे देश का जनाधार इलेक्ट्रॉनिक मीडिया नहीं हो सकता। भारत में गरीबी चरम सीमा पर है। उन लोगों को पढ़ने के लिए पुस्तकालय और वहीं की किताबों का सहारा है।

संस्कृति भीतर की होती है। मनुष्य को भीतर से सुसंस्कृत होना पड़ता है। पढ़ना संभव नहीं होता है क्योंकि किताबें आजकल विज्ञापन और बाजार की चीज बन गई हैं। आजकल लेखक के बजाय एजेंट की भूमिका प्रमुख हो गई है। किताबें प्रचारित कैसे होती हैं? आज बाजार द्वारा घोषित 'बेस्ट सेलर' किताब बेस्ट होगी, यह जरूरी नहीं है। एजेंट की भूमिका जो बीच में आ गई, उसने किताबों की गुणवत्ता को प्रचार में बदल दिया है। विज्ञापन में छपने वाली चीजों की गुणवत्ता घटती जाती है। वैसे आजकल शेविंग क्रीम की ट्यूब देखने में बड़ी होती है और वह आधी भरी होती है। इसी तरह बिस्कुट का आकार छोटा होता जा रहा है। विज्ञापन एक सीमा तक चीजों की जानकारी लोगों तक पहुँचाता है। जबकि, इसकी अधिकता से गुणवत्ता घटी है। यही हाल किताबों का है। किताबें बिक रही हैं, पर एजेंट किसी भी किताब को 'बेस्ट-सेलर' बना सकता है। बाज़ार उसका विस्तार है। किताबें गहन अध्ययन मांगती हैं, लेखक में गहराई होनी चाहिए। आजकल मीडिओकर यानि मध्यम दर्जे के लेखक ज्यादा छपते हैं। आज भी गुलशन नंदा लाखों में छपते हैं। बड़े-बड़े लेखक, उपन्यासकार लेखक उनसे कम पढ़े जाते हैं। सस्ती किताबें पढ़ी जाती हैं। एजेंट बाजार के प्रसार और लोकप्रियता को देखता है। किसी चीज का स्तर ऊपर होता है, धार कम होता है। जबकि स्तर गिराते हैं तो उसका विस्तार होता है।

ऐसे में मध्यम वर्ग या निम्न वर्ग के लोग किताबें खरीद नहीं सकते। इसलिए गाँव-गाँव में, कस्बे-कस्बे में पुस्तकालय खुलनी चाहिए या उनकी स्थिति को सुधारा जाना चाहिए। क्योंकि पुस्तकालय की एक किताब को पचास लोग पढ़ते है। ये जो जनता की भीड़ है, वह पुस्तकालय में किताबें पढ़ती है। पुस्तकालय यानी पुस्तक तंत्र बहुत बड़ा है। इस तंत्र

किताब का व्यापार लोहे या कपड़े के व्यापार जैसा तो है नहीं। किताब पढ़ना, किताब लिखना और किताब से किसी तरह से जुड़ना एक पवित्र काम है। अगर, लिखने वाला पूरी तरह से बाजारीकरण से जुड़ जाएगा तो किताब की वह पवित्रता शेष नहीं रह जाएगी, जो होनी चाहिए।

में लिखने वाला, टाइप करने वाला, छापने वाला, प्रकाशित करने वाला, बेचने वाला यानि एक लंबी प्रक्रिया से गुजरने के बाद एक किताब पाठक के पास पहुँचती है। यह अनाज के कण की तरह है। विनोबा भावे ने कहा कि जो जूठा छोड़े उसे जूते मारना चाहिए। किसान बीज डालेगा, पानी से सिचाई करेगा, रोग से बचाने के लिए कीटनाशक की छिड़काव करता है, उसके बाद उस अन्न में बाजार वालों की भूमिका आती है। फिर, वह गृहणी तक आता है वह उसे मेहनत करके पकाती है। वह आप तक पहुँचाती है लेकिन, देश में बड़े-बड़े आयोजनों में कितनी बरबादी जूठन में होती है। इसी तरह किताबें एक लंबी प्रक्रिया से गुजरती हैं। पचास हाथों से गुजरकर किताब पाठक तक पहुँचती है तो उसमें गुणवत्ता होनी चाहिए। अलग-अलग पाठक पर अलग-अलग असर होता है। जिसके लिए किताब लिखी गई है उसके लिए किताब उपयोगी है या नहीं इसका भी ध्यान रखा जाना चाहिए। अब गणित की पाठ्य पुस्तक में एक बंदर से जुड़ा सवाल है कि एक बंदर एक खंभे पर इतनी बार चढ़ा-उतरा तो वह कितनी दूरी तय किया? ऐसे सवाल मानवीय मूल्य से कितने जुड़े हैं। गाँधीजी ने एक बार शिक्षा नीति पर बोलते हुए शिक्षाविद् अबुल कलाम से पूछा था कि एक सेब मैं चार आने में खरीदकर एक रुपये में बेच दिया इसमें मुझे कितना फायदा हुआ। सबने सोचा कि गाँधीजी कैसे बच्चों-सा सवाल कर रहे हैं। अबुल कलाम ने कहा कि सीधा जवाब है, आपको बारह आने मिलेंगें। यह जवाब सुनकर गाँधीजी ने कहा कि नहीं। यही तो गलत है। जिस दिन मेरे देश का बच्चा यह कहेगा कि चार आने की सेब एक रुपये में बिकी। यह गलत है और बेचने वाले को जेल जाना चाहिए। जिस दिन देश का बच्चा यह कहने लगेगा, उस दिन मैं समझूँगा कि हमारी शिक्षा नीति सफल है कि गणित जीवन में जुड़ी होनी चाहिए।

साठ के दशक की बात है। मैं अपनी पहली किताब की पांडुलिपि लेकर दिल्ली आया था। मेरे सामने प्रकाशकों ने कई तरह के सवाल रखे, जिनमें किताबों को कोर्स में शमिल करने, प्रकाशन में आधा खर्च वहन करने आदि की बात की। मैने पांच साल लगाये थे उस किताब को लिखने में, पर किसी ने उस किताब की पांडुलिपि को पलटकर देखने की हिमाकत नहीं की। मैं बस स्टैंड पर खड़ा था, तभी मेरी नजर प्रकाशक 'आत्माराम एंड संस' के साईन-बोर्ड पर पड़ी। मैंने मन में सोचा यहाँ भी कोशिश करके देख लेते हैं। मैं उनके ऑफिस के अंदर गया। वहाँ एक बुजुर्ग बैठे थे। उन्होंने मुझे बैठाया फिर ठंडा पानी पिलाया। मालूम पड़ा कि मैं लेखक हूँ। वहाँ मैंने अपना आशय बताया। तब उन्होंने एक फॉर्म दिया। फिर, कहा कि इसे दो स्कॉलर के पास भिजवाएँगें। उनके द्वारा पांडुलिपि का मूल्यांकन होगा। उनकी स्वीकृति के बाद हम इसे सेल्स-एक्सपर्ट को दिखाएँगें। तब हम आपको अनुबंध भेजेंगे। इस सब प्रक्रिया में तकरीबन एक महीने का समय लगेगा। मैं खुश होकर वापस लौट गया। लगभग दो महीने बाद, एक पत्र के साथ प्रकाशक का अनुबंध-पत्र आया। इसके बाद मेरी पहली किताब छपी। दरअसल, प्रकाशन का यह सबसे पारदर्शी तरीका था। 'ज्ञानपीठ' में प्रकाशन से पहले इसी तरह मूल्यांकन किया जाता रहा है। प्रकाशक का व्यक्तिगत पक्ष गौण होता है, उसका लोकपक्ष महत्वपूर्ण होता है। वही समाज को जिंदा रखेगा। मेरी लगभग चालीस किताबें प्रकाशित हो चुकी हैं। लेकिन, उसकी रॉयल्टी बहुत कम है। सच कहा जाए तो हिन्दी लेखक के लिए सिर्फ लेखन के जरिए जीविका चलाना मुश्किल है। मेरे एक मित्र इलाहाबाद में विभागाध्यक्ष थे। उस समय वह कहते थे कि मेरी पत्नी मेरी किताबों की रॉयल्टी बारह आने, छह आने देखकर हंसती है। अब वह सोचकर मुझे हैरत होती है। जब प्रकाशक कहते हैं कि आपकी सिर्फ दस-बारह किताबें बिकीं हैं। हालांकि, मैं जानता हूँ कि किताब का व्यापार लोहे या कपड़े के व्यापार जैसा तो है नहीं। किताब पढ़ना, किताब लिखना और किताब से किसी तरह से जुड़ना एक पवित्र काम है। अगर, लिखने वाला पूरी तरह से बाजारीकरण से जुड़ जाएगा तो किताब की वह पवित्रता शेष नहीं रह जाएगी, जो होनी चाहिए।

□□□

संस्कृति को समृद्ध बनाती हैं पुस्तकें

डॉ. रघुवंश प्रसाद सिंह

किताबों में दुनिया का संपूर्ण ज्ञान का भंडार हैं। पुराने जमाने में कहा जाता था कि सबसे पुराने जमाने में वेद कंठस्थ थे। आगे पीढ़ी-दर-पीढ़ी लिपिबद्ध किया गया। लिखने की परिपाटी नहीं थी। श्रुति यानि सुनकर याद करते थे। बाद में, लेखन का काम शुरू हुआ। सबसे पुराने ग्रंथों में वेद, उपनिषद्, पुराण, स्मृतियाँ आदि मानी जाती हैं। उसके बाद बिहार में महात्मा बुद्ध आए। इसी दौरान चीन में कन्फ्यूशियस, लाओत्से और ग्रीस में प्लेटो और अरस्तू का आगमन हुआ। भगवान बुद्ध के समय भी लिखने की शुरूआत नहीं हुई थी। उनके निर्वाण के बाद उनके शिष्य महाकाश्यप ने सोचा कि अब हमारे मार्ग-दर्शक नहीं हैं और कोई नियंत्रण करने वाला नहीं है। इसलिए, राजगीर में प्रथम धर्म सम्मेलन आयोजित की गई और उसे लिखित रूप में संग्रहित किया गया। बाद के लोगों में नागार्जुन, अश्वघोष, नागसेन का नाम आता है। शायद, आधुनिक लेखन की शुरूआत वहीं से हुई, तब पुस्तकें ज्यादातर पाली और प्राकृत में लिखी गई।

आज विज्ञान के विकास की कथाएँ लिखी जा रही हैं। इंटरनेट पुस्तकों का विकल्प नहीं हो सकता है। इसके आयाम अलग हैं। पुस्तक की दुनिया ही अलग है। पुस्तक संस्कृति का विकास वैसे-वैसे ही हुआ, जैसे-जैसे सभ्यता-संस्कृति का विकास हुआ। आजादी के आंदोलन के समय पुस्तकालय आंदोलन अपने चरम पर था। आजादी से पहले राष्ट्रीय, राज्य, जिला, पंचायत स्तर पर पुस्तकालय लोगों ने खोला था। उस दौरान भाषा-सम्मेलनों का आयोजन भी खूब होता था।

नालंदा विश्वविद्यालय का पुस्तकालय एक समय में विश्व-प्रसिद्ध था। हिन्दी के विद्वान राहुल सांकृत्यायन ने अपनी तिब्बत यात्रा के जरिए संस्कृत, पाली, प्राकृत, तिब्बती भाषा में लिखे साहित्य और किताबों से बहुत कुछ लिखा। उस समय चीन में कई भारतीय विद्वानों को आश्रय दिया गया था। जिसमें कुमारजीव और मातंग का नाम शामिल था। चीनी यात्री फाहयान और ह्वेनसांग ने कई बार भारत-यात्रा किया। वे कई ग्रंथों को अपने साथ भी ले गए। चीन के कई राजाओं ने दीपांकर और आतिश जैसे विद्वानों को वहाँ बुलवाया। दरअसल, पुस्तक हमारे यहाँ सदियों पुरानी हैं। इसके विकास के लिए सैकड़ों लोगों ने कोशिश किया। बिहार में श्रीबाबू, मोहम्मद करीम, कर्पूरी ठाकुर ने काफी काम किया। तमिलनाडु में पुस्तक संस्कृति पर रंगनाथन ने पुस्तक आंदोलन की शुरूआत की थी। पुस्तकों को लेकर देशव्यापी

मिशनरी भावना से काम किया जाएगा तो पुस्तकालयों की संख्या बढ़ेगी। इसके लिए राष्ट्रव्यापी कानून बने तो अच्छा रहेगा। हमारी राय में हर राज्य में एक पुस्तकालय निदेशालय या विभाग होना चाहिए। पुस्तकालय के बिना देश का सम्यक विकास नहीं हो सकता। हमारे देश में जनसंख्या अधिक है, ये माना जाता है। अपने लोक-समुदाय को काबिल और समर्थ बनाने के लिए पुस्तकालय जरूरी है। सरकार द्वारा पुस्तकालय अभियान को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए।

आंदोलन हुए। बाद के समय में इसकी गति कभी तेज हुई, कभी धीमी पड़ गई। आज के समय में पुस्तक और पुस्तकालय आंदोलन की गति पृष्ठभूमि में चली गई है। सार्वजनिक पुस्तकालयों और विश्वविद्यालयों की पुस्तकालयों की दुर्दशा किसी से छिपी नहीं है। इस कारण खासकर के मदिरालय का बड़ा विस्तार हुआ है।

हमारे समाज में मदिरा और मदिरापान का शुरू से विरोध होता रहा है। भगवान् बुद्ध ने इसको निषेध किया। ईसा-मसीह ने बाइर्बल में 175 बार शराब-बंदी का जिक्र किया है। पैगम्बर मोहम्मद ने भी कहा कि नशा में सभी गंदगियों की शुरूआत होती है। नशा-बंदी का अभियान चलता रहा है। बिहार में श्रीबाबू के समय जगलाल चौधरी ने नशाबंदी अभियान शुरू किया था। कर्पूरीजी के समय भी नशाबंदी की गई थी। आज फिर, बिहार में इसके खिलाफ जागरुकता आई है। युवाओं और महिलाओं ने 'मदिरालय नहीं पुस्तकालय चाहिए, शराब नहीं किताब चाहिए' का नारा बुलंद किया है। नशीले पदार्थों के सेवन से गरीबों की बर्बादी ज्यादा होती है। महात्मा गाँधी ने एक बार कहा था कि अगर मुझे एक दिन के लिए तानाशाह बना दिया जाए तो मैं सबसे पहले शराब को बंद करवा दूँगा। इस काम को अंजाम देने के लिए यदि पढ़ाई जैसी चीद बंद करनी पड़ी तो हम उसके लिए भी तैयार हैं। हाल ही में हुए एक सर्वे के मुताबिक बिहार सरकार को दो से ढाई हजार करोड़ की आमदनी हुई, इसमें लगभग तेरह हजार करोड़ अनेक बिमारियों के इलाज में खर्च हो गया। यह राज्य सम्पत्ति की ही बरबादी है।

आजकल किताबें मँहगी हो गई हैं। इसलिए पुस्तकालयों की स्थापना बड़े पैमाने पर की जानी चाहिए। गली-मोहल्ले में पुस्कालय जरूरी है ताकि पढ़ने वाले लोग मिलकर पढ़ें। इससे सांस्कृतिक विकास होगा। इससे देश-प्रदेश की तरक्की होगी। भारत सरकार ने नेशनल लाइब्रेरी मिशन शुरू किया है। मिशनरी भावना से काम किया जाएगा तो पुस्तकालयों की संख्या बढ़ेगी। इसके लिए राष्ट्रव्यापी कानून बने तो अच्छा रहेगा। हमारी राय में हर राज्य में एक पुस्तकालय निदेशालय या विभाग होना चाहिए। पुस्तकालय के बिना देश का सम्यक विकास नहीं हो सकता। हमारे देश में जनसंख्या अधिक है, ये माना जाता है। अपने लोक-समुदाय को काबिल और समर्थ बनाने के लिए पुस्तकालय जरूरी है। सरकार द्वारा पुस्तकालय अभियान को सर्वोच्च प्राथमिकता देनी चाहिए। पुस्तकालय संस्कृति का विकास हो। पुस्तक पढ़ने के लिए सुलभ हो क्योंकि पुस्तक का आनंद अलग है। मैंने लोगों को पुस्तकालय की सुविधा मुहैया करवाने के लिए अपने संसदीय क्षेत्र वैशाली में चालीस पुस्तकालयों के भवन-निर्माण और पुस्तकों के लिए बाईस लाख रुपया सांसद-निधि से दिया है। मैं यह सोचता हूँ कि एक साल में बाईस लाख तो तीन साल के लिए छियासठ लाख रुपये होंगे। इससे निश्चित-तौर पर वैशाली में पुस्तक-संस्कृति का विस्तार होगा।

□□□

सांस्कृतिक यात्रा से पुस्तकें लोकप्रिय होंगी

अरुण माहेश्वरी

समय के साथ बदलाव सृष्टि का नियम है। लोग, समाज, देश, विश्व समय के साथ परिवर्तन चाहता है क्योंकि इससे नयापन बना रहता है। किताबों में भी पाठक नयापन चाहता है। वह नयापन भाषाई स्तर पर, छपाई के स्तर पर, संदर्भ के स्तर पर यानि सबमें नवीनता का आग्रह होना चाहिए। हमारे पुराने ग्रंथ जिन्हें परिवार में पीढ़ियों से पढ़ने की परंपरा चलती आई है, वे हमारे लिए सांस्कृतिक धरोहर हैं। उस सांस्कृतिक धरोहर से हम अपने समय, विचार और जीवन को गति देते हैं। हालांकि, किताबों में बदलाव एक अलग मुद्दा है। बात यह है कि परिस्थितियों के अनुसार समाज बदलता है। लेकिन, बदली परिस्थिति में किताबें अपने मूल स्वभाव को नहीं बदलती। 'दिनकर स्मृति न्यास' ने पुस्तक मेलों के जरिए सांस्कृतिक यात्रा की शुरूआत की है। यह समय की मांग है, जो न्यास कर रहा है।

आज के समय में जबकि औद्योगिक विकास और वैश्वीकरण के दौर की पराकाष्ठा है। हमारा विकासशील देश है, यहाँ लोग नए तकनीक के प्रति जल्दी आकर्षित हो जाते हैं। आज के दौर में इलक्ट्रॉनिक और कम्प्यूटर तकनीक के लोग प्रशंसक बन रहे हैं। इससे किताबें पीछे छूटने लगी हैं। लेकिन, मैं ऐसा नहीं मानता। मुझे लगता है कि यदि किताबों की भाषा और संदर्भ नए और प्रासंगिक होंगे तो किताबें दूर नहीं हो सकती। किताबों का जीवन को सकारात्मक बनाने में महत्वपूर्ण भूमिका है। आमतौर पर शहरी या कस्बाई जिंदगी में अखबारों को पढ़कर लोग सुबह की शुरूआत करते हैं। कल्पना करके देखिए कि आपको खूब सुंदर घर और रहने के लिए सारी सुविधा दे दी जाए, पर वहाँ कुछ भी काम करने को नहीं हो। पढ़ने-लिखने की कोई चीज न हो। ऐसे में कहीं अलमारी में बिछे अखबार का टुकड़ा भी मिल जाता है, तो आप उसे पढ़ने लगते हैं। वास्तव में, वहीं से जिदंगी शुरू हो जाती है।

आजकल सुनने में आता है कि किताबों की जरूरत नहीं। किताबें बच्चों को पसंद नहीं आती। बच्चों को किताबों की परीकथा अब लुभा नहीं पाती। ऐसे में राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' न्यास जैसी संस्था ने जो अलख जगाया है पुस्तक संस्कृति का। न्यास के माध्यम से लेखक, प्रकाशक और पाठक सभी एक-दूसरे के करीब आ गए हैं। बतौर, प्रकाशक मैं इस पुस्तक संस्कृति यात्रा में उनके साथ कदम से कदम मिलाकर चल रहा हूँ। संस्कृतिकर्मी, लेखक, प्रकाशक, पाठक एकजुट होकर काम करेंगे तो निश्चित तौर पर पुस्तक संस्कृति का विकास होगा। क्योंकि किताबें आपके व्यक्तित्व को तराशती हैं। किताबें

आपको इतिहास से परिचित करवाती हैं। हमने पुस्तकों को हर दरवाजे तक पहुँचाने की कोशिश की है। मेरा विचार है कि अगले वर्ष हम पुस्तक संस्कृति रथ यात्रा शुरू करें, जिसमें पुस्तकों के साथ देश भर में यात्रा की जाए और लोगों को पुस्तकों के प्रति जागरुक किया जाए। इससे सुदूर इलाकों-गाँवों तक किताबों की जानकारी लोगों तक पहुँचे। उस यात्रा के जरिए हम अपने संकल्प को और मजबूत करने के लिए पाठकों से सीधे संपर्क स्थापित कर सकें। मुझे यहाँ गुलजार जी की बात याद आती है–'किताबों से कभी गुजरो तो कुछ किरदार मिलते हैं, गए वक्तों की ड्योढ़ी पर खड़े कुछ यार मिलते हैं।' नाटककार सफदर हाशमी की कविता याद आती है–'किताबें ज्ञान का भंडार हैं'।

मैं लोगों से कहना चाहता हूँ कि वे उपहार में किताबें ही दें। ताकि इससे पुस्तक संस्कृति का और विकास हो। पहले ही हिंदी फिल्मों में पुस्तकों के अंश का वर्णन जरूर होता था। वह अनायास नहीं था, वह सप्रयास था। समाज के कुछ लोग जो किताबों के संसार के लिए कुछ करना चाहते हैं वे सब पुस्तकों के साथ सबसे पहले हाथ मिलाना चाहते हैं। सांस्कृतिक यात्रा में पुस्तक एक महत्वपूर्ण कारक है। साहित्यकार, बुद्धिजीवी, संस्कृतिकर्मी सब एकजुट होकर सहयोग करेंगें तभी उनकी यात्रा को सफलता मिलेगी।

मैं मानता हूँ कि किताबों का सबसे बड़ा ग्राहक मध्यम वर्ग ही है। वैसे उच्च-वर्ग भी किताबों से जुड़े रहना चाहता है। मेरा निजी अनुभव है कि पुस्तक मेलों में बिहार में छोटे-छोटे कस्बों-गाँवों से लोग किताब खरीदने आते हैं। अगर, उनकी जेब में बीस रुपये हैं तो पाँच रुपये ऑटो, बस के किराए में खर्च करने के बाद पंद्रह रुपये में कौन-सी और कैसी किताब खरीदी जा सकती है, यह वहाँ के लोग बेहतर जानते हैं। वास्तव में, किताब खरीदने के लिए सिर्फ 'चाह' की जरूरत होती है। इसलिए, हम सस्ते पेपरबैक संस्करण और पुस्तकालय संस्करण अलग-अलग प्रकाशित करते हैं। हमारा प्रयास रहता है कि पाठकों को अच्छी सामग्री सस्ते दर में पढ़ने को मिले। इसलिए हम पुस्तक के आकार, प्रकार, लागत को देखकर नहीं बल्कि पाठक को ध्यान में रखकर किताबों की कीमत रखते हैं। सुधी प्रकाशक जन उस गणित को जरूर ध्यान में रखते हैं। वैसे नब्बे से दो हजार के दशक तक बहुत ज्यादा पाठकों की बात नहीं की जा रही थी। अब वह रुख बदला है। हमने साहित्य के विविध आयामों से जुड़े पाँच सौ और बच्चों के लिए दो हजार पुस्तकों को प्रकाशित किया है। अगर, किसी पाठक को लगता है कि फलां किताब की कीमत ज्यादा है या फलां किताब महंगी है तो एक जागरूक पाठक को सवाल उठाना चाहिए। उसे इसका विरोध करना चाहिए। इसके लिए उसके पास विरोध-दर्ज करने के लिए अखबार, इंटरनेट, फेसबुक, ट्विटर जैसे कई मंच हैं। विरोध से ही विकास के लिए रास्ता निकलता है।

हमारे प्रकाशन की तुलना सरकारी प्रकाशन से की जाती है। सरकार उनको बजट देती है, सारी सुविधाएँ देती हैं। उनका कोई हवाला लेने-देने वाला नहीं होता है। सरकारी किताबें बाजार में सिर्फ दो प्रतिशत ही दिखती हैं। 1890-1920 तक हिंदी की महत्वपूर्ण पत्र-पत्रिकाएँ प्रकाशित हुईं। उस समय प्रकाशकों के पास पैसे थे क्योंकि वे पाठ्य पुस्तकों का प्रकाशन का काम करते थे। उस समय के साहित्यकार प्रेमचंद, आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी दोनों इंस्पेक्टर थे। उनकी किताबें खुले बाजार में बिकती थी। प्रकाशक साहित्यिक कृतियों में लगते थे। उन पत्रिकाओं की हजारों कॉपियाँ बिकती थी। आजादी के बाद बुद्धिजीवी राष्ट्रवाद से प्रेरित हुए और उन्होंने एनसीईआरटी, प्रकाशन विभाग, चिल्ड्रन्स बुक ट्रस्ट, एनबीटी की स्थापना की। उससे आधे प्रकाशक मर गए। उनकी किताबें याद की जाती हैं। धीरे-धीरे प्रकाशन के बाजार में पैसा आना बंद हो गया। केवल साहित्यिक किताबों का प्रकाशन करके बाजार में टिकना संभव नहीं है। नेशनल बुक ट्रस्ट, साहित्य अकादमी, हिंदी राष्ट्रीय भाषा संस्थान, केन्द्रीय हिंदी संस्थान आदि प्रकाशन का काम करने लगे। अब तो पाठ्य पुस्तक भी प्रकाशित करने लगे हैं। ऐसे में बाजार में पैसे का प्रवाह कहाँ से आएगा? इसलिए हमारे यहाँ न किताबों का विकास हुआ और न किताबों की संस्कृति का विकास हुआ?

□□□

नालन्दा की खोज में

डॉ. श्रीकांत सिंह

आज पुनः नालन्दा की खोज जोरों पर है। नालन्दा अन्तर्राष्ट्रीय विश्वविद्यालय की स्थापना को लेकर सम्पूर्ण बौद्ध एशियाई देशों में अति उत्साह देखा जा सकता है। सभी देश अपनी-अपनी भूमिका निभाने को आतुर हैं। इसके कई कारण हैं। परन्तु भारत वर्ष में नालन्दा के प्रति आज जो उत्साह है यहाँ मैं उसकी बात करना चाहता हूँ। इसके लिए हमें थोड़ा पृष्ठभूमि में जाना होगा।

दरअसल दो-सौ वर्षों की अँग्रेजी हुकूमत ने भारत में युगान्तकारी परिवर्तन किये। पाश्चात्य जगत की अनेक अच्छी बातें भी आसानी से हम तक पहुँच गयीं। इसके अच्छे लाभ भी हुये। परन्तु कुछ बातें जो हुयीं या कहें जो षड्यंत्र किये गये भारत पर उनका असर आज भी देखा जा सकता है। उदाहरण के लिए भारत में अँग्रेजों का औपनिवेशिक काल लम्बा हो इसके लिए उन्होंने भारतीयों को मानसिक रूप से गुलाम बनाने को ठाना और इसे योजनाबद्ध तरीके से लागू किया। भारतीय शिक्षण-संस्थाओं को नष्ट किया गया और उनकी जगह अँग्रेजी शिक्षा लागू की गयी। वे हमें भारत के बारे में तथ्यों को तोड़मरोड़ कर पढ़ाने लगे और हमारा आत्म-विश्वास तोड़ने लगे। हमें बताया गया कि हमें इतिहास का बोध नहीं है, हमारा देश सपेरे और फकीरों का देश है और हम असभ्य और जंगली लोग हैं। अतः वे हमें अँग्रेजी सभ्यता सिखाकर अधुनिक बनाने आये हैं। उनका यह विचार इतना प्रभावकारी तरीके से परोसा गया कि आजादी की लड़ाई के समय भी भारत के नरमपंथी दल के लोग अँग्रेजी हुकूमत को भारतीयों के लिए उपयोगी समझते रहे।

1947 ई में जब भारत आजाद हुआ तो हमने योजना बनायी कि हमें अपने इतिहास को ठीक से समझने की जरूरत है। किसी भी राष्ट्र की पूर्ण आजादी उसकी सांस्कृतिक उन्नति की अनुगामी होती है। भारत में 19वीं शदी में ही सांस्कृतिक क्रांति या कहें सांस्कृतिक पुनर्जागरण का विगुल फूँका जा चुका था। भारत की आजादी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उसका भी प्रतिफल है।

परन्तु 1947 ई में जब भारत आजाद हुआ तो हमें आत्म विश्वास की बड़ी जरूरत पड़ी। यह जरूरत आज भी कायम है। इसीलिए हमें भारत, भारतीयता और हमारी महान उपलब्धियाँ आज याद आ रही हैं। नालन्दा के प्रति आज का आकर्षण इसी की कड़ी के रूप में देखा जा सकता है। परन्तु जो कारण आज नालन्दा को खास बनाती है वह है आज

के भारत की शिक्षा-व्यवस्था। सर्वविदित है कि हम अंधाधुंध आज भी पाश्चात्य जगत की ओर ही बढ़ते जा रहे हैं। आज चिंतन का वक्त है। हमें रुककर सोचने की जरूरत है कि हम उनकी नकल कर मौलिक कैसे बनेंगे? उनकी स्थितियों-परिस्थितियों में उत्पन्न शिक्षा समेत अनेक व्यवस्थाओं को भारतीय स्थितियों में लागू कर हम मौलिक योगदान कहाँ से कर सकेंगे? यही कारण है कि आज भारत के एक भी विश्वविद्यालय विश्व के 200 श्रेष्ठतम विश्वविद्यालय में भी सूमार नहीं किये जाते। शोध भी मौलिक नहीं हो पा रहे हैं।

अत: समय आ गया है कि हम अपनी विरासत, अपनी पहचान और अपनी जरूरतों को पहचान कर स्वयं अपनी योजना बना कर चलें। शिक्षा के क्षेत्र में नालन्दा विश्वविद्यालय की उपलब्धियाँ इतनी महान रही हैं कि आज भी हमें उससे बहुत कुछ सीखने की जरूरत है और प्रेरणा-पुंज तो वह है ही।

पहली चीज जो नालन्दा विश्वविद्यालय के बारे में गौर करने की है वह यह कि विश्वविद्यालय में यथासंभव ऐसे लोग आचार्य बनाये जाते थे जिन्हें ज्ञान से प्रेम होता था और जिनमें राष्ट्रभक्ति की धारा का संचार होता था या जो देश, दुनिया और समाज के लिए अपना सब कुछ त्याग करने के लिए तैयार होते थे। आचार्यों की नियुक्ति उन्हें आजीविका प्रदान करने के लिए नहीं की जाती थी। अगर प्राचीन नालन्दा के महान आचार्यों के जीवन को देखें तो पता चलता है कि वे दिन-रात तत्त्व-चिंतन में अपना समय बिताते थे। परन्तु यह भी सत्य है कि वे सांसारिक यानी पारिवारिक लोग नहीं थे। ज्ञान के क्षितिज का विस्तार उनका परम लक्ष्य होता था। चूँकि विद्यार्थी और शिक्षक साथ-साथ रहते थे, अत: पठन-पाठन दिन-रात चलते थे। वाद-विवाद और परिचर्चा का तरीका काफी प्रचलित था। प्रत्येक आचार्य विद्यार्थी को और एक विद्यार्थी दूसरे विद्यार्थी को पढ़ाते थे। पढ़ाई साधना समझी जाती थी। एक तरह का जबर्दस्त मेधातंत्र लागू था। जो आचार्य जितने ग्रंथों के ज्ञाता होते, पद-सोपान में उनका स्थान उतना ही ऊँचा होता था। आज हमें उससे बहुत सीखने की जरूरत है। आज नियुक्तियों के आधार पर गौर करेंगे तो बातें और स्पष्ट हो जायेंगी। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात जो नालन्दा सिखाती है वह यह कि दुनिया का कोई विश्वविद्यालय चाहे वह आज का ऑक्सफोर्ड, केम्ब्रिज, हारवर्ड या सॉनवान ही न हो, नालन्दा विश्वविद्यालय के स्तर को प्राप्त नहीं कर सका है। वह कैसे? वह इस तरह कि आज तक नालन्दा विश्वविद्यालय ही था, जहाँ जो विद्या सिद्धांत में पढ़ाई जाती थी उसे व्यवहार में उतारा जाता था। जैसे, अगर झूठ बोलना अनैतिक पढ़ाया जाता था तो इसे व्यवहार में जीया जाता था। ऐसे पर्याप्त उदाहरण मिलते हैं जब आचार्य या शिष्य ने अपने व्यवहारगत चूक को सार्वजनिक रूप से स्वीकार किया हो और इससे मुक्त होने के लिए संघ का अनुमोदन प्राप्त किया हो। यहाँ शिक्षा तीन स्पष्ट भाग में बाँट कर दी जाती थी। आर्चाय ग्रंथों की तर्कसंगत व्याख्या करते थे और उपाध्याय उनके चरित्र-निर्माण से संबंधित विद्या यथा योग और ध्यान सिखाते थे। सैद्धांतिक (परियत्ति) के साथ व्यावहारिक (पटिपत्ति) शिक्षा दी जाती थी। तीसरी तरह की शिक्षा थी पटिवेद जिसमें सत्य का साक्षात्कार अनुभव या भावना का प्राप्त किया जाता था। इस तरीके से ही वास्तविक ज्ञान संभव हो पाता था। यहाँ से निकले छात्र पूरी दुनिया के लिए मिशाल बन जाते थे। वसुबंधु, आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, पद्मसम्भव, शीलभद्र, कमलशील, नागार्जुन, दिग्नाड्ग, शांतरक्षित, शांतिदेव, स्थिरमति, आदि सैकड़ो आचार्यों ने अपने ज्ञान और आचरण से तात्कालिक दुनिया को चमत्कृत किया था। इनमें से अनेक विद्वानों के ग्रंथ अनुवाद के रूप में तिब्बती, संस्कृत और चीनी आदि भाषाओं में आज भी उपलब्ध हैं जिनमें विषय के स्तर और उनके गाम्भीर्य को देखकर विस्मय होता है। हमारा दुर्भाग्य है कि हम भारतीय ही इनके ज्ञान से कम परिचित हैं। पाश्चात्य जगत तो इन पुस्तकों का ज्ञान प्राप्त कर हमें ही हमारा परिचय बता रहा है।

तीसरी बात जो नालन्दा के बारे में महत्त्वपूर्ण है वह यह कि वहाँ मौलिक शोध किये जाते थे। अगर आप उस समय के ग्रंथों के संयोजन को देखें तो आपको आश्चर्य होगा कि उन्होंने कितना वैज्ञानिक तरीके से उनका संयोजन व निरुपण किया था। तर्कविधा, जो आज पश्चिम में वैज्ञानिक सोच कहलाती है, की पराकाष्ठा देखनी हो तो नागार्जुन, धर्मकीर्ति और दिग्नाड्ग के पुस्तकों को देखें। प्रसिद्ध पाश्चात्य कवि और आलोचक टी एस इलियट ने यूँ ही नहीं कह दिया था कि महान प्राचीन भारतीय चिंतकों की तुलना में योरोपीय दार्शनिक बौने दिखते हैं। नालंदा में शोध की एक खास विशेषता थी कि जिस विषय पर शोध होते थे, उस विषय से संबंधित समस्त ज्ञान यथा हिन्दू, जैन या अन्य आदि का समग्रता में परीक्षण किया जाता था और अंत में निष्कर्ष दिया जाता था। कोई विषय जो नालंदा से अनुमोदित हो जाता था उसे सर्वत्र स्वीकृति मिल जाती थी। कहने का तात्पर्य कि वहाँ ज्ञान को समेकित रूप में, निर्पेक्ष भाव से लिया जाता था। अगर कोई सिद्धांत तर्क के आधार पर ठीक नहीं बैठता था तो उसे वितण्डा या बकवास कह कर खारिज कर दिया जाता था।

चौथी महत्त्वपूर्ण बात यह थी कि यहाँ धार्मिक के साथ ही साथ धर्मनिरपेक्ष ज्ञान को एकीकृत कर पढ़ाया जाता था। सम्पूर्ण भारतीय परंपरा में ज्ञान को समग्रता में देखा जाता

था। उससे ज्ञान के उद्देश्य में स्पष्टता बनी रहती थी। आज की शिक्षा उद्देश्यविहीन और अंधी होती जा रही है। यह मनुष्य को मनुष्य नहीं बनाकर उसे मशीन बनाने में लगी है। अगर उस समय के विषयों को देखें तो यहाँ तत्कालीन ज्ञात सभी विषयों यथा शब्दविद्या, धातुविद्या, आयुर्वेद, हेतुविद्या, अध्यात्मविद्या, शिल्पविद्या के अतिरिक्त तर्कशास्त्र के सभी बौद्ध और गैर-बौद्ध विद्या को पढ़ाया जाता था। अध्ययन का तरीका तुलनात्मक, तार्किक तथा वाद-विवाद और परिचर्चा पर आधारित होता था। प्रतिदिन सैकड़ों व्याख्यान चलते रहते थे। उस समय के आचार्यों और उनकी ज्ञान परंपरा जो कुछ आज मौजूद है, उसे देखकर सुखद आश्चर्य होता है कि उनके चिंतन में कितनी महान साधना छुपी होती थी। चूँकि अध्ययन-अध्यापन का उद्देश्य सत्य का साक्षात्कार करना होता था; अत: सभी परंपराओं के ज्ञान को खंगाला जाता था। इसमें एक बात सबसे महत्त्वपूर्ण थी कि एक उच्चतम कोटि के विद्यार्थी का ही चयन किया जाता था। इसके लिए प्रवेश परीक्षा कठोर थी। प्रति दस में से औसतन एक विद्यार्थी ही चुना जाता था। प्रति सात विद्यार्थी पर एक शिक्षक होते थे।

पाँचवी बात जो ध्यान देने की है वह यह कि विद्या को संरक्षित करने का भी पूरा प्रबंध था। प्रत्येक विद्यार्थी को पुस्तकों की पांडुलिपियाँ तैयार करनी होती थी। लाइब्रेरी किसी भी शिक्षण संस्थान की आत्मा होती है। नालंदा विश्वविद्यालय की महानता की बात पुस्कालय की चर्चा के बगैर अधूरी मानी जायेगी। श्वानच्वाँग ने लिखा है कि विद्यार्थियों के लिए यहाँ धर्मगंज नामक एक विशाल पुस्तकालय था। इत्सिंग ने स्वयं चार सौ ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार की थीं, जिसमें लगभग पाँच सौ श्लोक थे। रत्नसागर, रत्नोदधि और रत्नगंजम नामक तीन भवनों से मिलकर एक भव्य पुस्तकालय था जिसमें जिज्ञासु विद्यार्थियों की प्राय: भीड़ होती थी।

पुस्तकालय की चर्चा आज इसलिए ज्यादा प्रासंगिक हो गयी है क्योंकि समय की आपा-धापी में आज हमें पुस्तकों के महत्त्व का पता ही नहीं चल पा रहा है। आज के शिक्षक पढ़ना-लिखना भूल गये हैं। जब शिक्षक ज्ञान से विहीन होंगे तो आगे की पीढ़ियाँ ज्ञान से युक्त कैसे होंगी? एक शिक्षक जो ज्ञान से प्रेम नहीं करता वह बच्चों में ज्ञान के प्रति प्रेम नहीं उत्पन्न कर सकता। शिक्षक के साथ ही साथ समस्त समाज को नयी पुस्तकों का अध्ययन कर अपने मस्तिष्क को अवश्य ताजा रखना चाहिये। शिक्षकों को तो खासकर मस्तिष्क को तरोताजा तथा रचनात्मक रखने का यही तरीका है और ज्ञान की यह क्षमता दूसरों को ज्ञान सम्प्रेषित करने की क्षमता से सम्पन्न होनी चाहिये। बात यहीं नहीं रूकती। एक शिक्षक तो ज्ञान के द्वारा शिक्षा दे सकता है परन्तु प्रेरणा का संचार तो केवल उसके व्यक्तित्व से ही होता है। आज पुस्तकालय का स्वरूप बदल गया है। आज यह वर्चुअल स्वरूप में आ गई है। पुस्तकें कम्प्यूटर के स्क्रीन पर चलते शब्द हैं न कि कोई निर्धारित शब्द। परन्तु स्तरीय पुस्तकों का पठन-पाठन कुछ और ही बात है। इन्टरनेट पर अपुष्ट तथा पूर्वाग्रहों से युक्त बातें डाली जाती हैं। हम उनका प्रयोग कर कौन-सी मौलिक चिंतन और शोध की परंपरा डालने चले हैं? थोड़ा रूककर सोचना पड़ेगा। पूरे देश में शिक्षा के उस अलख को जगाना पड़ेगा, जो कभी नालंदा ने जगाया था। पुस्तक संस्कृति को एक अभियान बनाकर उसे जन-मानस में स्थापित करना होगा।

नालंदा के संदर्भ में एक बात और बौद्ध और जैन परंपरा में संघों या कहें तो विहार का निर्माण होते थे जहाँ समग्र रूप से चिंतन-मनन किये जाते थे। गुरुकुल परंपरा अलग थी। वहाँ गुरु के यहाँ ही अक्सर अध्ययन-अध्यापन का कार्य होता था। इसीलिए भारतीय अर्थ में विश्वविद्यालय की परंपरा गैर-हिन्दू परंपरा में ही मिलती थी। परन्तु नालंदा तो इसकी पराकाष्ठा ही थी। यहाँ बौद्ध, जैन और हिन्दू परंपरा का मतलब कोई धर्माधता नहीं थी। ये तो हमने बाद में जोड़ा है। नालंदा में शिक्षा का उद्देश्य औपनिषदिक् ही था, "या विद्या सा विमुक्तये"। सभी तरह के पूर्वाग्रहों, अहंकारों, अंधविश्वासों, राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि विकारों से मुक्ति। धर्म का ज्ञान सत्य के साक्षात्कार के लिए था ताकि सत्य के अंतिम रहस्य को समझा जाए, हमें ज्ञानी, जबाबदेह और स्वस्थ मानव बनाए।

अत: नालंदा विश्वविद्यालय न केवल भारतीय गुरुकुल और बौद्ध-विहारों की शिक्षण व्यवस्था का प्रतीक था बल्कि यह आधुनिक पाश्चात्य जगत में विश्वविद्यालय के जो मायने हैं उनके भी अनुरूप था। यह भारतीय और पाश्चात्य शिक्षा-प्रणाली का समन्वित रूप था। इसीलिए आज हमें नालंदा मॉडल ऑफ एजूकेशन की जरूरत पुन: आ पड़ी है। एक और खासियत थी इस विश्वविद्यालय की कि यह पूर्णतया आवासीय विश्वविद्यालय था। विश्वविद्यालय कालान्तर में बाहरी स्रोताओं के लिए भी खोल दिया गया था। व्याख्यान सुन समझकर अपना ज्ञान वर्द्धन करने वालों का संघ तैयार हो जाता है जो आजीविका का गुर भी सीखते और सदाचार भी सीखते थे। उन दिनों नौकरियों या आजीविका के लिए अध्ययन-अध्यापन नहीं किये जाते थे। अत: नालंदा विश्वविद्यालय को उस दृष्टि से नहीं देखा जाये। ठीक है आज आजीविका वाली शिक्षा भी जरूरी है। परन्तु यह विचारना जरूरी है कि आखिर शिक्षा क्या है?

□□□

प्रकाशन के दुष्चक्र में किताबों का बाजार, मत पूछो कि कौन-कौन है जिम्मेवार!

अशोक कुमार पाण्डेय

बचपन में तमाम पत्रिकाएँ आती थीं घर पर। मर्दों के लिए माया, धर्मयुग वगैरह और औरतों के लिए सरिता, गृहशोभा वगैरह। अब औरतों और मर्दों के लिए अलग-अलग किताबों की वजह क्या थी यह तो बहुत बाद में समझ आया। लेकिन अभी औरतों को औरत तथा मर्दों को मर्द बनाए रखने वाली इनकी भूमिकाओं पर नहीं सरिता में छपने वाले एक विज्ञापन पर बात करना चाहता हूँ जो पूछता था कि अगर आप कपड़े, खाना वगैरह-वगैरह मांग कर नहीं प्रयोग करते तो किताब मांग कर क्यों पढ़ते हैं? मजेदार बात यह कि सरिता की 'मांग' हमारे उस तीस किरायेदारों वाले मकान में खूब थी, इतनी कि मकान मालिक भी मांग कर ही पढ़ते थे। विश्वविद्यालय में आया और साहित्य में रुचि बढ़ने लगी तो पता चला कि यह एक राष्ट्रीय गुण है हमारा। कुछ कवि, रचनाकार थे जो अपनी किताबें ही नहीं, जिन पत्रिकाओं में छपते थे उनकी भी कई प्रतियाँ या फिर फोटोकापियाँ लिए भूजे की तरह बांटते फिरते थे। बहुत दिनों बाद जब मेरा संकलन आया तो एक सीनियर कवि ने कोई नब्बे नाम-पतों वाली सूची दी और कहा कि इन सबको भेज दो। मैंने बड़ी मासूमियत से कहा कि मुझे तो बस ग्यारह कापी मिली है (यह नहीं कह पाया कि उसमें से एक आप साधिकार ले ही चुके हैं) तो बोले, अबे मूरख हो का, खरीद के भेजो। नहीं तो चर्चा कैसे होगी! खैर न मैंने भेजी, न चर्चा हुई। कम से कम किसी 'बड़े आलोचक' ने तो नहीं की, लेकिन यह मुफ्तखोरी तो खैर क्या रुकेगी? सवाल यही है कि अंग्रेजी की मंहगी किताबें खरीद कर पढ़ने वाला हमारा बुद्धिजीवी वर्ग हिंदी की किताबें मुफ्त में क्यों पाना चाहता है? यह मानसिकता बनी कैसे? और यह सवाल इतना सा नहीं है, इसकी जड़ें भी गहरी हैं और इसके प्रभाव भी बहुत व्यापक हैं।

शुरुआत एक पुराने किस्से से करता हूँ। केदार नाथ अग्रवाल हिंदी के बेहद महत्वपूर्ण कवि हैं। व्यापक पैमाने पर पढ़े जाने वाले। जाहिर है उनके जीवनकाल और बाद में भी उनकी किताबें पढ़ी गयीं होंगी, खरीदकर भी। उनकी सारी किताबें इलाहाबाद के एक प्रकाशक ने छापी थीं, जिनसे उनके व्यक्तिगत दोस्ताना सम्बन्ध थे, और अपने ऊपर आयोजित एक कार्यक्रम में उन्होंने बताया था कि प्रकाशक महोदय हर साल जन्मदिन पर उन्हें एक जोड़ा धोती-कुर्ता देते हैं। बस। न रायल्टी, न हिसाब-किताब, न कोई लिखत-पढ़त। निजी संबंध, भैया-बाबूजी, थोड़ी मजबूरी, थोड़ा लालच, थोड़ी छपास, थोड़ी रिरियाहट, थोड़ी मुफ्त किताबें अपनी यहाँ यही हिंदी लेखक और प्रकाशक के बीच का आम रिश्ता है जो वर्षों से चला आ रहा है। लगातार लेखकों के हिस्से की

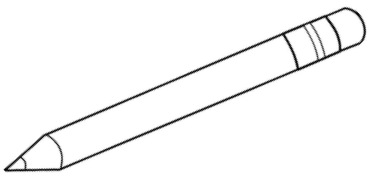

मजबूरी, छपास, रिरियाहट बढ़ती गयी है और प्रकाशक के हिस्से की चालाकी, होशियारी, कपट और लालच। जिसे प्रोफेशनलिज्म कहते हैं, वह तो जैसे पूरे दृश्य से अनुपस्थित है। जहाँ लेखक संपादक है वहां लेखकीय पारिश्रमिक नहीं मिलता। जो लेखक भी प्रकाशक बने वे शुरूआती तेवरों के बाद उस राह पर तेजी से भागते हुए सबसे आगे निकल पड़े और धीरे-धीरे हालात यहाँ तक पहुँचे कि यशाकांक्षी लेखक, धनाकांक्षी प्रकाशकों को पांडुलिपियों के साथ छपाई का खर्च भी देने लगे। जाहिर है कि इसके साथ तमाम लेखकों की अच्छी पांडुलिपियाँ भी बिना ध न दिए छप रही हैं, कुछ लिखत-पढ़त भी कुछ जगहों पर हो जाती है, पत्रं-पुष्पं जैसी ही नहीं, बड़ी रायल्टी राशियाँ भी कुछ लोगों को मिलती ही हैं, लेकिन किताबें सारी की सारी, हर तरह की, एक ही स्टाल पर होती हैं। एक जैसे रैक्स पर, एक जैसे फ्लैप्स के साथ, और अर्थशास्त्र के प्रसिद्ध सिद्धांत 'खोटा सिक्का खरे सिक्कों को बाजार से बाहर कर देता है' के अनुपालन में खोटे प्राध्यापकीय और अफ़सरी सिक्कों से भरा हिंदी का पुस्तक बाजार पाठक के संसार से बाहर होता चला जाता है। कभी मेरे कवि मित्र मनोज झा ने बेहद खिन्न स्वर में कहा था मुझसे कि आज हिंदी में शेक्सपियर भी पैदा हो जाएँ तो बिना पुश के उनकी भी कोई पूछ नहीं होगी।

यह दुश्चक्र यहीं नहीं थमता। अंग्रेजी का एक अच्छा उपन्यासकार या नॉन-फिक्शन लेखक अपनी एक किताब से इतना कमा लेता है कि दूसरी किताब के लिए तैयारी का कुछ वक्त निकाल ले। किताब की योजना के साथ उसे अच्छी-खासी धनराशि अग्रिम भी मिल सकती है जिससे वह अपना शोध पूरा कर सके। हिंदी में जब छपना ही मुहाल हो तो इसकी कल्पना भी संभव नहीं। तो उसे अपनी तनख्वाह से किताबें खरीदनी होती हैं, जो कुछ शोध के लिए यात्रा-वात्रा करनी है, उसका खर्च करना पड़ता है और यह सब प्रकाशन के बाद भी वापस आएगा, इसकी कोई गारंटी नहीं। तो उस स्तर का न तो शोध हो पाता है न मेहनत. क्या आश्चर्य है कि हिंदी में दर्शन, इतिहास, विज्ञान, अर्थशास्त्र जैसे विषयों पर किताबें न के बराबर हैं, और जो अकादमिक शोध प्रबंध प्रकाशित करवाए गए हैं वे अक्सर निहायत अपठनीय हैं। लेकिन इस दुश्चक्र की अगली कड़ी, इन्हीं किताबों की पुस्तकालयों और सरकारी खरीद में भारी उपयोगिता है। हार्डबाउंड किताबों से भरी हिंदी की दुनिया के साहित्यिक भ्रष्टाचार का सबसे बड़ा केंद्र। किताबों का असली सामूहिक शवदाह गृह जिसमें अपनी-अपनी किताबें पहुँचाने के लिए प्रकाशक सर्वदा आतुर रहता है। लागत से चार गुना रखा दाम, रायल्टी से पूरी तरह मुक्ति, किताब के किसी भी तरह के व्यापक प्रचार की जिम्मेदारी से मुक्ति, अक्सर लेखक से प्रकाशन की बड़ी कीमत की वसूली और फिर पुस्तकालयों में कमीशन के कुछ पर्सेंटेज देकर किताबों की थोक बिक्री। लगातार अमीर होते जाते प्रकाशक का गणित इतना मुश्किल भी नहीं है। और इन सबके बाद भी आदत का मारा पाठक भी खरीदता ही है कुछ किताबें, जहाँ से शुरू किया वह आपको याद हो तो सुध ीजनों की निगाह तक अपना लिखा पहुँचा कर पांच सौ से दो हजार तक छपने वाली पत्रिकाओं में चर्चा को लालायित लेखक 'बिचारा' अपनी किताबों का सबसे बड़ा ग्राहक होता है। चालीस फीसदी लेखकीय छूट का इकलौता सम्मान पीठ पर लादे वह अक्सर इतनी किताबें खरीदता है कि रायल्टी (अगर बनती है तो) भी ऋणात्मक अंकों में हो जाती है। सम्मान पर याद आया कि सम्मानों के लिए भी तो उसे किताब के छपने और फिर उसके अति-सुधि जनों तक पहुँचने का इंतजार होता है। वैसे एक प्रकाशक महोदय खुद एक सम्मान जूरी में शामिल हो और पहली ही बार में अपनी एक लेखिका को, जो फेसबुक पर हिन्दुस्तान को इजराइल बनाने का नारा दे और करवा चौथ के फोटो लगा प्रगतिशील तथा नारी विमर्श के पुरोधाओं की विशेष सूची में शामिल हुई हैं, पुरस्कार देकर उनकी यह असुविधा दूर कर चुके हैं। ईश्वर अगर कहीं भी है तो वह हर लेखक को ऐसे प्रकाशक दिलाये। खैर, पुरस्कार चर्चा फिर कभी, अभी पुस्तक चर्चा। तो लाभ के इतने शुद्ध गणित के आगे देश भर में पाठकों तक

कुछ लोग अगर ब्लॉग्स और अंतरजाल को किताबें पाठकों तक पहुँचाने के लिए उपयोग कर रहे हैं तो यह निश्चित रूप से एक शानदार कोशिश है, लेकिन इसके अतिउत्साही पाठक जो ब्लॉग्स को किताबों का विकल्प समझ रहे हैं, वह ये भूल जाते हैं कि वह पूरा का पूरा स्पेस किसी गूगल, किसी फेसबुक या किसी अन्य की मिल्कियत है जो माउस के एक क्लिक से वह सब एक क्षण में नष्ट कर सकता है जबकि किताब एक बार आपके घर आ गयी तो फिर आपकी हो जाती है।

किताबें पहुँचाने, गुणवत्ता के आधार पर उनके चयन, विज्ञापन के इस जमाने में मुख्यधारा के विज्ञापन केन्द्रों तक इन किताबों की सूचना पहुँचाने वगैरह के झंझट में प्रकाशक क्यों पड़े और क्यों लेखक गुणवत्ता की तलाश में वर्षों शोध करे? इस क्यों का जवाब किसी के पास नहीं है, परिणाम है- एक नॉन-प्रोफेशनल, बेहद संकुचित, गुणवत्ता के किसी मानक से हीन और उपभोक्ता के प्रति उदासीन पुस्तक का पूर्ति बाजार।

अब मांग क्षेत्र पर भी नजर दौड़ा लें। हिंदी का पाठक अव्वल तो ऊपर दी गयी विशिष्टताओं के आलोक में यह जान ही नहीं पाता कि कौन सी किताबें छपी हैं, कौन से लेखक लिख रहे हैं और उन्हें कैसे खरीदा जा सकता है। जो अंतर्जाल पर नहीं हैं उन्हें अब फ्लिपकार्ट जैसे अंतर्जालीय पुस्तक विक्रेताओं की सुविधा नहीं और छोटे शहरों तथा कस्बों को छोड़िये बड़े शहरों में भी किताबों की दुकानें कहीं नहीं। ले-दे के कुछ पुस्तक मेले और कुछ बच गयीं किताबों की दुकानों के भरोसे वह जिन समीक्षाओं को पढ़कर या पुरस्कार सूचनाओं से प्रभावित होकर किताबें खरीदता है, अक्सर उसके बाद छला हुआ महसूस करता है और ऐसे एक-दो धोखों के बाद या तो खरीदना बंद कर देता है या फिर स्थापित नामों के सुरक्षित कोटरे में चला जाता है। फिर देश भर में अंग्रेजी माध्यम के स्कूलों के उत्पाद ही अक्सर वह मध्यवर्गीय जमात बनाते हैं जिनसे पाठक निकलते हैं। इन स्कूलों का एक बड़ा योगदान यह है कि इन्होंने काम-चलाऊ भाषा (हिंदी और अंग्रेजी दोनों) को मानक भाषा से प्रतिस्थापित कर दिया है। तो उस भाषा के साथ चेतन भगत तो पढ़े जा सकते हैं, कुमार अनुपम या नीलेश रघुवंशी नहीं। फिर बाजार के पूरे तंत्र में एक पुर्जे की तरह सेट होकर पूंजीपतियों का लाभ बढ़ाने के उद्देश्य से प्रशिक्षित किये गए उच्च मधयवर्गीय युवा हों या फिर सरकारी स्कूलों में पुस्तकालय छोड़िये, अक्सर भवनहीन गरीब छात्र, दोनों के कोर्स से इतर किताबों से अपरिचित रह जाने की माकूल वजहात हैं। इस कोख में लगभग हर शहर में मरते हुए पुस्तकालयों की खाज और जोड़ लीजिये तो समाज की पुस्तक-विमुखता का एक बड़ा परिदृश्य आपके सामने खुल जाएगा। हिंदी समाज वैसे तो कभी बहुत पुस्तकोत्सुक समाज रहा नहीं, जिसकी मिसाल आपको तब मिल जायेगी जब आप मध्यवर्गीय परिवारों में पुस्तकालय की तलाश करेंगे, इन हालात ने जो थोड़ी-बहुत उत्सुकता जग सकती थी उसे भी खत्म करने की साजिश मुकम्मल करने की तैयारी कर ली है। यहाँ अन्यमनस्क पूर्तिकर्ता की पूर्ति के बरअक्स अनजान उपभोक्ता की मांग मिलकर उस दुश्चक्र को परिणिति तक पहुँचा देती हैं।

इस दुश्चक्र को तोड़ने की कोशिशें भी हो रही हैं। तमाम वैकल्पिक प्रकाशक उचित मूल्य पर बेहतर किताबें छापने की और उन्हें पाठकों तक पहुँचाने की कोशिश कर रहे हैं। इन तमाम मुश्किलात के बावजूद वे एक हद तक सफल हो भी रहे हैं, लेकिन जिस तरह का मकड़जाल व्यवस्था ने बना दिया है उसे भेदना आसान तो कतई नहीं। पर कोशिश तो करनी ही होगी। कुछ लोग अगर ब्लॉग्स और अंतरजाल को किताबें पाठकों तक पहुँचाने के लिए उपयोग कर रहे हैं तो यह निश्चित रूप से एक शानदार कोशिश है, लेकिन इसके अतिउत्साही पाठक जो ब्लॉग्स को किताबों का विकल्प समझ रहे हैं, वह ये भूल जाते हैं कि वह पूरा का पूरा स्पेस किसी गूगल, किसी फेसबुक या किसी अन्य की मिल्कियत है जो माउस के एक क्लिक से वह सब एक क्षण में नष्ट कर सकता है जबकि किताब एक बार आपके घर आ गयी तो फिर आपकी हो जाती है। ये केवल ज्ञान ही नहीं बढ़ातीं एक समाज की तार्किक और सहिष्णु बने रहने में भी मदद करती हैं। इन्हें बचाना मनुष्यता को बचाना है...तो इसे किसी प्रकाशक या सरकार के भरोसे नहीं छोड़ा जा सकता.

□□□

किताबें और मैं

चन्द्रकान्त देवताले

मैं कोई बड़ा पढ़ाकू नहीं और मेरे मन में किताबों को लेकर कोई उलझन भी नहीं। पर यह तो है कि बचपन में ही किताबें सुनते-देखने-पढ़ने का साधारण परिवेश मिला। कुछ इस तरह कि पिताजी **मानस**, एक भाई **साकेत** का आठवाँ सर्ग माँ को सुनाते और मैं खेलते-कूदते शरीक रहता। छह-सात वर्ष की उम्र में (सन् 42-43) स्वतंत्रता आंदोलन और दूसरे विश्वयुद्ध को अपनी तरह से कुछ-कुछ समझ रहा था। हम कुछ बच्चे 'अंग्रेजों, भारत छोड़ो, यह देश हमारा है' का नारा बड़े ज़ोर-शोर से लगाते थे। सबसे बड़े भाई, जो बीकॉम के छात्र थे, 42 में छात्र आंदोलन में गिरफ्तार हुए और दस माह इंदौर की केन्द्रीय जेल में रहे। प्रजामंडल की गतिविधियों, पोस्टर-पर्चे का माहौल था हमारे घर में। कई बार रात में ब्लैक-आउट और सुबह लाल गेहू-जुआर के लिए कंट्रोल की लाइन में खड़े होने का सब कुछ भी अब किताब की तरह लगता है।

उस वक्त की मामूली बातें, जिन्हें तब कोई महत्त्व नहीं दिया, आज सोचता हूँ तो लगता है उनकी कितनी गहरी छाप पड़ी है। इसे मैं आज अपने जीवन, सरोकार और अपनी कविता के भीतर महसूस कर रहा हूँ। इसी के साथ बचपन के तीन प्रत्यंगों को भूल नहीं सकता। मैं सात-आठ साल का रहा होऊँगा। मेरे पास एक खाकी टोप था। उसे ले जाकर मैंने 'विदेशी चीज़ों की होली' में फेंककर जला दिया तो बड़े भाई के मित्र कवि प्रहलाद पांडेय 'शशि' ने मुझे लाड़ से अपना कविता संग्रह उपहार में दिया–लिखकर 'चंद्रकांत तूफ़ान को यह तूफ़ान प्यार के साथ।' मेरी शैतानियों को देखकर ही उन्होंने अपने कविता संग्रह का शीर्षक मुझ पर चस्पा किया होगा। यह मेरी किसी किताब से पहली मुठभेड़ थी। शशि क्रांतिकारी कवि थे। '*अपनी गति में लिए युगांतर, लो रोको तूफ़ान चला मैं*' पंक्ति और कविता का मैंने पता नहीं कितनी बार पाठ किया होगा। इस किताब का मूल्य सिर्फ़ छह आना था, लेकिन इसी ने मुझे किताबों को छाती से चिपकाना सिखाया। दूसरा प्रसंग एक कविता का है– सियारामशरण गुप्त की '*एक फूल की चाह*'। कविता में एक दलित बच्ची देवी के मन्दिर का एक फूल चाहती है और कोशिश करने पर उसके दलित पिता की सवर्ण लोग दम-दम-कुटाई कर देते हैं। बहुत बाद में मेरी दो-तीन कविताओं में मैंने इस अन्याय-असमानता-यंत्रणा की अनुगूँज सूनी। तीसरी घटना भी किताब नहीं, एक कविता ही है बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' की, जिसकी दो पंक्तियों के बूते मैं कई-कई ज़िंदगी ईश्वर

रमेश बक्षी ने सार्त्र का उपन्यास-त्रयी और सुदीप बनर्जी ने 'वॉट इज़ लिट्रेचर' तथा कामू की नोटबुक पढ़ने को दी। विष्णु खरे ने निकोनार पार्रा का कविता संग्रह अपनी पहली विदेश यात्रा के दौरान भेजा।

विरोधी प्रचार कर सकता हूँ– '*लपक चाटते जूठे पत्ते जिस दिन देखा मैंने नर को, उस दिन सोचा क्यों न लगा दूँ आग आज मैं दुनिया भर को।*' इतना ही नहीं, आगे है– '*क्यों न टेंटुआ गसका जाए स्वयं जगपति का।*' इसके साथ ही प्रेमचंद की कहानियों की आँच। इन सबने मेरे लड़कपन की रुचियों को आकार दिया और तपाया। शब्द, संस्कृति के साथ-साथ जीवन को देखने समझने के झरोखे बनाए। बाद का जैसा भी जीवन, लेखन और सोच रहा, उसकी जमीन यही है।

फिर सन् 50-51-52 के दौरान बड़वाह की माध्यमिक कक्षाएँ, जहाँ सप्ताह में एक दिन, एक घंटे का लाइब्रेरी का पीरियड होता था और हमारे हिन्दी वाले सर कहानी-कविता आदि की किताबें पढ़ने की प्रेरणा देते थे।

इंदौर में उच्च शिक्षा के दौरान मुझे जैसे किताबों का घर ही मिल गया। 53 से हमारा अधिकांश समय घर के निकट की श्वेतांबर जैन लाइब्रेरी में ही बीतने लगा। यहाँ प्रेमचंद, शरतचंद्र, रेणु, जैनेंद्र, यशपाल के कथा साहित्य की हाई स्कूल छात्र की ग्रहण क्षमता के साथ बाँचा। साथ ही दॉस्तोएव्स्की, चेख़व, टॉलस्टॉय की किताबें भी हाथ आती रहीं। घर से कुछ दूर नवयुग साहित्य सदन उन दिनों इंदौर में पुस्तकों की प्राप्ति का एकमात्र स्थान था। मालिक धूतभैया साहब हर 10-15 दिन में आवाज लगा देते–चंद्रकांत, कुछ नई किताबें आई हैं। और यहाँ हम जाकर उधार भी किताब ले सकते थे।

55 में महाविद्यालयी वाद-विवाद प्रतियोगिता में महात्मा गांधी का 'हिंद स्वराज' और विनोबा की 'गीता प्रवचन' द्वितीय पुरस्कार में प्राप्त हुईं। 'हिंद स्वराज' ने सोचने के लिए स्वतंत्रता, संप्रभुता, देशीयता और अपने समय, समाज, गाँव, जीवन की धड़कन के वे संकेत दिए, जो आज के भूंमडलीकरण और बाज़ारवाद की चपेट से अभी भी हमें बचा सकते हैं। ऐसा कभी नहीं हुआ कि एक या दो किताबों ने जीवन की दिशा मोड़ दी हो। समय-समय पर प्रभाव पड़ते रहे। जैसे हाशिये के एक दरख़्त पर बारिश होती रहती है। भुवनेश्वर का एकांकी 'तांबे का सिक्का', अज्ञेय की कहानी 'रोज़' और इसके बाद बिन मिले मुक्तिबोध से हुई मुलाकात, उनकी मित्रमंडली के सदस्यों के माध्यम से। अनिल कुमार ने मुक्तिबोध की कई रचनाएँ न केवल पढ़ने को दीं, उन पर हमने विचार-विमर्श भी किया। 64 के बाद मुक्तिबोध की डायरी और कविताओं का गहरा प्रभाव मैंने महसूस किया। 'बुद्ध की वाणी' को मैं बार-बार पढ़ता था। कुछ उसी तरह, मुक्तिबोध से भी मुझे अपने वक्त, जीवन, साहित्य, समाज और व्यवस्था को समझने के लिए निर्देश मिले।

फिर एकाएक पत्र-पत्रिकाओं की दुनिया के बीच अपने को पाया। 'ज्ञानोदय', 'धर्मयुग' से तो रिश्ता अपनी कविताओं के कारण जुड़ ही गया था, किंतु होल्कर कॉलेज के वाचन कक्ष से मुझे 'कवि', 'कल्पना', 'युगचेतना', 'निकर्ष', मराठी की 'सत्यकथा', बाँग्ला की 'देश' और अंग्रेजी की 'एनकाउंटर', 'लंडन-मैग्ज़ीन', 'पोएट्री' और 'टाइम्स लिटररी सप्लीमेंट' के अंक थोक में मिल गए। इन पत्रिकाओं के साथ-साथ 'कम्यूनिस्ट पार्टी का घोषणा-पत्र' भी बार-बार पढ़ने का मन होता रहा। लोर्का का 'लिप्सी बैलेड्स' तो झोले में लेकर घूमता था– कवि रामविलास शर्मा (डॉक्टर नहीं) गवाह रहे।

फिर मेरी प्रोफ़ेसरी और तबादलों का सिलसिला। इसके साथ ही दोस्तों द्वारा किताबों की रसद मुहैया कराई जाना। सबसे पहले रमेश बक्षी ने सार्त्र का उपन्यास-त्रयी और सुदीप बनर्जी ने 'वॉट इज़ लिट्रेचर' तथा कामू की नोटबुक पढ़ने को दी। विष्णु खरे ने निकोनार पार्रा का कविता संग्रह अपनी पहली विदेश यात्रा के दौरान भेजा। चंद्रकांत पाटील ने आज तक किताबें भेजने का सिलसिला जारी रखा है, जिनमें अरुण कोल्हटकर, नामदेव ढसाल, दिलीप चित्रे, श्याम मनोहर की पुस्तकों से लेकर दलित साहित्य की महत्त्वपूर्ण रचनाएँ शामिल हैं। वी कुमार ने स्टॉकहोम से शिम्बोर्स्का, नेरूदा, इलियास कॉनेटी, काफ़्का, मेंडलश्टयाम, ब्रेख़्त, गुंटर ग्रास की किताबें बरसों नियमित भेजीं। साथ ही 'इंडैक्स ऑन सेंसरशिप' और 'एम पी टी' पत्रिकाएँ मुहैया कराईं। क्षमता अनुसार इन बीहड़ इलाकों से गुजरा हूँ।

आज भी बुद्ध का 'धम्मपद', कॉनेटी का 'ह्यूमन प्रोविंस', ग़ालिब के ख़त और हमज़ातोव का 'मेरा दाग़िस्तान' (दोनों भाग) से जीने का सहारा और अकेलेपन में आत्मीय-विश्वसनीय मुलाकातों का अहसास बना रहता है। हमारे इस विध्वसंक वक्त में हरिशंकर परसाई और रघुवीर सहाय समग्र रूप में लोकतंत्र, न्याय और समानता के लिए कुछ न कुछ कहते, चेतावनी देते हर मोड़ पर दिखाई देते हैं।

□□□

मेरी कहानी

यशस्वी वर्मा

मेरे कई नाम हैं,
पर मुझे पुकारना आसान है;
मेरे कई पते हैं
पर मुझे ढूँढ़ना मुश्किल नहीं।
मैं बोलती नहीं,
पर मुझे समझना मुश्किल नहीं।
कहानियाँ सुनाती हूँ मैं.....पर बेजुबान हूँ।
कुछ ऐसी बिडम्बना में जीवन बिताती हूँ।
कौन कहता है जीने के लिए जान चाहिए!
मैं तो चुप्पी में अपनी दास्ताँ सुनाती हूँ।
किताब हूँ मैं.....।
मैं भविष्य बताती हूँ, इतिहास सुनाती हूँ
कौन कहता है किताबें लिखी पढ़ी जाती हैं!
मैं तो छाप छोड़ जाती हूँ, समाज बदल जाती हूँ।
मेरे पन्नों में हिटलर की क्रूरता दर्ज है...
एक छोटी लड़की की हस्तलिपि में-
बुधवार, 8 जुलाई, 1942

प्रिय किट्टी,
ऐसा लगता है रविवार से आज तक सालों बीत चुके हैं। दुनिया पूरी उलट चुकी है। पर पापा कहते हैं कि हमारा जिन्दा होना ही सबसे महत्वपूर्ण है...- एन्नी फ्रैंक

रात के साये का डर, इन्सानियत की क्रूरता... मैं सब बयाँ करती हूँ।
मेरा रोम-रोम दहल जाता है,
जब इन्सानियत के कातिल का किस्सा, मैं सुनाती हूँ।
समाज सुधारक हूँ-
याद दिलाती हूँ कि मानवता का क्या अर्थ है?

पर उफ! दूसरी तरफ मैं, हिटलर की गोद में
मीन कैम्फ बन जाती हूँ।
समाज को याद दिलाती हूँ-
कि समाज ही क्रूरता को क्रूर बनाता है।

हाँ, सालों से चलती आ रही एक किताब हूँ...बेजुबान
हूँ...पर दास्ताँ सुनाती हूँ।
एक कातिल का रहस्य हूँ,
एक कैदी की पहचान हूँ, मैं।
कुल-वंश नहीं देखती,
जाति-धर्म नहीं समझती मैं,
बस एक इन्सान द्वारा दूसरे इन्सानों के लिए
शब्दों, यादों और सीखों का संग्रह हूँ।
फिल्मों की कहानी-
न जाने सच्ची है या झूठी,
मैं तो सच्चाई का प्रमाण हूँ।
मुझे हर बार पढ़कर,
एक अलग मतलब निकल सकता है...
मैं तो स्वयं तुम्हारी व्याख्या हूँ।

मेरा कारवाँ चलता रहेगा,
रोज कहानियाँ दर्ज करती रहूँगी;
सच को झूठ, झूठ को सच करारती रहूँगी,
मानव को मानवता सिखाती रहूँगी।
तुम मुझे कल खोलो न खोलो
मैं अपना कारवाँ बढ़ाती चलूँगी।
कल का राज तुमसे छिपाती चलूँगी,
भविष्य का पर्दाफाश करती चलूँगी।
मुझमें अंकित हैं-
नास्त्रेदमस के कुछ शब्द,
सुनकर जिन्हें बदन में सिहरन सी दौड़ जाती है:
'चालीस साल तक इन्द्रधनुष नहीं दिखेगा
चालीस साल तक वह रोज दिखेगा
सूखी धरती सूखती जाएगी,
और बाढ़ आएगी।'
दुनिया का अंत हो, न हो
मैं कल का रहस्य सुनाती रहूँगी।
सभ्यता हूँ, संस्कृति हूँ
पर विज्ञान का हाल बताती चलूँगी।
बेजुबान हूँ...पर कहानी सुनाती चलूँगी।
चलचित्र नहीं मैं, पर नाटक दिखाऊँगी।
विलियम शेक्सपियर के शब्दों में
रोमियो को जूलिएट से मिलवाती रहूँगी।
मैं तालिबान की हिंसा में पलती
'मरियम' हूँ-
जिसे खालिद होसैनी ने बयां किया है, कुछ इस तरह-
वह बच्चा निर्दोष था...
और आज-
वैसे ही काफी लोगों की जानें जा चुकी थीं।
लैला ने अपनी आँखों से देखा था-
मरते हुए बहुत सारे बच्चों को।

मैं जवाब हूँ उन प्रश्नों का-
जिनका उत्तर देना असंभव है।
मुँह जबानी याद है मुझे ढेरों कहानियाँ-
खिलाड़ियों की, राजनेताओं की,
कलाकारों की, महात्माओं की
वीरांगनाओं की, रानियों की, जान लेती धाय माँ की,
जान देती माँओं की।
किताब हूँ, बेजुबान हूँ
कुछ अजीब हूँ.....पर नखरे दिखाती हूँ।
नाम.....! मैं तो बेनाम ही हूँ, पर
सदियों का किस्सा सुनाती हूँ।
दिलों पर छाप छोड़ जाती हूँ
जब-तब समय बदल जाती हूँ।

छात्रा, कक्षा 9 बी
सरदार पटेल विद्यालय
लोदी एस्टेट, नई दिल्ली- 110003

□□□

पुस्तक संस्कृति में साहित्यकार की भूमिका

डॉ. सुनील परीट

''कल-आज-कल हो कुछ भी
पुस्तक महिमा न कभी कम हुई
पुस्तक बन गए साहित्य सागर
बहती चली गई है न थम गई।''

अरबी कहावत है कि, 'पुस्तक जेब में रखा हुआ बगीचा है।' पुस्तक की महत्ता बहुत बड़ी है, पुस्तकें कोई गुरु से कम नहीं होतीं। पुस्तकें ज्ञान का भण्डार होते हैं। यह देखा जा रहा है प्राचीन काल से भी अधिक मात्रा में आज पुस्तकें लिखी जा रही हैं। पुस्तकें हर समय हमें एक ज्ञान देती हैं, हमसफर बनी रहती हैं। पुस्तकें अनुभूति की आगार होती हैं, पुस्तकों को सच्चे साथी के रुप में स्वीकार करेंगे तो वे संकट विमोचन का मार्ग बन जाती हैं। इसलिए कहा जाता है- ''आपकी आलमारी में रखी पुस्तक आपकी मित्र है, यह आपकी ओर पीठ फेरती हैं लेकिन मित्र बनी रहती हैं।'' परन्तु वर्तमान समय में यह सोचने वाली बाते है- क्या आज भी एक पुस्तक बगीचे के समान है? आधुनिक पुस्तकों की जो संस्कृति बन पड़ी है वह पूर्ण रुप से बदली है। जी हाँ, मानना चाहिए कि प्राचीन काल की पुस्तकें संस्कृति-धार्मिक धरोहर पर लिखी जाती थी। वर्तमान समय में पुस्तकों में मानवीय मूल्य, सांस्कृतिक-धार्मिक मूल्य कम दिखाई पड़ रहे हैं। आज मानव ने चाँद से मंगल ग्रह पर पाँव रखा है, उसकी बुद्धिशक्ति बहुत बढ़ गई है, पर एक शोचनीय बात है कि, वैचारिक शक्ति नहीं बढ़ी। बढ़ी है तो भी विनाश की ओर। 'कामायनी' जैसी कालजयी पुस्तक संस्कृति इस वर्तमान परिप्रेक्ष्य में नहीं रही। साहित्य जगत में पुस्तकों की संख्या मात्र सागर की भांति बढ़ रही है। पाठक इस निरुपयुक्त सागर रुपी साहित्य जगत से दूर भागती दिखार्ठ दे रहे हैं। तो जो साहित्य किसी काम का न हो, ऐसे साहित्य से तात्पर्य भी न रह जाएगा। जैसे कबीर कहते हैं-

''बड़ा भया तो क्या भया, जैसे पेड़ खजूर।
पंछी को छाया नहीं, फल लागे अति दूर।।''

कोई भी पूर्ण रुप से नहीं कह सकता कि सभी पुस्तकें अच्छी होती हैं या बुरी होती हैं। कुछ पुस्तकों को वाद-विवादों में घेरकर उन्हें निकृष्ट के चौखट में भी नहीं डाल सकते। बेकन जी का कहना है कि, ''कुछ पुस्तकें चरने के लिए हैं, कुछ निगल जाने के लिए और कुछ थोड़ी सी चबाए जाने और हजम किए जाने क लिए।'' तो क्या इस वर्तमान समय में पुस्तकों की संस्कृति ऐसी है...? यानि पुस्तकें मनुष्य के हर कदम पर साथ देनी चाहिए। पुस्तकें मनुष्य को हर समस्या-परिहार के लिए मार्गदर्शन करनी चाहिए। परंतु इस वर्तमान परिप्रेक्ष्य में ऐसा काम कम हो रहा है। आज लेखक-कवि, साहित्यकार कदम-कदम पर मिल रहे हैं, पर प्राचीन काल-सा श्रेष्ठ साहित्य नहीं मिल रहा है। और इसका मूल कारण साहित्य भी वैज्ञानिक प्रभाव से घिरा हुआ है। वर्तमान युग को वैज्ञानिक युग कहा जाता है। तो साहित्य का ज्यादातर सृजन भी वैज्ञानिक स्तर पर हो रहा है। वैज्ञानिक प्रभाव से लिखी गई पुस्तकें मानव मूल्यों को पीछे छोड़ आती हैं।

'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' यह साहित्य का परमतत्व है, साहित्य में सत्यता, ईश्वरत्व, सौन्दर्य भाव होनी ही चाहिए तभी वह साहित्य कहलाएगा। वर्तमान परिप्रेक्ष्य में साहित्य की या पुस्तकों

की ऐसी स्थिति बनती जा रही है कि इन तीनों में से एक भी तत्व पाना मुश्किल हुआ है। और शायद यही एक कारण है कि इस वर्तमान समय में पाठक पुस्तकों के प्रति आकर्षित नहीं हो रहा है। इन पुस्तकों में वेद पुराणों के मूल्य या तत्व नहीं रहे।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में पुस्तकों की संस्कृति ऐसी बनी है कि उसमें साहित्य के तत्व कम और वैयक्तिक तत्व ज्यादा होते हैं। लोकमंगल के लिए पुस्तकों का सृजन नहीं हो रहा है। इस वर्तमान परिप्रेक्ष्य में साहित्यकार अपनी साहित्यिक पुस्तकों की संख्या बढ़ाने के लिए लगातार पुस्तकें लिखे जा रहे हैं। परन्तु किसी तत्व या मूल्य की तरफ ध्यान नही दिया जाता। इसलिए ऐसी संस्कृति को बदलना चाहिए। साहित्य सृजन या पुस्तकों का सृजन साहित्यिक तत्वों के आधार पर, लोकमंगल तत्व के आधार पर होनी चाहिए। तभी पुस्तकों में एक अच्छी संस्कृति उभर आएगी। तभी एक सच्चा साहित्यकार सामने उभर आ सकता है, तभी पाठक पुस्तकों के प्रति आकृष्ट हो सकते हैं।

साहित्य का सृजन स्वान्तः सुखाय माना जाता है। यूँ तो कला के लिए और कला उपयोगिता के लिए विवाद संभवतः ललित कलाओं के जन्म से ही प्रारम्भ हो चुका था और स्वान्तः सुखाय माना जाता है। जहाँ तक पुस्तकों का प्रश्न है, अब तक प्रकाशित पुस्तकों के सर्वेक्षण के आधार पर आलोचकों का निष्कर्ष है कि अधिकतर पुस्तकें लिखने का कठिन कार्य और वह भी उस दिशा में जहाँ आप एक निश्चित सीमा से चाहे वह विषयगत हो, विधागत हो या भाषागत हो, सीमाओं का अतिक्रमण नहीं कर सकते। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि अवशेष साहित्य में अधिकाधिक भावाभिव्यक्ति है तो साहित्य के सृजन में अधिकांशतः ज्ञान कराना, शिक्षा देना ही अभीष्ट बन जाता है। साहित्य का उद्देश्य प्रारम्भ से लेकर ही स्वान्तः सुखाय या राजा-महाराजा के लिए लिखना ही माना जाता है। पर इस आधुनिक दौर में साहित्य का उद्देश्य पूर्ण रूप से बदल गया है नहीं बदल दिया गया है, स्वार्थपरता के लिए साहित्य का सृजन हो रहा है।

जहाँ तक सम्भावनाओं का प्रश्न है। यदि बदलती रुचियों और परिवर्तित संदर्भों की स्थिति ध्यान में नहीं रखी गई तो कुछ भी नहीं बदलेगा। साहित्य का अब तक जो रूप रहा है उसे बदलने के लिए एक सामूहिक और सुनियोजित सोच लेकर उसका कार्यान्वयन सामूहिक रूप से दृढ़ इच्छाशक्ति और संपूर्ण क्षमताओं के साथ करना होगा। साहित्यकारों को स्वाभिमान के साथ अपना 'स्वतंत्र व्यक्तित्व' बनाना होगा। लेखन और सोच में बड़प्पन लाना होगा। नयापन लाना होगा। वरना कुछ नहीं बदलेगा सब कुछ जैसा था, वैसा ही रहेगा।

बदलते समय और संस्कृतियों के सम्मिलन के दौर में अन्य चीजों की तरह साहित्य का भी आदान-प्रदान हुआ। इस दौर में साहित्य के आदान-प्रदान की दर में भी तेजी आई। जिससे भारतीय रचनाएँ विदेशों में फैलीं तो बाहर का साहित्य हिन्दुस्तान में आया। परिणामतः अलिफ लैला, गुलीवर की रोमांचक कहानियाँ, ग्रिम बन्धुओं की लोककथाओं और हेंस एंडरसरन की परीकथाओं से भारतीय पाठकों को परिचय हुआ। भारत में मनोविज्ञान के अनुरुप साहित्य लेखन को गति प्राप्त हुई। हिन्दी कथा लेखन में मौलिकता की शुरुआत करने का श्रेय भी कथासम्राट मुंशी प्रेमचन्द को जाता है। प्रेमचंद के युग तक स्वतंत्र साहित्य की संकल्पना पनपी नहीं थी। तो भी मनोविज्ञान को केन्द्र में रखकर उन्होंने जिन कहानियों की रचना की हैं उनमें गुल्ली डण्डा, बड़े भाईसाहब, ईदगाह, आत्माराम, पंचपरमेश्वर, पुरस्कार जैसी रचनाएँ आज भी हिन्दी साहित्य की बेजोड़ उपलब्धियाँ हैं। हालांकि प्रेमचंद के समय और उनके बाद भी साहित्यकारों का एक बड़ा वर्ग लगातार ऐतिहासिक एवं पौराणिक कहानियों के प्रस्तुतीकरण की हिमायत करता रहा। परन्तु प्रेमचंद जी के पीछे हिन्दी साहित्य ऐसे महान साहित्यकार की खोज में लगी है उसके हिसाब से कोई नहीं खरा उतरा। साहित्य का सृजन दिमाग से नहीं बल्कि मन से होनी चाहिए। साहित्य का सृजन चार दीवारों के बीच बैठकर नहीं होती बल्कि खुले आसमान की अनुभूति होती है।

साहित्यकार पूर्वाग्रह पीड़ित हो वह वही बात लिखेगा जो उसने मन में ठान लिया है। आज आवश्यकता मौलिक साहित्य परंपरा को आगे बढ़ाने की है। विज्ञान या अन्य किसी भी माध्यम का उपयोग अपनी मौलिक अभिव्यक्ति के लिए सफलतापूर्वक कर सकती है। यह अच्छी बात है कि हिन्दी के कई साहित्यकार ऐसे हैं जिन्होंने साहित्य को रचनात्मक जड़ता से बाहर निकालने के लिए अपनी कलम का खूब इस्तेमाल किया। साहित्य ऐसा हो जिसमें हमारी सांस्कृतिक, धार्मिक, ऐतिहासिक पृष्ठभूमि झलकती हो। मानवीय मूल्यों को, नैतिक मूल्यों को प्रतिष्ठापित करने का सोद्देश्य साहित्य का हो। अंत में इस आशय के साथ-

''साहित्य ही है निज संपत्ति, जिससे भरा हो मन का भण्डार घर।

जबान का आभूषण बना लो, जो संसार को रख देगी सुधार कर।।''

□□□

सूचना के दौर में शब्द और संस्कृति

यश मालवीय

(शब्द और संस्कृति आज हाशिये पर हैं, पर हाशिये का हस्तक्षेप भी कुछ कम नहीं होता, शर्त है सलीका और समझदारी)

एक ऐसे दौर में जब सूचना को लज़ीज़ बनाया जा रहा हो, सूचना-क्रांति का अर्थ मात्र सूचनाओं की भीड़ इकट्ठी करना हो गया हो, चैनलों से मीठा जहर बरस रहा हो, मीडियावार का वातावरण अपनी पराकाष्ठा पर हो, समाचार पत्रों से साहित्य को वनवास दे दिया गया हो, हमारा समय और समाज एक अंधी दौड़ में शमिल हो गया हो, घर आंगन तक में अपसंस्कृति पांव पसार रही हो, सहज ही शब्द और संस्कृति के विषय में संजीदगी से सोचने और विचार करने का मन करता है। यह सही है कि शब्द और संस्कृति आज हाशिये पर हैं, पर हाशिये का हस्तक्षेप भी कुछ कम नहीं होता, शर्त है सलीका और समझदारी। संस्कृति हमारी सभ्यता का ही एक सुसंस्कृत स्वरूप होती है, यह वह आईना है जिससे समय को उसकी सम्पूर्णता के साथ देखा जा सकता है और यह भी देखा जा सकता है कि दरअसल हमारे शाश्वत और नैतिक मूल्य कितने प्रतिशत शाश्वत अथवा नैतिक रह गये हैं। शब्द को हमारे यहाँ ब्रह्म कहा गया है, वास्तव में आज शब्द की आत्मा ही लहुलुहान है, जख्मी हो चली है हमारी अभिव्यक्ति। हम जो सोचते हैं वह कह नहीं पाते जो कहते हैं, उस पर अमल सम्भव नहीं होता, लगता है हम एक अंतहीन कोरस में शामिल हैं, अपनी-अपनी कमजोर आवाजें लिये। आम आदमी की स्थिति शामिलबाजा जैसी हो गयी है। वह, वह सब कुछ अपने सिर-माथे लेने को बाध्य एवं विवश है जो कुछ उसे परोसा जा रहा है।

सूचना के इस भयावह संक्रमण के दौर में शब्द और संस्कृति की जिम्मेदारी समझने वालों की अग्नि-परीक्षा का कठिन काल है यह, क्योंकि इस त्रासदी से हमें यह दो तत्व ही उबार सकते हैं, त्राण दे सकते हैं।

बचपन में हम समाचार पत्रों के साप्ताहिक परिशिष्टों का बेसब्री से इंतज़ार किया करते थे। परिशिष्ट के पृष्ठों पर हमें मिलते थे अमृतलाल नागर और हरिवंशराय बच्चन जैसे कलाकार, जो हमारे मन की गीली मिट्टी में स्वत:स्फूर्त ढंग से रचनात्मकता के बीज बो देते थे। आज तारिकाओं के बड़े-बड़े ग्लोअप छपते हैं, यह छपता है कि चालीस के बाद दाम्पत्य की गाड़ी कैसे ले चलें, नेलपॉलिश कैसे छुड़ायें? दिन में कितनी बार चेहरे पर नींबू

अथवा खीरा मलें या फिर किस कलाकार को नाश्ते में क्या पसंद है या फिर किस ब्रांड का तेल इस्तेमाल करना है। विज्ञापन की आंधी सारे टाट-छप्पर उड़ाये ले जा रही है। मैं इस तरह की सूचनाओं के महत्व से इनकार नहीं करता, इन्हें भी उचित 'स्पेस' मिलना चाहिए, किन्तु अगर केवल यही हो गया और इनका होना हमारे शब्द और संस्कृति के मूल्य पर हुआ तो एक पूरी की पूरी पीढ़ी संस्कार के सहज अनुशासन से च्यूत हो जायेगी, जो कि हो रहा है, मैं संस्कार के नाम पर 'संस्कार भारती' की वकालत नहीं करता, किसी भी जड़ता के खिलाफ़ या कूपमंडूक होने के प्रतिरोध में समय और समाज को रीढ़ सीधी रखकर स्वाभिमान के साथ खड़ा हुआ देखना चाहता हूँ, क्योंकि *शब्द से आखेट करना जानते हो?/ नहीं! तो कुछ भी नहीं समझा सकूँगा मैं तुम्हें/ युद्ध अपने से कभी क्या ठानते हो?/ नहीं! तो कुछ भी नहीं समझा सकूँगा मैं तुम्हें।*

समय वास्तव में अब शब्द-संधान का आ गया है, जिसमें शर-संधान जैसी तीव्रता हो। छपे हुए शब्दों का महत्व कभी कम नहीं हो सकता, इलेक्ट्रॉनिक माध्यम की कितनी भी तेज हवाएँ चलें। मगर छपे हुए शब्द भी कैसे? ऐसे शब्द जिनमें शब्द साधक प्राण प्रतिष्ठा कर देता है, वे शब्द नहीं जो बाज़ार में गंद की तरह लुढ़कते हुए अपना अर्थ खो रहे हैं या फिर बाजार बन गयी खूबसूरती की देहयष्टि पर जाया किये जा रहे हैं। शब्द तो वह चाहिए जिसमें साहित्य का संहत भाव, सबको साथ ले चलने का जज़्बा साकार होता हो। जहाँ साहित्य, कला, संस्कृति की त्रिवेणी लहराती हो। शब्द की अनथक यात्रा ही संस्कृति की संवाहक हो सकती है, ऐसे समय में पुस्तकों से अच्छा कोई मित्र नहीं हो सकता, पुस्तकालय से श्रेष्ठ कोई मंदिर नहीं हो सकता जहाँ ज्ञान के कोटि-कोटि दिये जलते हैं। ज्ञान का असमाप्त प्रकाश जहाँ दीपावली मनाता है और सैकड़ों पर्व-त्यौहार आचरण और व्यवहार में चरितार्थ कर देता है, अज्ञान का अंधेरा गणेश जी के चूहे की तरह कहीं कोने-अतरे में दुबक जाता है।

सचमुच आदमी नहीं, किताबें ही आदमी को खोलने, उससे बोलने-बतियाने का सामर्थ्य रखती हैं। उसके सारे बंद दरवाजे खोलती हैं। शब्द और संस्कृति किसी भी देश की अस्मिता के अनिवार्य पोषक तत्व होते हैं। सूचना के इस दौर में यही तत्व हमें अपनी खोयी हुई पहचान देंगे। जब अंधेरा बहुत घना हो तो माचिस की एक जलती हुई तीली भी उसके सीने पर अपने हस्ताक्षर अंकित कर देती है। इस कठिन समय में संस्कृति की यही सार्थक भूमिका हो सकती है, जिसमें शब्द अपने पारदर्शी रूप में उसके साथ होंगे।

याद आता है अब्राहम लिंकन वाला वह प्रसंग जिसमें एक मांगकर लायी हुई किताब बारिश में भीगकर खराब हो जाती है और वे उसके बदले किताब के मालिक के यहाँ किताब के दाम भर मजदूरी करते हैं और फिर वह किताब उनकी अपनी हो जाती है। आज किताब को ऐसे ही प्यार करने वाले दीवानों की ज़रूरत है ताकि किसी शिवकुटी लाल वर्मा जैसे कवि को यह न लिखना पड़े– *हमारे स्वप्न शब्द बने/ शब्दों से किताब बनी,/ किताबों से दीमकें लगीं/ हमारे स्वप्न दीमकों के हो गये।*

हमें किताबों की सत्ता पहचाननी होगी। हमें उन चलती-फिरती किताबों पर भी ध्यान देना होगा जो साहित्य को न केवल जी रही हैं, वरन हमें जीने का सलीका भी सिखा रही हैं। शब्द के छिलके उतारकर उनमें नया अर्थबोध भरने का वक्त भी आ गया है, हम ऐसा करेंगे तो मीडिया की मनमानी भी नहीं चलेगी। हमें अखबारों की भाषा भी देखनी होगी जो भाषा के संस्कार का तो ढोल पीटते हैं, पर भाषा के ही साथ खलनायकों जैसा व्यवहार करते हैं। अपने यहाँ छापते हैं 'फलाने स्वास्थ्य संस्थान में दृष्टिहीनों का शिविर आयोजित। दृष्टिहीन तो आखें होते हुए भी कोई हो सकता है, जबकि इनका आशय नेत्रहीन से होता है। या फिर अखबार लिखते हैं, 'इस बार बारिश अच्छी, अच्छी फसल होने की आशंका, अथवा तीर्थयात्रियों की बस खड्डे में समायी, 70 तीर्थयात्रियों के मरने की सम्भावना'। यानी ये अखबार शुभ में 'आशंका' और हादसों में 'संभावना' देखते हैं। ऐसी स्थिति में शब्द की साख का भला क्या होगा? इसलिए विशेष रूप से शब्द-सारथियों को सतर्क, सजग और जागरूक होना होगा, तभी संस्कृति का रथ अबाध गति से आगे बढ़ सकेगा।

संस्कृति के नियामक तत्व शब्दों के संसार में ही अपना दिशाबोध तय करते हैं। आज संस्कृति की भी मनमानी व्याख्या की जा रही है। शब्द का सही इस्तेमाल कई बार 'तलवार की धार पर धावने' जैसा भी होता है। गैर जानकारी में यही शब्द बंदर के हाथ का उस्तरा भी हो जाते हैं। शब्दों की फिजूलखर्ची भी उनकी गरिमा घटाती है, जबकि यही शब्द संस्कृति को विरूप होने से बचा सकते हैं। सूचना के इस दौर को यही खुली चुनौती दे सकते हैं। गहरी नाउम्मीदी में भी उम्मीद की किरण शब्द और संस्कृति के दीये की लौ पर ही थिरकती हुई दिखाई दे रही है। कवि पिता उमाकांत मालवीय याद आ रहे हैं। उन्हीं की कविता-पंक्ति से अपनी बात स्थगित करता हूँ– *कोई एक शब्द तो मिले,/ रचना पर रख दूँ तुलसीदल-सा/ रचना की रचना नैवेद्य बने।*

□□□

पुस्तकों को डिजिटल माध्यमों से चुनौतियाँ

वसुधा पु. कामत

हम सब जानते हैं कि आजकल पुस्तकों को कोई नहीं पूछता। आज पुस्तकों की हालत बहुत खराब है। ज्यों-ज्यों इण्टरनेट के क्षेत्र में बढ़ोत्तरी हो रही है, बच्चों से लेकर बड़ों तक सभी इण्टरनेट के सामने ही दिखाई देते हैं। इसका लाभ कम और धोखा ज्यादा नजर आता है क्योंकि आजकल इण्टरनेट में पाश्चात्य संस्कृति ज्यादा दिखाई देता है और इसका प्रभाव हमारी संस्कृति पर पड़ रहा है।

अन्य समाजों की तरह हमारी परम्परा भारत में भी साहित्य श्रुति परम्परा से आया है, जिसमें बच्चों तथा बड़ों के साहित्य के बीच विभाजन नहीं था। सबसे पहले उसका स्वरूप लोकसाहित्य का था। वही उस दौर में लोगों के मनोरंजन का साधन बना। लोकगीतों में जो सरस और सहज थे उन्हें लोरियों के रुप में बाल मनोरंजन के लिए अपना लिया गया। कथा साहित्य के क्षेत्र में राजा-महाराजाओं के जीवन चरित्र और पौराणिक विषयों को ही लम्बे समय तक साहित्य का पर्याय माना जाता रहा।

आगे के वर्षों में भी यदि पंचतंत्र और हितोपदेश को छोड़ दिया जाए तो ऐसी कोई और कृति नहीं है जिसे विशुद्ध साहित्य की कोटि में रखा जा सके। इनमें हितोपदेश तो पंचतंत्र की कहानियों का पुनर्प्रस्तुतीकरण ही है। हालांकि पंचतंत्र और हितोपदेश की कथाओं के आधार पर मनोविज्ञान के अनुरूप नई-नई कहानियाँ सालों-साल गढ़ी जाती रही हैं। आज भी न केवल हिन्दी बल्कि दुनिया की अन्य भाषाओं के साहित्य पर पंचतंत्र का असर देखा जा सकता है। मौलिक एवं बदलते समय की जरूरतों के आधार पर साहित्य की रचना का कार्य हिन्दी में अर्से तक नहीं हो सका। कारण साफ है, अशिक्षित तथा असमान आर्थिक वितरण वाले समाजों में जहाँ शीर्षस्थ वर्ग संसाधनों पर कुण्डली मारे बैठा, भोग और लिप्साओं में आकंठ डूबा हो, समाज का बहुलांश घोर अभावग्रस्तता का जीवन जीने को विवश होता है। जिससे वहाँ कला एवं साहित्य की धाराएँ पर्याप्त रुप में विकसित नहीं हो पातीं। ना ही उनके सरोकार पूरी तरह स्पष्ट हो पाते है। भारत में समाज करीब-करीब ऐसी ही स्थितियों का शिकार था। तार्किक सोच के अभाव का फायदा यथास्थिति की पक्षधर शक्तियों ने खुलकर उठाया और वे मौलिक साहित्य के विकास में अवरोध का कार्य करती रही। परिणामतः हिन्दी साहित्य में भूत-प्रेत, भाग्यवाद, उपदेशात्मक कहानियों, राजा-रानी, जादू-टोने, जैसे विषयों पर भरमार रही या फिर लोककथाओं की भोण्डी प्रस्तुति को ही साहित्य के नाम पर परोसा जाता रहा।

ब्रिटिश उपनिवेश होने के कारण भारत में बौद्धिक जागरण की प्रक्रिया कतिपय विलंब से उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम दशकों में शुरु हुई। जिसमें परम्परा एवं संस्कृति की विशेषताओं को सहेजने के साथ-साथ आधुनिक ज्ञान-विज्ञान को अपनाने पर जोर दिया जाने लगा। विज्ञान के क्षेत्र में निरंतर हो रहे अधुनातन आविष्कारों ने उत्पादन प्रणाली को सरल और तीव्र बनाने में मदद की जिससे रोजगार के वैकल्पिक साधनों का विकास हुआ और लोगों की कृषि पर निर्भरता घटी। मगर तेजी से हो रहे नगरीकरण से बूढ़े और बच्चे अलग-थलग पड़ने लगे। अभी तक वे एक दूसरे की मनोरंजन संबंधी जरुरतों को आपस में ही पूरा कर लेते थे। निरंतर बढ़ती व्यस्तता ने बच्चे और माता-पिता के बीच की दूरियों में भी इजाफा किया। इस कारण बच्चों के अकेले पड़ते जाने का खतरा बढ़ता गया। चूँकि टेलीविजन उस समय तक अपने पाँव पूरी तरह नहीं पसार पाया था। इसलिए मनोरंजन के नए माध्यम रुप में पुस्तकें समाज में अपना स्थान बनाने लगेंगी।

आजकल बच्चा मोबाइल और टेलीविजन और कम्प्यूटर में व्यस्त है। हमारी परंपरा और संस्कृति छूटी जा रही है।

मशीनीकरण के बाद जिन्हें छापना और पाठकों तक पहुँचना पहले की अपेक्षा बहुत आसान था। इन सभी कारकों से साहित्य के प्रचार प्रसार को बहुत बल मिला।

साहित्य के गद्य विकास का दौर कहीं न कहीं गद्य के विकास से भी जुड़ा है। गद्य लेखन में वृद्धि और उसमें हो रहे नए-नए प्रयोगों ने पद्य के शताब्दियों से चले आ रहे वर्चस्व को सार्थक चुनौती पेश की थी। चूंकि गद्य का संसार पद्य की अपेक्षा अधिक व्यापक और विविधतापूर्ण तो था ही, उसमें विचारों की स्पष्ट और त्वरित अभिव्यक्ति भी संभव थी। साथ ही गद्य लेखन के लिए पद्य जैसे अनुशासन की भी आवश्यकता नहीं थी।

आज भी एक बड़ा वर्ग है जो परंपरा और संस्कृति के प्रति मोह से इतना अधिक ग्रस्त है कि उनमें किसी भी बदलाव की संभावना को नकारते हुए वह बार-बार अतीत की ओर लौटने पर जोर देता रहा है। इनसे भिन्न दूसरे वर्ग के साहित्यकार परंपरा से हटकर आधुनिक सोच ओर ज्ञान-विज्ञान के उपकरणों से साहित्य का मसौदा चुनते हैं और उपदेशात्मक लेखन के बजाए संवादात्मकता पर विश्वास रखते हैं।

यहाँ यह कहना भी आवश्यक हो जाता है कि साहित्य की व्याख्या में मुख्य रूप से दो दृष्टिकोण से अनुशीलन किया गया है। प्रथम के अनुसार वह साहित्य जो साहित्येतर प्रभावों, वर्जनाओं से मुक्त है, वह साहित्य है। दूसरे दृष्टिकोण के अनुसार लोकहिताय रचित साहित्य ही साहित्य है। यहाँ यह स्पष्ट करना भी आवश्यक है कि साहित्य में शुद्धता का प्रश्न आधुनिक विज्ञान और तकनीकी प्रगति के कारण उभरा है। विज्ञानवेत्ताओं और नेताओं ने सामाजिक नेतृत्व अपने अधीन करके साहित्य के नेतृत्व को किनारे कर दिया है। परिणामस्वरुप वह और अंतर्मुखी होता गया और समाज के पथप्रदर्शन, सुधार के लिए नेतृत्व को उसने भी गौण कर दिया। पश्चिम के परिप्रेक्ष्य में रची गई धारणाएं जबरदस्ती लादी जा रही हैं किन्तु इनके बीच भी प्रचुर हिन्दी साहित्य सृजन हो रहा है।

प्रसंगवश यह आजकल के बच्चों के साहित्य के बारे में सैंड्रारस ने कहा है कि, ''कोई काम इतना कठिन नहीं है जितना बच्चों के लिए लिखना। आगे कहती हैं कि बच्चों के लिए पुस्तक लिखने के बाद कोई काम इतना कठिन नहीं है और विस्तार देते हुए फिर कहती हैं, बच्चों की पुस्तकें लिखने के बाद कोई काम इतना कठिन नहीं है जितना बच्चों की पुस्तकों के बारे में लिखना किंतु बच्चों की पुस्तकों के लिखने के बारे में लिखना इसका अपवाद है।''

जैसे हम सबको पता है कि, बच्चा माँ के पेट में ही माँ की आदतें अपने में ढाल लेता है और इसके लिए हमारा इतिहास गवाह है जैसे 'प्रहलाद' जब अपनी माँ कयादु के पेट में थे तभी नारद जी ने कयादु को 'ऊँ नमो भगवते वासुदेवाय' का जाप सुनाया था तो उसे प्रहलाद ने माँ के पेट में ही सीख लिया और महाभारत में अभिमन्यु ने अपने माँ के गर्भ में ही चक्रव्युह तोड़ना सीख गए थे। इसीलिए कहा जाता है कि बच्चों की पहली गुरु माता होती हैं। पहले वह अपने माता से ही सब कुछ सीखता है। इसलिए जब माता गर्भवती होती है तब उसे अच्छे कर्म करने की सलाह डॉक्टर भी देते हैं- जैसे स्वच्छंद हवा में घूमना, अच्छी बातें सुनना, अच्छी चीजें खाना आदि। यानि माँ स्वस्थ तो बच्चा स्वस्थ यह हम सब जानते हैं। आजकल हम यह कहते भी हैं कि आजकल का बच्चा कम्प्यूटराइज है। बढ़ती आधुनिकीकरण से माँ और बच्चा दोनों पर असर पड़ रहा है। आजकल बच्चा मोबाइल और टेलीविजन और कम्प्यूटर में व्यस्त है। हमारी परंपरा और संस्कृति छूटी जा रही है।

बालमनोविज्ञान के सहज संप्रेषणीय एवं मौलिक साहित्य की संकल्पना आधुनिक युग की ही देन है। आज का बच्चा क्या से क्या हो रहा है वह अपना पल कहाँ गवां रहा है।

अब आवश्यकता है कि हिन्दी बाल साहित्य इन्हीं की परंपरा को निरंतर विस्तार दिया जाए। ताकि वे बच्चे जो टेलीविजन और इंटरनेट के कारण साहित्य से कट गए हैं उन्हें वापस पुस्तकों की दुनिया में लाया जाए। यह जानते हुए पढ़ना एक चारित्रिक विशेषता है। जिसका अभ्यास धीरे-धीरे तथा बचपन से किया जाता है। बच्चों के लिए ज्ञान और मनोरंजन संबंधी जरूरतो को तो निश्चिय ही पूरा कर रही है। घटती पठ्नीयता पर जार-जार आँसू रोने वाले भी हैं कि बालक के हाथों से पुस्तक का छूट जाना पुरी एक पीढ़ी को अपनी परंपरा तथा ज्ञान की धरोहर से वंचित हो जाने जैसी दुर्घटना है।

□□□

चार हजार रिक्त पद

कृष्ण कुमार

हिंदी में छपने वाली पत्रिकाओं की हालत पाठकों से छिपी नहीं है। पाठकों की हालत पत्रिकाओं से नहीं छिपी है। करोड़ों की भाषा, पर पढ़ने वाले कुछ हजार, बस। इसलिए पत्रिकाओं की 'बालमृत्यु' दर बहुत ऊँची है। चिरंजीवी पत्रिका ढूंढ़े नहीं मिलती। बरसों पहले इसे सुधारने के लिए श्री कृष्ण कुमार ने एक नई मुहिम का प्रस्ताव रखा था। उस नई मुहिम को फिर से दुहराने का कारण यही है कि परिस्थिति बदली नहीं है। लगता है वे चार हजार रिक्त पद अभी भी रिक्त ही पड़े हैं। उस प्रस्ताव में आवेदन की कोई अंतिम तारीख नहीं दी गई थी। इसलिए हम इसे फिर से आपके सामने रख रहे हैं।

कुछ दिन पहले अखबारों में एक सुखद किन्तु अविश्वसनीय खबर छपी थी। वरिष्ठ कवि कुंवर नारायण ने कहीं यह कहा था कि नब्बे का दशक पत्रिकाओं का दशक है। शीर्षक देखकर मैं चौंका और सावधानी से पूरी खबर पढ़ गया। 'साक्षात्कार', 'कला-प्रयोजन', 'पुरोवाक्', 'वागर्थ' जैसे कुछ नामों की मदद से यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया था कि आजकल गंभीर और विशिष्ट रुचि की कई पत्रिकाएँ हिन्दी में छप रही हैं। इनमें से यदि सरकारी और अनुदान-प्राप्त पत्रिकाओं को छोड़ दें तो कितनी ऐसी रह जाऐंगी जिन्हें हर समय अगले अंक के जुगाड़ में मुश्किल पेश न आ रही हो, यह हिसाब कुंवर नारायण जी ने शायद नहीं लगाया था।

पिछले दिनों इस किस्म का हिसाब दो पत्रिकाओं के संपादकों ने लगाया है। इनमें से एक ने यह हिसाब पत्रिका की आसन्न मृत्यु को देखते हुए लगाया है। दूसरे ने एक नई पत्रिका को जन्म देते हुए लगाया है। इतने भिन्न संदर्भों के बावजूद हिसाब बहुत अलग नहीं है। साल भर चलाकर दूसरा शनिवार फिलहाल बंद करने की सूचना देते हुए संपादक राजकिशोर ने लिखा है: 'हिन्दी की हालत आज चाहे जितनी गई गुजरी हो, एक-दो विचार पत्रिकाएँ चलाना कठिन नहीं है। आवश्यकता उचित संगठन और स्रोतों के समाहार की है, हम इसमें विफल रहे हैं।' उधर रायपुर के जाने-माने अखबार 'देशबंधु' की ओर से 'अक्षर पर्व' नाम के मासिक का प्रकाशन शुरू करते हुए संपादक ललित सुरजन ने लिखा है: 'कहना न होगा कि मासिक पत्रिका निकालना सरल नहीं है। त्रिलोचन जी ने स्नेहपूर्ण चेतावनी दी कि आर्थिक पक्ष पर भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए। हम सारे पहलुओं पर

गौर करने के बाद 'अक्षर पर्व' मासिक को इस सादे कलेवर में आपके सामने रख रहे हैं।' सादा कागज, कम पन्ने, सादा मुखपृष्ठ यानी कम से कम लागत। इस नवजात पत्रिका की सादगी सचमुच डराने वाली है। 'दूसरा शनिवार' का अंतिम अंक देखकर लगता है जैसे किसी असाध्य रोग से जूझते रोगी को अच्छे से अच्छे कपड़े पहनाकर बिस्तर पर लिटाया गया है। 'अक्षर पर्व' का पहला अंक देखकर लगता है जैसे महामारी की दहशत में डूबे गाँव में रहने वाला एक खाता-पीता परिवार, कुछेक लोगों को रोटी-दाल सब्जी के लिए इस तरह बुला रहा है कि किसी की नजर न लग जाए।

एक पत्रिका की मौत हिन्दी समाज के लिए कोई खबर नहीं है। खबर जबरन न दी जाए तो वह कोई प्रतिक्रिया पैदा नहीं करती। लोग जिन चीजों में निमग्न हैं, उन्हीं में निमग्न बने रहते हैं। यह कहना भी भ्रामक होगा कि इस तरह की खबर में लोगों को अपनी भाषा और संस्कृति को लेकर कोई चिंताजनक सूचना नहीं नजर आती। आखिर ऐसे लोग हैं कहाँ जो हिन्दी को अपनी भाषा के रूप में देखते हैं, उसके साहित्य के कारण अपनी जिंदगी को समृद्ध महसूस करते हैं? यदि ऐसे लोग हैं तो हिन्दी लेखकों, संपादकों और प्रकाशकों को उनके पते तक नहीं मालूम। शायद हम सबको एक दिशाहीन यात्रा पर निकल पड़ना चाहिए ताकि हम ऐसे लोगों से मिलने का संयोग पा सकें। यात्रा पर निकल पड़ना कठिन नहीं है। पर यह अभी हमें सोचना है कि ऐसे लोगों से मिलकर हम उनसे क्या कहेंगे। मिलकर उस अतीत की यादों में खो जाना बुरा नहीं होगा जब 'धर्मयुग', 'ज्ञानोदय', 'नवनीत' और क्या-क्या समूचे हिन्दी क्षेत्र में नियमित पहुँचता था और उसमें छपी सामग्री हमें एक वैचारिक समुदाय का सदस्य होने का भान कराती थी। पर इस स्मृति-चर्वण से क्या लाभ होगा?

एक और संभावना कारण-गणना में खो जाने की है। यह हमारे समाज का एक अत्यंत लोकप्रिय व्यसन है। आपने किसी समस्या का नाम लिया नहीं कि हम लोग उसके कारणों की सूची दोहराने लगते हैं। सूची-जाप की आदत इतनी पक चुकी है कि समस्या की प्रवृत्ति, उसका मौजूदा संदर्भ और अन्य चीजों से उसका गठबंधन समझने की गुंजाइश भी यह आदत नहीं छोड़ती। यदि हमें वे लोग मिल गए जिनकी हमें तलाश है और हमने कारण-गणना का सिलसिला शुरू कर दिया तो समय की बर्बादी के अलावा उपचार की खोज का उत्साह भी जाता रहेगा। हिन्दी में गंभीर पाठकों की कमी की वजहें इतनी स्थापित और समूचे देश के आर्थिक-राजनीतिक संदर्भों से इस कदर जुड़ी हुई हैं कि उन्हें दोहराकर ऐसा लगना नितांत स्वाभाविक है कि समस्या अपने आप में लाइलाज है। मामला कुछ वैसा है कि परीक्षा में बार-बार फेल होने वाले बच्चे को लेकर हम कहें कि पहले इस बच्चे का पारिवारिक वातावरण सुधारो, मुहल्ला बदलो या शहर में शांति लाओ, स्कूल की व्यवस्था ठीक करो, देश की शिक्षा पद्धति में परिवर्तन करो, तब हम इस बच्चे की कोई सार्थक मदद कर सकते हैं।

राजकिशोर ने अपनी पत्रिका के इस अंतिम अंक में उन लोगों की संख्या चार हजार कूती है जिनके वार्षिक सदस्य बन जाने से पत्रिका बच सकती है। आमतौर पर लोग हिन्दी प्रदेशों की कुल आबादी का हवाला देकर कह उठते हैं कि चार-पाँच हजार पाठक जुटाना भला क्या चीज है। मैं अपने पैतृक घर में रखी पुरानी पत्रिकाओं की जिल्दें उलटते हुए अक्सर सोचता हूँ कि मेरे जिले में अब कितने विचारशील पाठक रह गए हैं। यदि समूचे हिन्दी क्षेत्र में चार हजार ऐसे पाठक हैं तो मेरे जिले में कम-से-कम दस तो होने ही चाहिए। भावी पत्रिकाओं के गर्भधारी संपादकों के कहने पर मैंने उन्हें ऐसे दस संभव पाठकों के नाम और पते कई बार दिए हैं। पिछले दिनों उनमें से एक से मिलकर मुझे थोड़ा पश्चाताप हुआ कि मैं हर जगह उसी का नाम क्यों देता रहा हूँ। आखिर वह कितनी पत्रिकाओं की अस्तित्व रक्षा करे? मैं भी बहुतों के लिए एक संभावित ग्राहक-पाठक रहा हूँ—मैं ही कितनी मरणशील पत्रिकाओं की रक्षा कर सका हूँ? सामान्य पाठक की तलाश करते-करते हम बार-बार एक-दूसरे

के पते ही क्यों देने लगते हैं? गंभीर पत्रिका की जब किसी को जरूरत नहीं है तो हम क्यों एक और पत्रिका बचाना या निकालना चाहते हैं? 'हम' कौन हैं? हमारी इस तकलीफ का नाम क्या है?

इन सवालों की टोह में चलूँ तो मुझे आजादी के आगे पीछे जन्मी पीढ़ी नजर आती है। इस पीढ़ी को यह मनोदशा विरासत में मिली कि हिन्दी हमारी सांस्कृतिक निधि है, वह हमें समृद्ध करती है, हमें उसे समृद्ध करना है। हमारी भाषा किसी से कम नहीं है, यह विश्वास भी इसी विरासत का एक अंग था। आज यह विश्वास जब मैं अपने किसी हम उम्र की पीड़ा में पहचानने का क्षणिक सुख पाता हूँ तो लगता है कि यह एक अंधविश्वास है। 'कथादेश' के पिछले अंक में पंकज बिष्ट ने जानना चाहा है कि हिन्दी और अंग्रेजी के अखबारों में इतना अंतर क्यों है? राजेन्द्र माथुर ने अंग्रेजी के अखबार को बादाम और हिन्दी के अखबार को मूंगफली की संज्ञा दी थी। उनका यह कहना हार या हीनता नहीं, यथार्थ को स्वीकारने का संकेत था।

अब यह यथार्थ और कष्टकर हो चुका है। एफ॰एम॰ रेडियो से लेकर प्रांतीय अखबारों के रंगीन रविवासरियों तक हिन्दी समाज और भाषा की वैचारिक सामर्थ्य को धक्के मारने में चार हजार से कहीं ज्यादा लोग लगे हैं। इनमें आप अनेक पूँजीपतियों प्रकाशकों, नेताओं, अधिकारियों, संपादको, पत्रकारों और उद्घोषकों को पहचान सकते हैं।

इस अंदरूनी हमले से हिन्दी के बचाव के लिए चार हजार विचारशील पाठक पर्याप्त हो सकते हैं बशर्ते कि वे निश्चेष्ट पाठक न हों। 'कुछ मिल गया तो पढ़ लिया, नहीं मिला तो कोई बात नहीं' वाली मनः स्थिति के पाठक हिन्दी के बहुतेरे रहे हैं। उनकी सदाशयता स्तुत्य है पर आज के हालत के लिए उपयोगी नहीं है। कितने ही कोष-प्रस्ताव ऐसे पाठकों की सुध का इंतजार करते-करते सूख गए। 'समकालीन जनमत' और 'देशकाल', 'पहल' निधि और अश्क निधि–इन चार के प्रयास पिछले ही वर्ष चले। अब राजकिशोर ने 'दूसरा शनिवार' के लिए भी एक ट्रस्ट की जरूरत जताई है। ये तमाम कोशिशें सही हैं। वे कितनी सफल होंगी, ऐसा प्रश्न उठाना बेमानी है। कठिनाई के समय हर कोशिश को समर्थन दिया जाना चाहिए। हिन्दी निश्चय ही एक ऐतिहासिक कठिनाई से जूझ रही है। उसकी मदद के लिए एक बड़ी सांस्कृतिक मुहिम चाहिए। मुहिम से आशय हिन्दी क्षेत्र से गुजरने वाले राष्ट्रीय राजमार्गों पर चक्का जाम से नहीं है। हमें एक और ही तरह से मुहिम चलानी चाहिए।

इस मुहिम के तहत हमें पूछने वाले चाहिए। उनका काम हो कि वे अध्यापकों से, छात्रों से, एजेंटों से, संपादकों से, मालिकों से, लेखकों से, विद्वानों से सवाल पूछते रहें। स्कूल के अध्यापकों और किशोरों से पूछें कि उन्होंने भगवती चरण वर्मा, श्रीराम शर्मा और मन्नू भंडारी जैसे सहज पठनीय लेखक पढ़े हैं या नहीं। ये कोई पत्रिका नियमित पढ़ते हैं कि नहीं। प्रिंसिपल से पूछें कि वे अपने स्टाफ से छात्रों को पढ़ने की आदत डलवाने के लिए कौन-कौन से कदम उठा रहे हैं? अपने शहर के एजेंट से पूछें कि उन्होंने छोटी पत्रिकाओं के बिल चुका दिए हैं या नहीं। पुस्तक-विक्रेताओं से पूछें कि उनकी दुकान पर पाठ्य पुस्तकों, कुंजियों और कापियों के अलावा कौन-सी किताबें उपलब्ध हैं। संपादकों से पूछें कि वे अपने अखबार में विचारों, प्रतिक्रियाओं और पुस्तकों की चर्चा के लिए कितनी जगह दे रहे हैं। मालिकों से पूछें कि उन्होंने संपादक के पद पर किसी पढ़ने-लिखने वाले को नियुक्त किया है या किसी पुराने नौकर को, और यदि अखबार को निस्संपादक रखा है तो क्यों? प्रकाशकों से पूछें कि उनकी किताबें आम दुकानों पर क्यों नहीं पहुँच रही। यह भी पूछें कि प्रकाशन के लिए पांडुलिपियों का चयन वे किस प्रक्रिया के तहत करते हैं।

लेखकों से पूछें कि वे दूसरे किन लेखकों को पढ़ रहे हैं और क्या वे अपनी रचनाओं को कम से कम दो बार लिखते हैं। विद्वानों से पूछें कि उन्होंने अपने विषय-क्षेत्र में हिन्दी में क्या लिखा है? और नहीं लिखा तो कब लिखने वाले हैं।

ये प्रश्न सिर्फ एक-दो बार पूछने के लिए नहीं हैं, नाक में दम करने के लिए हैं। यदि आज लगभग चार हजार लोग इस काम के लिए स्वयं को नियुक्त कर दें तो कुछेक वर्षों में हिन्दी समाज का माहौल बदल सकता है। नियुक्ति के लिए एक ही योग्यता अनिवार्य है कि उम्मीदवार स्वयं लेखक न हो! यह इसलिए जरूरी है कि प्रश्न पूछते रहने का काम किसी को स्वार्थ प्रेरित न लगे। नियुक्ति के लिए हिन्दी भाषा के विशाल भू-भाग की कोई बस्ती चुनी जा सकती है। आवेदन के लिए हर तारीख अंतिम तिथि है।

□□□

पुस्तक : एक वैकल्पिक संसार

प्रयाग शुक्ल

पुस्तकें हमारे जीवन में एक वैकल्पिक संसार का सृजन करती हैं। पुस्तकें शब्दों और वाक्यों का संग्रह होती है। वो शब्द जिनके बिना मनुष्य का काम नहीं चलता है। एक शब्द तो वो हैं जिनका व्यवहार हम रोजमर्रा के जीवन में करते हैं और करना भी पड़ता है। पर, रोजमर्रा व्यवहार के जो शब्द हैं उसके परे भी एक जरूरत है मनुष्य की। क्योंकि, जब वह शब्द का इस्तेमाल नहीं कर रहा होता है तो भी वह कुछ-न-कुछ सोचता है। वह अवचेतन में जो अनुभव करता है, उसको साझा करना चाहता है। इसके एक रूप नहीं अनेक रूप हैं। जो लोकगीत हैं, लोककथाएँ हैं, वो यादें हैं, जिनका साझा मनुष्य सदियों से करता आ रहा है। फिर, इन वाचिक शब्दों को शब्दबद्ध अथवा अक्षरबद्ध करने के साथ-साथ उनको कहीं अंकित करने की जरूरत महसूस हुई। तभी हम पाते हैं, पत्थरों पर, भोज पत्रों पर, ताड़ पत्रों पर, फिर पांडुलिपियों के रूप में बहुत कुछ दर्ज किया जाता रहा। कुछ समय बाद मुद्रण का युग आया। आज मानव मुद्रण के कई चरणों को पार करके ई-बुक तक आ पहुँचा है। शब्द संसार और सृजन की यह यात्रा जारी रहेगी। मुझे इसकी कभी चिंता नहीं होती कि मुद्रित किताबें रहेंगी या नहीं। क्योंकि, मैं मानता हूँ कि ई-बुक्स के आगे भी कोई नई तकनीक इज़ाद होगी, जो शब्द को नए सिरे से सहेजने का काम करेगी।

दरअसल, किताबों की उपयोगिता की दुनिया अनंत है। उस कल्पना की दुनिया में विचरण मनुष्य के अंतरमन में पैठकर, उसको बाँटने को, संजोने का काम एक रचनाकार की दुनिया में होता है। रचनाकार के लिए शब्द संसार मूल्यवान धरोहर है, जिसकी धरातल पर बैठकर वह पाठकों से अपनी संवेदनाओं, जज़्बातों, सुख-दुख, पीड़ा, उल्लास, उत्साह सबका आदान-प्रदान करता है। सबसे बड़ी बात है कि इस लेन-देन में मौन स्वीकृति होती है, सहमति भी होती है। यहाँ सिर्फ, गढ़े गए, उकेरे गए शब्द ही संवाद के माध्यम होते हैं। उदाहरण के तौर पर महाकाव्य 'रामायण' और 'महाभारत' को लिया जा सकता है। ये दोनों ग्रंथ कितने रूपों में और कितनी तरह से समूचे भारत में और विश्व में व्यापित हैं। आज तक वह शब्द संसार किताब के रूप में करोड़ों लोगों के साथ हैं। उनकी कितनी व्याख्याएँ और अनंत छटाएँ हैं। उनके कितने रूप हमारे कला रूपों में उतारे गए हैं—संगीत, नाटक, सिनेमा, नृत्य में। इसलिए समय-समय पर हम लोगों को चिंताएँ सताती हैं कि किताबों का भविष्य क्या होगा? बुद्धिजीवी लोग चर्चाएँ भी करते हैं। इससे सोचने का एक माद्दा बनता है। आज भी लोग कहते हैं कि साहित्य कम पढ़ी जा रही है, या कविता कम पढ़ी जा रही है। एक मोटर मैकेनिक जो साक्षर है, वह अखबार का टुकड़ा ही उठाकर पढ़ने लगता है किताब नहीं है तो वह अपने बच्चों की कोर्स की किताबें पढ़ने लगता है। क्लासिक्स कालिदास, रवींद्रनाथ ठाकुर या आधुनिक क्लासिक्स 'अज्ञेय', 'रेणु', शमशेर जैसी चीजें समाज में बनी रहनी चाहिए।

किताबें परिवार, समाज, देश, विश्व सभी स्तर पर बहुमूल्य धरोहर हैं। आज हमारे समाज में रहने-सहने की स्थितियाँ बदल रही है। अब आंगन-बरामदे वाले बड़े घर रहे नहीं, जिसमें तुलसीचौरा, पशु-पक्षी, पूजाघर सबके लिए सम्मिलित जगह होती थी। अब अपार्टमेंट्स और फ्लैट्स में सिकुड़ती हुई जिंदगी है, इनमें आप चाहकर भी किताबें नहीं रख सकते। और-तो-और लेखक स्वयं अपनी किताबें अपने घर में नहीं रख पाता है। ऐसी स्थितियों में पुस्तकालयों का महत्व और उपयोगिता काफी बढ़ गई है। इसमें अब और एक कड़ी जुड़ी है—ई-बुक या डिजिटल बुक्स के रूप में। किताबों का संरक्षण धरोहर के रूप में, अनुवाद के जरिए किताब के संसार को और विस्तृत बनाने की जरूरत है। वास्तव में, किताबों में इंसान को संवेदना और अपनापन मिलता है। छपी हुई किताबों से बेहतर साथी कोई नहीं हो सकता। किताबें सच्ची सहचरी और हमसफर हैं, इनको साथ रखने की कोशिश करनी चाहिए।

□□□

भक्तिकाव्य और पुस्तक संस्कृति

डॉ. सुधाकर मिश्र

पुस्तकें ज्ञान का मन्दिर मानी जाती हैं। जिस प्रकार मन्दिरों में देवता विराजमान रहते हैं उसी प्रकार पुस्तकों में ज्ञान-देवता की उपस्थिति रहती है। इसीलिए हमारे यहाँ पुस्तकों की पूजा की जाती है। पुस्तकों में ऊर्जा प्रदान करने की अद्‌भुत शक्ति होती है। उनसे पाठक जीने की कला सीखता है और ज्ञान-लाभ के अलावा व्यवहार-सौंदर्य से समृद्ध होता है। प्रारंभ में पुस्तकें नहीं थीं। लोग गुरुओं से जो कुछ सीखते थे उसे कंठस्थ कर लेते थे। धीरे-धीरे विषय को कंठस्थ करने के साथ-साथ ग्रंथस्त करने की परम्परा चली। हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल में पुस्तकों को ग्रंथ, पोथी आदि कई नामों से उल्लिखित किया गया है। कहीं उन्हें सम्मान दिया गया है तो कहीं उनकी अवहेलना की गयी है। ग्रंथों के सम्मान और अवहेलना का सम्बन्ध कवि की मानसिकता और विषय-चेतना से सम्बन्धित है। परन्तु इतना सुनिश्चित है कि भक्तिकाल के कवियों ने पुस्तकों के महत्व को समझा था और सद तथा असद रूपों में उनकी पहचान की थी। उन कवियों को इस बात का ज्ञान था कि महान ग्रंथ लिखने के लिए महान विषयों की आवश्यकता होती है, इसलिए उन्होंने पुस्तक एवं इतिहास के महान चरित्रों को उत्कृष्ट काव्य-कौशल के साथ प्रस्तुत किया। क्योंकि उन्हें अपनी बात को सामान्य जनता तक पहुँचाना था, इसलिए उन्होंने देववाणी संस्कृत को छोड़कर लोकवाणी में अपने विचारों तथा भावनाओं को शब्दबद्ध किया।

भक्ति कालीन कवि अपने विषय से सम्बन्धित पूर्वजात कवियों की रचनाओं की अच्छी जानकारी रखते थे। उन्होंने अपनी कृतियों में उनकी पुस्तकों का उल्लेख भी किया है। मलिक मुहम्मद जायसी ने प्रेमकाव्य परम्परा का परिचय देते हुए लिखा है–

बिक्रम घंसा प्रेम के बारा। सपना बति कहँ गयद पतारा

मधूपाद मुगधा बति लागी। गगनपूर होइगा बैरागी।।

राजकुँवर कंचनपुर गया। मिरगावति कहँ जोगी

साधे कुँवर खँडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोग।।

प्रेमावति कहँ सुरबर साधा। ऊपर लगि अनिरुधबर बाँधा।

उनके अनुसार इन पदों में पहले के चार व्यवहार का उल्लेख है–मुगधावती, मृगावती, मधुमालती और प्रेमावती। इनमें से मृगावती और मधुमालती का पता चल गया है, शेष अभी नहीं मिले हैं। कहीं-कहीं जायसी ने पहले लिखे गये ग्रंथों का उल्लेख न करके उनसे लोक-प्रचलित पात्रों और

लोक-प्रसिद्ध प्रसंगों का वर्णन किया है। रामायण तथा महाभारत के ऐसे पात्रों तथा प्रसंगों के चित्रण में उन्होंने काफी रुचि दिखायी है। ऐसे पात्र एवं कथा-प्रसंगों के माध्यम से जायसी ने अपने कथा में अधिक प्रभाव-क्षमता पैदा की है और उसे अधिक लोगों में प्रेष्य बनाया है।

भक्तिकाल के कवियों में तुलसीदास सर्वाधिक अध्ययनशील थे। उन्होंने प्राचीन महाग्रंथों का नाम लेकर अथवा उनकी ओर संकेत करके एक तरफ उन ग्रंथों की महानता का बोध कराया है तो दूसरी तरफ अपनी रचना के स्रोत का उल्लेख करके अपनी कृति की पल्लवग्राही समीक्षा से दूर रहने का संकेत भी कर दिया है–

नानापुराणनि गमागम सम्सतं यद्
रामायणे नियादितं कदाचिदन्यतोऽपि
स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथ गाथा
भाषा निबन्ध मति मंजुल मात नेऽति

अर्थात् बिना वेदों, पुराणों, शास्त्रों तथा अन्य प्रसिद्ध ग्रंथों का अध्ययन किए मेरे मानस-सरोवर में गोता लगाना व्यर्थ है, उन्होंने महान ग्रंन्थों के रचयिताओं को हार्दिक सम्मान प्रदान किया है और कुछ ग्रंथों के सम्बन्ध में अपना मत भी प्रकट कर दिया है–

व्यास आदि कवि पुंगव नाना।
जिन्ह सादर हरि सुजस बखाना।।
चरन कमल बंदउ तिन्ह केरे।
पुरबहुँ सकल मनोरथ मेरे।।
बंदउँ मुनि पद कुंज रामायन जेहिं निरमयउ
सखद बसु कोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित

तुलसीदास का मानना था कि पाषण्ड-वाद से सद्ग्रंथ लुप्त हो जाते हैं–

हरित भूमि वृन संकुल समुझि परहिं नाहिं पंथ।
जिमि पाखंड बाद तें लुप्त होहिं सद्ग्रंथ।।

भक्तिकालीन काव्य-कृतियों को पढ़ने से पता चलता है कि तत्कालीन कवि प्राचीन कवियों की रचनाओं का अच्छा अध्ययन करते थे तथा उनके भावों, विचारों एवं सूक्तियों को अपनाने में कोई संकोच नहीं करते थे। जो स्वयं पढ़ने में असमर्थ थे, वे दूसरों से सुनकर उनका महत्व आँकते थे और उन्हें स्वीकार अथवा अस्वीकार करते थे। उनकी रचनाओं में संस्कृत, प्राकृत एवं अपभ्रंश के कवियों के विचार, भाव अथवा सूक्तियों की उपस्थिति इसका प्रमाण है। यही नहीं, उस समय के कवि अपने ग्रंथों को पढ़ने की आवश्यकता पर भी बल देते थे और पढ़ने से होने वाले लाभों की भी चर्चा करते थे। तुलसीदास ने रामचरितमानस में यह कार्य बहुत प्रभावशाली ढंग से किया है।

भक्तिकाल की पुस्तकों में मानवता को जो महत्व दिया गया, जातीय भेदभाव को भुलाकर एकता के संवर्द्धन की जो वकालत की गयी, 'मानुस प्रेम भयउ बैकुंठी' का जो शंखनाद किया गया, सत्य-शील और सौन्दर्य के महत्व की जो आधारशिला रखी गयी, असत्य, अन्याय और अत्याचार की जो निन्दा की गयी, त्याग तथा सेवा को जो गरिमा प्रदान की गयी, कमजोरों को गले लगाने की जो परम्परा कायम की गयी, संघर्षशीलता और स्वतंत्रता की जो चिनगारी बिखेरी गयी, अलौकिक को लौकिक धरातल पर उतारकर मनुष्यत्व में जो देवत्व की स्थापना की गयी, उसका भारतीयता तथा भारतीयों की रक्षा एवं उत्थान में अनुशंसनीय योगदान रहा है। उत्तर भारत में संयुक्त परिवार की जो परम्परा आज भी अस्तित्ववान है, उसके लिए गोस्वामी तुलसीदास के योगदान को कौन नकार सकता है? किसी पुस्तक के माध्यम से लाखों लोग किस प्रकार अपना जीवन-निर्वाह कर सकते हैं, रामचरितमानस इसका प्रमाण है। ऐसी पुस्तकें जिन्हें पढ़ा जाए, रटा जाए, गाया जाए, अमिनीत किया जाए और कथा का माध्यम बनाकर हजारों-लाखों को शान्ति तथा आनन्द प्रदान किया जाए, हिन्दी के सिर्फ भक्तिकाल में ही लिखी गयीं हैं।

आज की पुस्तक संस्कृति की भक्तिकालीन पुस्तक संस्कृति से तुलना करना औचित्यहीन है क्योंकि वर्तमान पुस्तक संस्कृति में पुस्तक उद्योग का जो योगदान है, वह पहले नहीं था। आज लेखकों और पाठकों के बीच प्रकाशकों ने अपना एक महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। उनके प्रयास से आज पुस्तकें देश के सम्पूर्ण हिस्सों में पहुँच रही हैं, पुस्तक पढ़ने की सुप्त चेतना पुनः जागृत हो रही है तथा पुस्तकालयों में पुस्तकों की संख्या बढ़ रही है। भक्तिकाल में ऐसे प्रयास का अभाव था। उस समय ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ तैयार की जाती थी। पढ़ने की इच्छा रखने वाले उन्हें प्राप्त करके ही पढ़ते थे। परन्तु ग्रंथों के प्रति जो सम्मान उस समय था, आज नहीं है। लोग उन्हें सुरक्षित रखते तथा उनकी पूजा करते थे। पोथियों की आलोचना करने वाले कबीर भी कभी-कभी धार्मिक ग्रंथों की निन्दा करने वालों को आड़े हाथों लिया करते थे।

बेद कतेब कहहु मत झूठ।
सूठा जो न बिचारै।।

□□□

कलाओं का मकसद प्रभु को पाना है- पंडित बिरजू महाराज

शशिप्रभा तिवारी

नृत्य एक ऐसी विधा है, जिसमें गायन, वादन और नर्तन तीनों का संगम होता है। इसमें आनंद की जो अनुभूति है, वह कहीं और नहीं मिल सकती है। इस अनुभूति को जब कथक सम्राट पंडित बिरजू महाराज जैसे कलाकार जीवंत करते हैं, तब आनंद की पराकाष्ठा होती है। पंडित बिरजू महाराज को कथक नृत्य अपने पिता पंडित अच्छन महाराज और पंडित लच्छू महाराज व पंडित शंभू महाराज से विरासत में मिला। वैसे पंडित बिरजू महाराज ने लखनऊ स्थित पुश्तैनी घर 'कालका बिंदादीन की ड्योढ़ी' में पहली बार सार्वजनिक रूप से रसिकों के सामने नृत्य किया था। झऊलाल के पुल के इलाके में बनी ड्योढ़ी में उस दिन पंडित शंभू महाराज के बेटे कृष्णमोहन के जन्मोत्सव के मौके पर वह समारोह आयोजित था। उस ड्योढ़ी के आंगन में कथक का लंबा इतिहास रचा-बसा था। वहाँ दिन-रात गायन, वादन और सैकड़ों घुंघरूओं की ध्वनि गूँजा करती थी।

वह लखनऊ के अपनी पुरानी यादों को संजोए रखे हुए हैं। अपनी बचपन की यादों को याद करते हुए कहते हैं कि जब बहुत छोटा था, अम्मा मुझे काजल वगैरह लगाकर तैयार कर देती थीं। देर रात तक महफिल चलती रहती थी। मैं उनींदी हालत में ही नाच करता था। तब पाँच रुपये की बख्शीश पर दिल खुश हो जाता था। मैं नवाब रामपुर के दरबार का मान्यता प्राप्त कलाकार था, वहाँ मेरा वेतन ग्यारह रूपए मासिक था। चूंकि मेरे पहले गुरू पिताजी थे, पर उन्होंने मुझसे पाँच सौ रुपये नजराना लिया था। पिताजी मुझे बहुत प्यार करते थे। उनकी कमी आज भी मुझे खलती है। क्योंकि जब मैं दस साल का था, तभी वे हमें छोड़कर संसार को अलविदा कह गये थे।

बालक बृजमोहन मिश्र का जन्म बसंत पंचमी के दिन 4 फरवरी 1937 को हुआ था। उन्हें बचपन में नृत्य करने के अलावा गिल्ली-डंडा और पंतगें उड़ाने का शौक था। उनके पिताजी को अपने बेटे की प्रतिभा का शायद अंदाजा पहले ही हो चुका था। तभी तो बिमारी की अवस्था में उन्होंने किसी से कहा था कि मैंने जो तालीम अपने इस शिष्य को दिया है, उसके दम पर वह अपने पैर पर खड़ा हो जाएगा। इसके धमनियों में कला सींचित रक्त बह रहा है। मैंने बिरजू को अंग विन्यास, तत्कार, लयकारी, मुखविलास का अच्छा रियाज करवाया है। और आगे के मार्ग दर्शन के लिए मेरे दोनों भाई हैं ही।

हालाँकि, पिताजी के जाने के बाद पंडित बिरजू महाराज के लिए वह समय काफी संघर्ष का था। वह कभी कानपुर जाकर और कभी लखनऊ रहकर नृत्य सिखाते। उस समय इसके जरिए उन्हें पच्चीस रुपए मासिक की आमदनी होती थी। वह अपनी अम्मा के बारे में कहते हैं कि घर की महिलाओं में कथक और संगीत के प्रति काफी रूझान था। अम्मा को दादरा, ठुमरी, चैती का अच्छा ज्ञान था। वे अक्सर ठुमरी-दादरा गाती थीं। उन्हें गाता देख, मेरी भी इच्छा गाने की होती, इसलिए मैं उनसे गायन सीखने लगा। मैं अम्मा को बहुत पेरशान करता था। आज मैं जो कुछ भी हूँ, उसमें अम्मा का बहुत बड़ा योगदान है। पिताजी जहाँ भी जाते थे, मैं साथ होता था। वह अपने कार्यक्रम में कभी-कभी मुझे मौका दे देते थे। इससे स्टेज का तौर-तरीका मैं सीख गया और लोगों को देखकर कभी घबराहट नहीं हुई। मेरी पहली एकल प्रस्तुति कोलकाता में हुई थी। उस प्रस्तुति के समय मेरे साथ न पिताजी थे और न ही चाचाजी थे। मैंने अकेले मंच संभाला। लोगों की खूब वाह-वाही मिली। इसके बाद, मंच प्रस्तुति के लिए मुम्बई से बुलावा आया। मुझे आज भी लगता है कि हर शहर का असर कलाकार की प्रस्तुति पर पड़ता है। अगर, मुम्बई जाता हूँ तो वहाँ का वीटी स्टेशन, गेट-वे ऑफ इंडिया, लोगों की भागदौड़ एक बारगी आँखों के सामने से गुजर जाती है। वहीं, कोलकाता में धोती या पायजामा-कुर्त्ते और बगल में थैला लटकाए बंगाली बाबू की छवि आंखों में तैरती है। इन चीजों का प्रभाव मेरे नृत्य पर भी पड़ता है। करियर के मामले में मैं बंगाल को माँ, मुम्बई को पिता और दिल्ली को दोस्त मानता हूँ। मुझे बचपन का अम्मा का वह प्यार याद आता है। उन दिनों हम लखनऊ में रहते थे। जब दूसरे शहर में परफॉरमेंस के लिए जाता, तब वे खूब रोया करती थीं। मैं भी उनसे लिपटकर रोता, मन में ऐसा लगता कि पता नहीं कितनी दूर जा रहे हैं, दोबारा मुलाकात होगी या नहीं। अम्मा हमारी, भगवान के आगे हाथ जोड़ें खड़ी होकर सबकी खैरियत की दुआ करतीं।

लखनऊ घराने के कथक परंपरा में पंडित बिरजू महाराज छठी पीढ़ी के प्रतिनिधि हैं। कालका-बिंदादीन की ड्योढ़ी का लंबा और अनवरत इतिहास। इसकी नींव इलाहाबाद के हंडिया गांव में ईश्वरी प्रसाद मिश्र ने रखी थी। वह इस कला को लेकर हंडिया से लखनऊ पहुँचे। इस घराने में कई मशहूर कलाकार हुए, इनमें अड़गूजी, खड़गूजी, तुलारामजी, प्रकाशजी, ठाकुर प्रसादजी, कालकाजी, पंडित बिंदादीन महाराजजी, भैरों जी के नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। इसके बाद की पीढ़ियों में पंडित अच्छन महाराज, पंडित लच्छू महाराज और पंडित शंभू महाराज ने कथक को देश भर में लोकप्रिय बनाया। बहरहाल, आज के दौर में पंडित बिरजू महाराज के साथ पंडित मुन्ना शुक्ला, पंडित कृष्णमोहन, पंडित जयकिशन महाराज, दीपक महाराज, राममोहन महाराज, सतीश शुक्ला, त्रिभुवन महाराज अपने परिवार परंपरा को निभा रहे हैं। माना जाता है कि लखनऊ घराने से ही कथक का जयपुर घराना और रायपुर घराना अस्तित्व में आया। लखनऊ घराने के पैतृक निवास हंडिया को प्रकाश में लाने का प्रयास महाराजजी की शिष्या उर्मिला शर्मा ने किया। वहीं, महाराजजी की वरिष्ठ शिष्या शाश्वती सेन ने अपनी सूझ-बूझ और दूर दृष्टि के बल पर कथक को अंतर्राष्ट्रीय फलक पर विराजित किया है।

आज के समय में कथक नृत्य के पर्याय बन चुके पंडित बिरजू महाराज जब देश आजाद हुआ, उस समय राजधानी दिल्ली में थे। वह बताते हैं कि उस समय दंगा भड़कने पर वापस लखनऊ चले गए। लेकिन, दोबारा कला मर्मज्ञ कपिला वात्स्यायन के अनुरोध पर यहाँ आए। फिर यहीं के होकर रह गए। उस समय मैं निर्मला जोशी द्वारा संचालित संगीत भारती से जुड़ा। वहाँ लगभग साढ़े चार साल तक नृत्य सिखाया। उन दिनों मद्रास होटल में सुबह साढ़े चार बजे कॉफी पीकर, खुद तीन-चार घंटे रियाज करता था। मोहब्बत, काम की इबादत और पूजा है। जब अपने काम से सच्चा प्यार हो जाता है, तब मन दिन-रात उसी में डूबा रहता है। मेरा महबूब तो 'कथक-नृत्य' है। उससे सुंदर कोई हो ही नहीं सकता। मैं दिन-रात उसी के

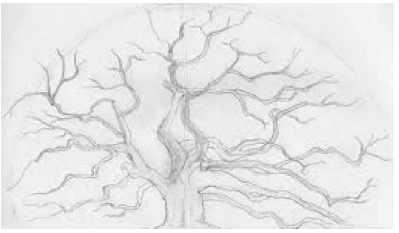

ख्याल में डूबा रहता हूँ। उसे सजाने-संवारने की कोशिश में जुटा रहता हूँ कि कब कौन-सा टुकड़ा और तिहाई मन में आ जाए? फिर उसे नाच में कैसे पिरोया जाय? हमारे नृत्य में कृष्ण, जो मेरे आराध्य हैं। उनसे बढ़कर प्रेम का संदेशवाहक कौन होगा? हमारे नृत्य में राधा-कृष्ण, यशोदा-कृष्ण, गोपिका-कृष्ण और ग्वाल-कृष्ण का प्रेम, अनन्य प्रेम कितना शाश्वत और सनातन था, वह आज भी नृत्य करते हुए, मैं कहीं गहराई से महसूस करता हूँ। उनका वह नैसर्गिक प्रेम शब्दों में कह पाना संभव नहीं। मुझे अपने समकालीन कलाकारों, अपने प्रशंसकों और अपने शिष्य-शिष्याओं से इतना प्यार-मोहब्बत मिला कि उन्हें यादकर मेरा रोम-रोम पुलकित हो उठता है। केलु बाबू के साथ जब मैंने डांस किया, तो वह भी हमारे आपसी प्रेम का ही प्रतीक था। हमें याद आता है, वह समय जब वरिष्ठ कुचिपुड़ि डांसर वेम्पति चिन्ना सत्यम ने अपने गाँव कुचिपुड़ि का विशाल द्वार बनवाया था, तब उसका उद्घाटन उन्होंने मेरे हाथ से करवाया था। दरअसल, हम तो फकीर हैं। कथक का एकतारा लिए फिरते रहते हैं।

महाराजजी आज के बदलते समय जहाँ पड़ोसी को पड़ोसी की, परिवार वालों को अपने घर के लोगों की परवाह नहीं है। इस स्थिति से वह काफी चितिंत नजर आते हैं। वह कहते हैं कि आजकल के इंसान की व्यस्तता और दौड़-धूप काफी बढ़ गई है। वह अपने लिए वक्त नहीं निकाल पाता है। मैंने देखा है कि शाम होती थी, हमारे चाचाजी के पास पान वाले, आकर बैठ जाते थे। वह कहते कि कल भर के राशन का इंतजाम हो गया। अब आपके साथ बैठकर तबला बजाऊँगा। इसी तरह एक चिकनकारी का काम करते थे, वह आ जाते थे। वे ठुमरी बहुत अच्छा गाते थे। अपने लिए चैन से बैठने, जिंदगी को सुकून से जीने का वो अंदाज नहीं रहा। अब एक ही कमरे में टी॰वी॰ के सामने पूरा परिवार कभी बैठ भी जाए, तो कोई आपस में बात नहीं करेगा। ऐसे में प्यार की उम्मीद किससे कर सकते हैं? दुनिया बदलती रहती है। फैशन बदलता रहता है। जो पुराना हो जाता है। दोबारा जब काफी दिनों बाद लौटता है, तो वह नया फैशन कहलाने लगता है। वैसे ही वैंलनटाइन-डे, मदर्स-डे, फादर्स-डे हमारे यहाँ मनाया जाने लगा है। अरे, अगर बगीचे में इम्पोर्टेड पौधे उगाएँगे, बसंत की बहार का पता कैसे चलेगा? उसका पता तो आम के पेड़ पर मंजर के फूटने, टेसू के फूल के खिलने और महुए के फलने-फूलने से ही चलेगा। बसंत का समां तो वो नजारा ही बाँधेगा। हमें तो प्रेम में वो खुशबू कहीं से आती दिखती नहीं। हमारी संस्कृति में प्रेम एक आवरण में छिपा एहसास होता था। लाज, शर्म, हया में डूबी शालीनता का अपना मिजाज हुआ करता था। इसकी प्रेरणा हमें 'लाजवंती' के पौधे से लेनी चाहिए। जिसका आज भी वही स्वभाव है, उसे अंगुली से छुइए कि वह सकुचाकर सिमट जाती है। एक छोटा-सा पौधा अपने संस्कार को नहीं भूलता और हम भूल जाते हैं। वाकई, प्रेम का स्पंदन तो लाज और पर्दे में है, न कि प्रदर्शन में। मोहब्बत तो एक-दूसरे का दुख-दर्द बाँटने से पलता-बढ़ता है। तभी तो कहा गया है कि प्रेम ने बाड़ी उपजे, प्रेम ने हाट बिकाय।

विधाता ने हमें सब कुछ दिया है—ऐसा पंडित बिरजू महाराजजी का मानना है। वह कहते हैं कि यदि देव दर्शन और बुजुर्गों-गुरु के आशीर्वाद के जरिए जीवन बिताया जाए तो सुख मिलेगा। हमारे देश में वैदिक काल से ही विद्या को महत्त्व दिया गया है। विद्या का मुख्य आधार पुस्तकें हैं। पुस्तकें हमारी सांस्कृतिक धरोहर हैं। सदियों से रत्नाकर, पद्माकर, सूरदास, तुलसीदास, मीराबाई, कवि गुरु की रचनाएँ पुस्तकों के जरिए हमारे पास पहुँची हैं और आने वाली पीढ़ी के पास पहुँचेगीं। महान रचनाकारों की रचनाएँ पुस्तक के माध्यम से हम तक आई। इन्हीं को आधार बनाकर, हमारे जैसे कलाकार गाते हैं या इन रचनाओं पर नृत्य करते हैं। मुझे लगता है कि साहित्य, संगीत और कलाओं का एक ही मकसद प्रभु को पाना होता है।

□□□

अच्छी किताबें पाठकों की मोहताज नहीं

सूरज प्रकाश

अच्छी किताबें पाठकों की मोहताज नहीं होतीं। वे अपने पाठक खुद ढूंढ़ लेती हैं। उन्हें कहीं नहीं जाना पड़ता, पाठक ही अच्छी किताबों की तलाश में भटकते रहते हैं। अच्छी किताबें पा लेने पर पाठक की खुशी का ठिकाना नहीं रहता। किताबें जितनी ज्यादा पुरानी, पुरानेपन की हल्की-सी गंध लिये और हाथ लगाते ही फटने-फटने को होती हैं, उतनी ही ज्यादा कीमती और प्रिय होती हैं। किताबें जितनी ज्यादा मुड़ी-तुड़ी, कोनों से फटी हुई और पन्ना-पन्ना अलग हो चुकी होती हैं, उनके नसीब में उतने ही ज्यादा पाठक आये होते हैं।

अच्छी किताबें पतुरिया की तरह होती हैं जो अक्सर अपने घर का रास्ता भूल जाती हैं और दर-दर भटकते हुए नये-नये पाठकों के घर पहुंचती रहती हैं। खराब किताबें सजी-संवरी एक कोने में सती सावित्री की तरह बैठी अपने पाठक की राह देखती टेसुए बहाती रहती हैं। बदकिस्मती से गलत जगह पड़ी अच्छी किताबें भी अपने पाठकों की राह देखते-देखते दम तोड़ देती हैं और उनमें भरा सारा ज्ञान सूख जाता है। अच्छीं किताबें अच्छे पाठकों को देखते ही खिल उठती हैं और खराब पाठकों की सोहबत में कुम्हलाती रहती हैं।

किताबें हमारी सबसे बड़ी शिक्षक होती हैं। ये बिना हाथ में छड़ी लिये या गाल पर थप्पड़ मारे हमें शिक्षा देती हैं। ये न तो कभी हम पर छींटाकसी करती हैं और न ही कभी गुस्सा होती हैं। हम उनके पास कभी जायें तो वे हमें सोते हुए नजर नहीं आयेंगी। हम उनसे कुछ भी जानकारी मांगें या कोई भी उलटा-सीधा सवाल पूछें, वे तब भी हमसे कुछ भी नहीं छुपायेंगी।

हम उनके साथ शरारत करें तो भी वे कुछ भी नहीं बोलेंगी। कितनी भली होती हैं किताबें कि किसी भी बात का बुरा नहीं मानतीं। आप कबीर साहब के पास मिलान कुंडेरा को बिठा दीजिये या ओरहान पामुक को रहीम के पास बिठा दीजिये, दोनों ही किताबें बुरा नहीं मानेंगी, आप अगली सुबह उनकी जगह बदल कर पामुक को श्याम सिंह शशि के पास और कामू को संत रैदास के पास जगह दे दीजिये, वे इसका भी बुरा नहीं मानेंगी और अपने पाठकों को ज्ञान देने में कोताही नहीं करेंगी।

सबसे ज्यादा वे किताबें पढ़ी जाती हैं जो पाठक कहीं से चुरा कर लाता है। फिर उन किताबों का नम्बर आता है जिन्हें हम उधार मांग कर तो लाते हैं लेकिन वापिस नहीं करते। फुटपाथ पर बिक रही अचानक नजर आ गयी वे किताबें भी खूब पढ़ी जाती हैं जिनकी हम कब से तलाश कर रहे थे। पूरे पैसे दे कर खरीदी गयी किताबें भी अपना नम्बर आने पर आधी अध

कितनी बार तो ऐसा होता है कि हम अच्छी किताब पढ़ने में इतने डूब जाते हैं कि खाना, पीना और कई बार पूजा करना तक भूल जाते हैं। सही भी है, किताब जो खुराक दे रही है, और ज्ञान दे रही है, वह किसी पूजा अर्चना से कम है क्या?

ूरी पढ़ ही ली जाती हैं। लाइब्रेरी से लायी गयी किताबें पूरी नहीं पढ़ी जातीं और उन्हें वापिस करने का वक्त आ जाता है। रोजाना डाक में उपहार में आने वाली या किसी आयोजन में अचानक लेखक के सामने पड़ जाने पर भेंट कर दी गयी किताबें कभी नहीं पढ़ी जातीं। कई बार तो भेंट की गयी किताबें भेंटकर्ता के जाते ही किसी और पाठक के पास ठेल दी जाती हैं। वह आगे ठेलने की सोचता रहे या बिन पढ़े एक कोने में रखे रहे। कोर्स की किताबें पढ़ने में हमारी नानी मरती है और समीक्षा के लिए आयी किताबें भी तब तक पढ़े जाने का इंतजार करती रहती हैं, जब तक संपादक की तरफ से चार बार अल्टीमेटम न मिल जाये। तब भी वे कितनी पढ़ी जाती हैं। हम जानते हैं।

पुस्तक मेलों में खरीदी गयी किताबें भी पूरे पढ़े जाने का इंतजार करते करते थक जाती हैं और अगला पुस्तक मेला सिर पर आ खड़ा होता है। यात्रा में टाइम पास करने के लिए स्टेशन, बस अड्डे या एयरपोर्ट पर खरीदी गयी किताबें यात्रा में जितनी पढ़ ली जायें, उतना ही, बाकी वे कहीं कोने में या बैग ही में पड़े-पड़े अपनी कहानी का अंत बताने के लिए बेचैन अपने इकलौते पाठक को वक्त मिलने का इंतजार करती रहती हैं।

दरअसल किताबें हमें दोस्त बनाना चाहती हैं और हमारे साथ अपना सब कुछ शेयर करना चाहती हैं, लेकिन हम हैं कि अच्छी किताबों से मुंह चुराते फिरते हैं। हम जानते हैं कि किताब छोटे बच्चे की तरह हमारे सीने से लग जाने को छटपटा रही हैं लेकिन हम हैं कि जूते पर तो चार हजार रुपये खर्च कर देंगे, बच्चे को खिलौना भी हजार रुपये का दिलवा देंगे लेकिन हम किताब की हसरत भरी निगाहों की अनदेखी करके आगे बढ़ जायेंगे। भला बंद किताबें भी किसी को कुछ दे सकती हैं!! नहीं ना!!

सोचता हूँ कि पूरी दुनिया में जितनी किताबें छपती हैं, उनमें से कितनों को पाठक नसीब होते होंगे और कितनी किताबों के जितनी प्रतियाँ छपती हैं उनमें से कितनी प्रतियाँ बिन खुले ही रह जाती होंगी। कई किताबों को तो पूरी उम्र बिता देने के बाद भी एक भी पाठक नसीब नहीं होता।

आप एक बार देखिये तो सही किताबें पढ़ने का सुख। मान लीजिये आप गांधी जी की आत्मकथा पढ़ रहे हैं और साथ में कॉफी की चुस्कियाँ ले रहे हैं। आपको थोड़ी देर में ही लगने लगेगा कि गांधी जी खुद आपके पास आ बैठे हैं और अपने आश्रम का कोई किस्सा खुद आपको सुना रहे हैं। कितनी बार तो ऐसा होता है कि हम अच्छी किताब पढ़ने में इतने डूब जाते हैं कि खाना, पीना और कई बार पूजा करना तक भूल जाते हैं। सही भी है, किताब जो खुराक दे रही है, और ज्ञान दे रही है, वह किसी पूजा अर्चना से कम है क्या? अब किताबों के कुछ रोचक प्रसंग-

प्रसंग एक:

जार्ज बर्नाड शॉ एक दिन फुटपाथ पर किताबों के ठीये के पास से गुजर रहे थे तो उन्हें सामने पुरानी किताबों के ढेर में अपनी एक किताब नजर आयी। उनकी यह देखने की उत्सुकता स्वाभाविक थी कि इस किताब का फुटपाथ तक पहुंचने का रूट क्या रहा होगा। उन्होंने किताब उठायी तो देखा कि अरे, ये प्रति तो वे अरसा पहले एक मित्र को भेंट कर चुके थे और उस पर उनका खुद का लिखा सप्रेम भेंट और उनके हस्ताक्षर भी हैं। उन्होंने किताब वाले से पूछा कि कितने में दी ये किताब तो उसने बताया एक पाउंड। बर्नाड शॉ बिगड़े- लूट मचा रखी है क्या, ये मेरी लिखी किताब है और तू एक पाउंड मांग रहा है, ला दे चालीस पेंस में। और वे उसे रेजगारी थमा के किताब घर ले आये। आराम से बैठ कर उन्होंने पहली भेंट के नीचे लिखा, तुम्हें पुन: भेंट प्रिय मित्र, हस्ताक्षर किये, तारीख डाली और नौकर के हाथ किताब उसके पास दोबारा भिजवा दी।

प्रसंग दो:

सीनियर बच्चन (हरिवंश जी) जब दिल्ली से अपना एमपी वाला राजपाट छोड़ कर हमेशा के लिए बंबई आ रहे थे

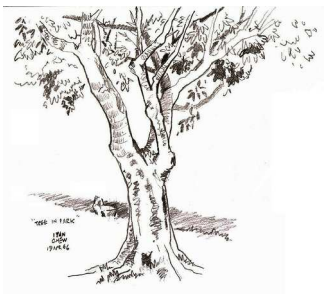

तो उन्होंने कबाड़ी को बुलवा कर लगभग 5000 किताबें तौल कर बेची थीं। निश्चित ही इन 5000 किताबों में खरीदी गयी, भेंट में आयीं, समर्पित की गयीं किताबें भी रही होंगी। कुछ बेहद कीमती किताबें भी रही होंगी। कितना ही अच्छा होता अगर कुछ दिन पहले उन्होंने किसी भी अखबार में फोन करके इस आशय की टिप्पणी छपवा दी होती कि कोई भी पाठक चाहे तो उनके घर आ कर अपनी पसंद की किताबें ले सकता है।

तीसरा प्रसंग एक खराब किताब का:

मुंबई में एक साहित्यिक आयोजन चल रहा था, कई वरिष्ठ रचनाकार बाहर से आये थे, उस वक्त निर्मल वर्मा जी वक्ता के रूप में अपनी बात कह रहे थे। पिछले दिन के सत्रों की खबर तस्वीरों सहित अखबारों में छपी थीं। तभी सफारी सूट पहने एक सज्जन भीतर आये। वे मझले लेवल के कारोबारी आदमी लग रहे थे। मंच की तरफ देखा तक नहीं कि कौन हैं वहाँ। आस-पास का जायजा लिया और बाहर खड़े अपने ड्राइवर को इशारा किया। दो मिनट में ही उनका ड्राइवर किताबों के दो बंडल लिये अंदर आ गया। अब जनाब ने एक-एक आदमी के पास जा कर उसका नाम पूछ कर किताबें भेंट करने लगे। प्रिय भाई अलां को सप्रेम भेंट और फलां को सप्रेम भेंट। मेरे पास भी आये, नाम पूछा, आंखें मिलाने या अपना नाम बताने की जरूरत नहीं समझी और एक और सप्रेम भेंट टिका गये। किताब देखी- उनकी पीएचडी की थीसिस थी। कविता में रस और रस में कविता टाइप कुछ नाम था।

शाम को डिनर का प्रोग्राम था इसलिए मैं कपड़े बदल कर जब पांच बजे के करीब घर से वापिस आया तो वही सज्जन अपनी थीसिस का अगला बंडल निपटा रहे थे। भला रोज-रोज थोड़े ही मिलते हैं इतने सारे गुण ग्राहक एक साथ। अभी मैं बैठा ही था कि एक बार फिर मेरे पास आ कर मेरा नाम पूछने लगे। मैंने बताया- सुल्तान अहमद। एक और सप्रेम भेंट- सुल्तान अहमद के नाम। दोनों प्रतियां मेरी कार में कई दिन तक रखी रहीं। एक दिन हिन्दी भाषी मैकेनिक किताब के पन्ने पलट के देख रहा था, तुरंत उसे थमा दी।

अब इस पूरे प्रसंग में उन भाई साहब, मेरा या मैकेनिक का क्या कसूर। किताब एक गलत हाथ से दूसरे गलत हाथ में जाती रही और अपने दुर्भाग्य को कोसती रही।

एक और प्रसंग:

शिमला में मेरे कथाकार मित्र रहते हैं राज कुमार राकेश। संयोग से हम दोनों ही इस समय (एक दूसरे की जानकारी के बिना) बंट्रेड रसेल की आत्म कथा पढ़ रहे हैं। किताब की भूमिका लिखी है माइकल फुट ने। 95 वर्षीय फुट इंगलैंड के जाने माने लेखक, पत्रकार और सुदीर्घजीवी एमपी रहे हैं। अब जी, राकेश जी को तलब लगी कि बंट्रेड रसेल साहब की लिखी किताब अन्आर्म्ड विक्टरी पढ़ें। ये किताब नेहरू और उनके बीच हुए खतो-किताबत को ले कर है। किताब मिली नहीं कहीं भी उन्हें। दिल्ली तक पूछ के देख लिया। मुझसे कहा तो मैंने अपनी लाइब्रेरी, ब्रिटिश लाइब्रेरी और लैंडमार्क सब जगह तलाशी, किताब नहीं ही मिली। भला 1963 में छपी किताब इतनी आसानी से थोड़े ही मिलेगी।

अचानक उन्हें सूझा और वे गाड़ी उठा कर सीधे शिमला स्थित एडवांस स्टडीज सेंटर में जा पहुंचे। किताब वहाँ थी। निकलवायी गयी। राकेश जी खुश लेकिन लाइब्रेरियन जी खुश नहीं। उन्होंने किताब देने से मना कर दिया कि नहीं, कोई फैकल्टी, रिसर्च स्कालर, फैलो या स्टाफ ही इस किताब की कभी भी मांग कर सकता है। हम उनकी अनदेखी करके बाहर वाले को किताब कैसे दे सकते हैं?

राकेश ने कहा कि जरा किताब दिखाना तो।

किताब संस्थान द्वारा 1965 में खरीदी गयी थी और पिछले 43 बरस में एक बार भी जारी नहीं करायी गयी थी।

बेचारे बंट्रेड रसेल और बेचारी किताब 'अनआर्म्ड विक्टरी'।

□□□

पुस्तक अक्षय निधि

मोहन स्वरूप भाटिया

पुस्तकें परम प्रभु-परमात्मा का साक्षात विग्रह हैं। संसार में अनेक धर्म हैं, अनेकानेक संप्रदाय हैं, अनेकानेक आराध्य हैं। ये आराध्य सर्वांगीण हैं, सार्वभौम हैं, सर्वगुण संपन्न हैं, आदर्श हैं, मार्ग दर्शक हैं। ये सारी विशेषताएँ या विशिष्टताएँ विद्यमान रहती हैं, पुस्तकों में। इसलिए कहा जा सकता है कि पुस्तकें ईश्वर का विग्रह हैं। ईश्वर का प्रतिरूप हैं। ईश्वर का प्रतीक हैं।

पुस्तकें साहित्य एवं संस्कृति की प्रतिनिधि हैं। पुस्तकों में शास्त्रीय एवं लोक परम्पराएँ हैं, नीति हैं, विचार हैं, रचनात्मक दृष्टि हैं। पुस्तकें पर्याय-कोश हैं, ज्ञान-कोश हैं। पुस्तकों में आलोचना हैं, समालोचन है। पुस्तकें हस्तलिखित हैं, आधुनिक शैली में कलात्मक रूप-रंग में मुद्रित हैं। ये प्राचीन हैं, अर्वाचीन हैं। पुस्तकों में पीड़ा है, संवेदना है, हर्षोल्लास है। हमारे अन्तर्मन में जो रहस्य है, हमारे होठों पर जो प्रस्फुटित है, वह समाविष्ट है पुस्तकों में। पुस्तकों में बच्चों की किलकारियाँ हैं, किशोरों की क्रीड़ाएँ हैं, यौवन की अंगड़ाईयाँ हैं, प्रौढ़ों की गंभीरता एवं वृद्धों की झुर्रियाँ हैं। पुस्तकों में विस्तार है, सारांश है, पद्य हैं, गद्य हैं, गद्य-गीत हैं, लघुकथा हैं, उपन्यास हैं, रेखाचित्र हैं, हास हैं, परिहास हैं। पुस्तकों में प्रेरणा है, भविष्य है, शक्ति है, अनुरक्ति में विरक्ति और विरक्ति में अनुरक्ति है। पुस्तकों में संदेश है शान्ति का, क्रांन्ति का। पुस्तकें दर्पण हैं समाज का, सामाजिक व्यवस्थाओं का। पुस्तकों में बोध हैं, संदर्भ हैं, वाद हैं, संवाद हैं, विवाद हैं, अनुवाद हैं। पुस्तकें गागर में सागर हैं, भूमिका हैं, उपसंहार हैं।

भारत की धर्म-संस्कृति तथा युद्ध क्षेत्र का इतिहास, शिला-लेखों, ताड़ तथा ताल वृक्षों की छाल और हस्त-निर्मित कागजों पर लिखित रूप में और पुस्तकों में सुरक्षित होने से, मृत इतिहास जीवित इतिहास बना। पुस्तकों में अंतर्निहित हैं भूगर्भ से लेकर अंतरिक्ष तक का ज्ञान, विज्ञान का अक्षर भंडार, प्राचीन से अर्वाचीन तक का इतिहास। इतिहास कहीं यत्र-तत्र बिखरी पांडुलिपियों, कहीं कपड़ों में बंधी हस्तलिखित पोथियों आदि से संगृहित कर पुस्तकों के रूप में संरक्षित हुआ है। पुस्तक रूप में संरक्षित होने से इन्हें पुनर्जीवन प्राप्त हुआ, अमरत्व प्राप्त हुआ है।

वर्तमान में पुस्तक संस्कृति को फिल्म तथा टी॰वी॰ चैनल्स ने आहत किया है। एक समय था जब कि दिन भर की व्यस्तता के पश्चात् अवकाश के क्षणों में स्वस्थ मनोरंजन या ज्ञानवर्धन के लिए पुस्तकें पढ़ी जाती थी। पुस्तकें पढ़ना भी मानसिक भोजन की तरह था। यह वह समय था जबकि परिवार के चढ़ती आयु के पुरुष एवं महिलाएँ गीता, रामायण या भक्तिपरक पुस्तकें पढ़ा करते थे।

प्रौढ़ व्यक्ति सिंहासन बत्तीसी, बैताल पच्चीसी, पंचतंत्र आदि की कहानियाँ पढ़कर ज्ञान तथा मनोरंजन प्राप्त करते थे। शिक्षित युवा वर्ग प्रेमचंद, शरतचन्द्र, बंकिम आदि साहित्यकारों की कहानियाँ एवं उपन्यास पढ़ता था।

वृद्ध आयु के व्यक्तियों की पुस्तकें धार्मिक भक्ति भावनाओं तक सीमित थी। प्रौढ़ व्यक्तियों का पुस्तक-पाठन पुस्तकों की उपलब्धता और एक-दूसरे के मध्य आदान-प्रदान तक सीमित रह गया था। युवकों में प्रकाशित पुस्तकों की बहु संख्या में चलन और मूल्य की अधिकता ने भी पुस्तक संस्कृति के समक्ष प्रश्न चिन्ह लगाया। खेल-कूद, फिल्म आदि के रंगीन पृष्ठों तथा टी०वी० चैनलों पर दिखाए जाने वाले उत्तेजक नृत्य-संगीत के प्रति बढ़ते रूझान के कारण भी पुस्तकें पढ़ने की मानसिकता शनैः शनैः कम होती गई है और पुस्तकें पढ़ने की परम्परा पर ग्रहण लग गया।

अतीत के पश्चात वर्तमान में अनवरत सृजन भी पुस्तक संस्कृति के प्रचार-प्रसार के लिए आवश्यक हैं। सौभाग्य से इस दिशा में संतोषजनक प्रगति हो रही है। शास्त्रीय परम्पराओं के अतिरिक्त गद्य गीत, नई कविताएँ, हाइकू, लघुकथा, रेखाचित्र, आत्मकथा आदि अन्यान्य आधुनिक विद्याओं में पर्याप्त साहित्य रचा गया है और प्रकाशित भी हुआ है किन्तु यह चिंता और चिंतन का विषय है कि वह जनमानस की पहुँच से परे रहा है।

प्रकाशित साहित्य में शोध प्रबंध, प्रथम पंक्ति के साहित्यकारों के टकसाली ग्रंथ, लोकप्रिय कविगण की काव्य कृतियाँ आदि समकक्ष साहित्यिक पुस्तकें तो विश्वविद्यालयों, महाविद्यालयों और साहित्य प्रकाशकों के भण्डार में पड़ी रहती हैं और बहुत वर्ष हो जाने पर इनका कागज मटमैला हो जाता है तथा दीमकों का शिकार भी हो जाती हैं।

तनावपूर्ण जीवन में पुस्तकों के अध्ययन, मनन, अनुशीलन की मानसिकता में बदलाव में पुस्तकों के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि भी एक पहलू रहा है। अब से पचास वर्ष पूर्व के युग में पुस्तकों का कागज और छपाई साधारण होती थी। आकर्षक मुख्यपृष्ठ तथा अंदर के पृष्ठों पर चित्र या रेखाचित्र का अभाव होता था किन्तु वर्त्तमान में आर्ट पेपर, ऑफसेट मुद्रण, बहुरंगी चित्र तथा कलात्मक सज्जा के कारण पुस्तकों की लागत तो बढ़ी ही है विक्रय प्रतिनिधियों तथा विज्ञापन पर होने वाले व्यय ने भी पुस्तकों की लागत मूल्य को दुगुना-तिगुना किया है। पुस्तक का 1000 का संस्करण भी वर्षों में बिक पाता है। पुस्तकें यदि दियासलाई आदि बहुसंख्या में बिकने वाली वस्तुओं में हों तो पुस्तक प्रकाशक कम लाभांश लेकर अधिक आय प्राप्त कर सकते हैं किन्तु सीमित बिक्री की दशा में ग्राहक को अधिक मूल्य देना पड़ता है, वहीं प्रकाशक को कम लाभांश मिल पाता है। इसका परिणाम यह हो रहा है श्रेष्ठ प्रचार-प्रसार को प्रोत्साहन प्राप्त नहीं हो पा रहा है। इसके लिए यह आवश्यक है कि कुछ कथाकार, उपन्यासकार एवं कवियों की लोकप्रिय रचनाओं के 'पॉकिट एडीशन' निकाले जाएँ, मूल्य अधिक न हों, उनके संबंध में नगर-नगर में साहित्य-चर्चा, संगोष्ठियाँ आयोजित कर पुस्तकें खरीदने की प्रवृत्ति जागृत की जाए।

पुस्तक संस्कृति शाश्वत है, पुस्तक संस्कृति की रसधारा प्रवाहमान है, पुस्तक संस्कृति की सहज निर्माण प्रक्रिया है। पुस्तक संस्कृति के उन्नयन में फिल्म, टी०वी० चैनलों और समाचार पत्रों के अर्धनग्न नारी-चित्रों आदि की विकृतियाँ व्यवधान अवश्य हैं किंतु संस्कृति के शाश्वत मूल्यों के समक्ष उनका महत्व गौण है। शैक्षिक एवं सांस्कृतिक विकास के साथ धीरे-धीरे विकृतियाँ समाप्त होंगी और पुस्तक संस्कृति के विकास की संभावनाएँ प्रभावी होती जाएँगी। पुस्तक संस्कृति के विकास के लिए विचार संगोष्ठी, सामाजिक लेखन, उपयोगिता, वैचारिक क्रांन्ति और स्वस्थ मनोरंजन प्रदायक साहित्य की पुस्तक प्रदर्शनी के सुनियोजित प्रयास भी किए जाने आवश्यक हैं।

□□□

ब्रिटेन की एक घटना

अनुसूइया सिंधात्रा

एक धनवान और एक आम आदमी दोनों मित्र थे। आम आदमी की पुस्तक पढ़ने में बहुत रुचि थी। अच्छे, संस्कारी और विचारवान पुस्तकें पढ़ना उसे बहुत भाता था। जबकि धनवान को पढ़ने में बहुत ऊब आती थी। उसके और पुस्तक प्रेमी मित्र के बीच काफी तर्क-वितर्क हुआ करता।

"यार सारा दिन किताबी कीड़ा बनकर नहीं रहा जा सकता, लोगों के साथ घुल-मिलकर रहना चाहिए। सामाजिक संबंधों और मैत्रीपूर्ण व्यवहारों के बीच तो जीवन जिया जा सकता है केवल पुस्तक पढ़ने से जीवन नहीं जिया जा सकता।"

"विश्व में पुस्तक जैसा कोई मित्र नहीं है दूसरे लोग हमारा साथ शायद छोड़ भी दें पुस्तक हमारा साथ कभी नहीं छोड़ती। पुस्तक की एक बात भी मनुष्य का जीवन परिवर्तन कर सकती है। यदि पसंद की पुस्तक मिलती रहे तो किसी चीज़ की आवश्यकता नहीं। जीवन जीने के लिए पुस्तक काफी है।"

धनवान मित्र ने गुस्से से कहा, "होशियारी की बात मत कर। यदि तुझे एक कमरे में बंद कर दूँ, तेरी पसंदीदा पुस्तकें और खानपान की व्यवस्था कर दूँ तो भी तू कितने दिन तक अंदर एकांतवास में खुश रह पायेगा? एक महीने में ही पागल हो जाएगा।"

"तुम भूल कर रहे हो, मैं महीने तो क्या वर्षों तक अपनी पसंदीदा पुस्तकों के साथ एंकात में रह सकता हूँ।" अब दोनों जोश मे आ गये थे।

धनवान मित्र ने शर्त रखी–"मेरे बंगले की ऊपरी मंज़िल खाली है। वहाँ मैं तेरे रहने की व्यवस्था करवा देता हूँ। समय-समय पर तुझे भोजन मिल जाया करेगा। जो पुस्तक तू चिट्ठी लिखकर माँगेगा, तुझे मिल जाएगी। लेकिन तुझे किसी की शक्ल देखनी भी नसीब न होगी। हाँ, सूर्य, चाँद, तारे आदि देखने की छूट देता हूँ। अगर इसी अवस्था में तू बीस वर्ष गुजार दे तो मैं तुझे बीस हजार पाउंड इनाम में दूँगा।"

शर्त तय हो गई। मित्र को ऊपरी मंज़िल पर बंद कर दिया गया। नीचे की ओर आने वाले दरवाजे, खिड़कियाँ सब बंद कर दिये गये। एक खिड़की में रस्सी लटकाई हुई थी जिसे खींचकर टिफिन, पुस्तकें बाल्टी में भरकर ऊपर पहुँचाई जा सकती थी। वह उससे पुस्तकें, पेन इत्यादि चिट्ठी लिखकर मँगवा लेता था।

कई महीने बीत गए।

बीस साल पूरे होने में अब केवल एक रात बाकी थी धनवान मित्र सोच रहा था कि कल उसे बाहर निकालकर अद्‌भुत पुस्तक-प्रेमी का पुरस्कार बीस हजार पाउंड दूँगा।

सुबह जब वह उसे निकालने के लिए ऊपरी मंजिल पर गया तो पाया कि वह पुस्तक प्रेमी मित्र एक छोटी-सी खिड़की से भाग गया था। वहाँ एक चिट्ठी पड़ी हुई थी।

प्रिय मित्र,

बीस साल तक तुम्हारे द्वारा भेजी गई पुस्तकों को पढ़कर मैं कितना समृद्ध हो चुका हूँ, वर्णन नहीं कर सकता। इतनी ढेरों पुस्तकों और इतने एकांत में इतनी लम्बी अवधि तक पढ़ने की जो सुविधा तुमने प्रदान की मैं उसके लिए तुम्हारा आभारी हूँ।

मित्र तुम्हारा उपकार जितना मानूँ उतना कम है। कल बीस वर्ष पूरे होने के कुछ घंटे पहले ही मैं वह स्थान छोड़कर जा रहा हूँ। क्योंकि मेरे लिए अब पाउंड या डॉलर का कोई महत्त्व नहीं है। वैसे भी तुमने मेरे लिए अब तक जो किया वह कर्ज मेरे ऊपर है। बीस हजार पाउंड लेकर मैं उसे और बढ़ाना नहीं चाहता। नैतिक दायित्व के चलते तुम्हें भी इनाम देने का बंधन न हो इसलिए मैं समय से कुछ घंटे पहले ही स्थान छोड़कर जा रहा हूँ। अलविदा।

मित्र, पुस्तक श्रेष्ठ मित्र है यह बात मैं अब और दृढ़तापूर्वक मानता और कह सकता हूँ। अच्छी पुस्तकें तुम भी पढ़ो इसी आशा के साथ तुम्हारा पुस्तक-प्रेमी मित्र।

□□□

पुस्तकें जीने का पर्याय बनती गयीं

रजनी गुप्त

शब्दों की दुनिया से जब से रू-ब-रू हुई, पुस्तिकों से एक अजीब किस्म का रोमांच, लगाव और छूने में ही जैसे पुलक सी महसूस होने लगी। किसी भी नई किताब को सबसे पहले सूंघकर, छूते हुए फिर पढ़कर एक अनिर्वचनीय किस्म का अहसास कब और कैसे पनपने लगा, ठीक-ठीक याद नहीं, बस इतना जरूर याद है कि कोर्स की किताबों से इतर पढ़ने का शौक 10 वीं से ही तेजी से बढ़ने लगा था । उस दौर की नंदन, चंपक, चंदामामा और पराग की रुपहली, सुनहरी दुनिया खूब आकृष्ट करने लगी। गर्मियों की छुटिटयों में यह पुस्तक प्रेम परवान चढ़ता, फिर आसानी से यह नशा नहीं उतरता। कभी जासूसी रहस्य भरे उपन्यासों की मायावी दुनिया में गोते लगाते हुए अतल समुंदर की गहराईयों में उतर जाती तो कभी बादलों संग आसमान की उंचाई तक पहुँच कल्पना लोक की सैर पर ऐसे निकलती फिर लौटकर आने की सुधि-बुधि बिसार देती। पुस्तक प्रेम का यह सफर क्रमशः सामाजिक राजनीतिक उपन्यासों की दुनिया से होकर सामाजिक उपन्यासों और फिर नितांत कल्पना में रची बसी दुनिया की मायावी सैर भी बेहद लुभावनी लगती। बचपन से उभरता, उमड़ता यह स्वतः स्फूर्त प्रेम ही धीरे-धीरे मुझे साहित्य की दुनिया की तरफ खींच लाया।

विश्वविद्यालय परिसर में पुस्तकालय में बिखरी अनगिनत विषयों पर केन्द्रित सामग्री और ढेर सारी साहित्यिक किताबों को आँखो ही आँखो में पीती रहती। फिर मंत्रमुग्ध, तन-मन से एकाग्रचित्त देखकर मन पुलकित और हाथ किन किताबों को पहले पकड़े, बेचैन आँखें किन्हें जल्दी पढ़कर उस अनूठे पठनीयता के सुख को महसूसें, यह याद नहीं मगर इतना जरूर याद है, 1985 से 1990 का वो खूबसूरत दौर, जब जेएनयू, साहित्य अकादमी, श्रीराम सेंटर लाइब्रेरी के साथ दिल्ली पब्लिक लाइब्रेरी समेत दिल्ली विश्वविद्यालय के पुस्तकालय की खाक छानती फिरी, कदम दर कदम अपने आप आगे बढ़ते रहे, हाथ अपने आप किताबें बटोर लाते और फिर किसी भी जगह बैठकर घंटों एकाग्रचित्त पुस्तकों की विशाल दुनिया के सैर पर निकल जाती।

बेशक पुस्तकों के जरिए मैंने सीखा, जीवन के अंधेरे पक्षों का मुकाबला करने के लिए किस तरह के आत्मबल को कैसे संचित किया जाए। महापुरुषों की आत्म कथाएँ या उनके द्वारा रचित किरदार जिंदा होकर जीने की ताकत बख्शने लगे। पुस्तकों में निहित ज्ञान का आलोक अद्‌भुत होता है, ये किताबें ही हैं जो दुख के गहनतम क्षणों में हमारी उंगली पकड़ हमें आगे चलने को उत्प्रेरित करती हैं। शानी के उपन्यास काला जल, राही मासूम रजा का आधा-गाँव, श्रीलाल जी का राग

दरबारी तो रांगेय राघव जी का कब तक पुकारूँ जैसी किताबें, इस तरह साहित्य की रोशनी के जरिए मैंने जाना और सीखा कि किस तरह दुख की निजी सत्ता धीरे-धीरे समूची सृष्टि को अपने अंदर समाहित कर लेती है, निजी दुख को वस्तुनिष्ठ तरीके से चीन्हने, जानने और बूझने के साथ उबरने की ताकत देता है साहित्य। धीरे-धीरे पुस्तकें पढ़ने की आदत दिन-ब-दन बढ़ती ही गई और फिर इस कदर उनसे लगाव होता गया कि अपने ठहरे, उदासीन और बेरंग जीवन में नए सिरे से रंग भरने की ललक और जीवितेषणा भी जगा दी साहित्य ने ।

सच तो ये है कि पुस्तकें पढ़ने की आदत जीवन में शानदार बदलाव ला सकती हैं, ज्यादा से ज्यादा लोगों के जीवन को पढ़ने, उनसे कुछ सीखने और मूल्यवान जीवन को बेहतर तरीके से गुणवत्तामूलक जीने की कला सिखाती हैं पुस्तकें। आश्चर्य के साथ क्षोभ होता है, जब आज लोग भौतिकतावादी जीवन शैली से जुड़ी असंख्य चीजें खरीद-खरीद कर घर भरते रहते लेकिन बात जब किताबों की आती तो बड़े विचित्र ढंग से नाक भौं सिकोड़ते हुए वे कह देंगे- 'अरे! इतनी महंगी किताबें, इन्हें कौन पढ़ेगा? ले भी लिया तो पढ़ने का समय किसके पास है?' फिल्में देखने या टी वी पर हर बकवासबाजी में रस लेने वाले यही लोग जब किताबों के नाम पर व्यस्त होने का रोना रोने लगते हैं, तो आज के दौर में सूखते जा रहे जीवन को फालतू चीजों से भरकर चुकते जीवन मूल्यों का रोना फिर क्यों रोते हैं ऐसे तथाकथित प्रबुद्धजन?

जबकि ज्ञान से भरी ये किताबें ही हैं जिन्हें पढ़कर इस आधी दुनिया की स्त्रियाँ जीने की ताकत बटोरती हैं फिर चाहे वे तसलीमा नसरीन की किताबें हों या सिमॉन द बवुआर का सेकेंड सेक्स। हम सब इस वस्तुसत्य से अवगत हैं कि किताबें पढ़कर महज नौकरी पा लेना या करियर की दौड़ में किताबें रट रटाकर आगे निकलना एक बात है लेकिन जीवन को हर वक्त वैसे प्रचुर ज्ञान के साथ-साथ चेतना विकसित करती हैं पुस्तकें। चैतन्य व्यक्ति प्रबुद्ध होकर तमाम सामाजिक रूढ़ियों, विसंगतियों और जड़ता को तोड़कर आत्मसंवर्द्धन के रास्ते आत्मविश्वास के सबसे ऊंचे पायदान पर बैठता है। अपने दैनिक जीवन के केंद्र से जब से पुस्तकें हाशिये पर फिकती गई, तभी से हमारे सामाजिक-पारिवारिक जीवन में कदाचार का प्रवेश तेजी से होता गया। एक दूसरे के प्रति वैमनस्य बढ़ता गया और कदाचित दुराव, अलगाव के साथ एक अजीब किस्म की असहिष्णुता वाला वैर-भाव आजकल हर रिश्ते को सुखा डालता है। पुस्तकों की महत्ता की बात चली तो आज के माहौल में पनपती पुस्तक संस्कृति की याद आने लगी। किसी रचनाकार के मन में आज यह संकट क्यूँकर नहीं है कि किस कदर पुस्तकों को हम अपने जीवन का केंद्र बनाने की दिशा में आगे बढ़ें? हमारे जीवन को मूल्यवान या संस्कारवान बनाने वाली यही पुस्तकें हैं, मगर इनके खरीदार नहीं रहे? हम मॉल कल्चर युग में किताबों को परे धकियाते हुए महज प्रदर्शन यानी दिखावे की संस्कृति में जीने लगे हैं।

प्रसंगवश याद आ रहा है कि देश भर में जितने भी पुस्तक मेले लगते हैं, अधिकांश मेलों में लेखक, लेखिकाएं खुद को सेलिब्रिटी मानकर अपनी निजी चमक धमकनुमा कौंध बिखेरने में लगे रहते हैं। पुस्तकों की महत्ता या गुणवत्ता को लेकर प्रकाशक भी सार्थक पहल करते नहीं दिखते। येन केन प्रकारेण बड़े लेखकों की अनुशंसा पर किसी भी बड़े प्रकाशक के नाम का इस्तेमाल करते हुए किताब को झटपट छपवा देना, बस यही है आज की फटाफट संस्कृति। पुस्तकों को लेकर अपनी मौलिक चिंता एवं सार्थक सुझावों को लागू करवाने की रणनीति पर अमल करने या अमली जामा पहनाने के बजाए उनका सारा ध्यान महज इस सेलिब्रिटी कल्चर तक सिमटता दिख रहा है। एक बानगी भर- 'अमुक अमुक चर्चित रचनाकार अपने खास किस्म के प्रशंसकों, रचनाकारों व आलोचकों की टीम के साथ किसी न किसी बुक स्टॉल पर आ धमकते, उसके बाद तमाम प्रकाशक लगे हाथ उसे किताबों का गट्ठर पकड़ाते, फिर साथ-साथ तस्वीरें खिंचवाने का सिलसिला चल पड़ता है। हर प्रकाशक अपने-अपने लेखकों की किताबों का लोकार्पण बड़े जोर शोर से करते हुए देखे जाते हैं। अपनी उसी मित्र मंडली या प्रशंसक मंडली के साथ आगे के स्टालों पर बढ़ते जाते, गोया जहाँ इनके चरण कमल पड़ेंगे, उसी स्टॉल पर वे उन्हें कृतार्थ कर देंगे। ऐसे नामचीन लेखक समुदाय अन्य समकालीन रचनाकारों की किताबों को उठाकर अपने घर तक जरूर लाते हैं, मगर घर पहुँचते ही वे किताबें कहाँ किस खोह में दुबक जातीं, पता ही नहीं चल पाता।'

हम सभी इस युगसत्य से वाकिफ हैं कि जब तक पुस्तक संस्कृति का विकास अनिवार्य तौर पर हर घर पर जरूरी नहीं हो जाता, तब तक बच्चों या बड़ों किसी के भी भीतर संवेदनशीलता, समझदारी या संस्कारवान व्यक्तित्व का परिमार्जन नहीं हो पाएगा। ज्ञान को पददलित होने से बचाने के लिए ही तो हमारे घरों में यह परंपरा या आदत विकसित है कि किताबों से पैर छू जाने भर से उसे माथे पर छुवाने जैसी पवित्र रस्म का निर्वहन आज तक किया जा रहा है। इस दिशा में सभी प्रबुद्धजनों को मिलजुल कर सोचना होगा कि इस समूची व्यवस्था के रेशे-रेशे, व्यक्ति-व्यक्ति के बीच स्वस्थ व सम्यक संबंधों पर निर्भर करते हैं, जो कि तभी संभव है जब अधिक से अधिक लोगों के जीवन-अनुभवों का अधिकाधिक प्रसार हो और पाठक जीवन के खट्टे-मीठे पक्षों से लाभार्जन करते हुए अपने अंदर के अंधेरों को रोशन कर सकें।

अपनी तरफ से नया, स्वत:स्फूर्त एवं मौलिक सूझबूझ से अज्ञात को ज्यादा से ज्यादा ज्ञात बनाने के लिए प्रतिबद्ध होने के लिए जरूरी है कि हम साहित्य के पास जाएं, यानी अनुभवों की पूँजी समेटे अमूल्य किताबें ही हमारी बैस्ट फ्रेंड, फिलॉस्फर एंड गाइड बनने में सक्षम हैं। हमारे समाज में आसपास पसरी संवादशून्यता की खाई खत्म हो, संवेदनशील रवैए में लचीलापन आए। वर्ग, जाति, वर्ण या पद की ऊँच-नीच के बीच की मोटी-मोटी दीवारों को ढहाकर तोड़ने में बड़ी जबरदस्त भूमिका है साहित्य की, कितनी बड़ी-बड़ी क्रान्तियों को जन्म देता है साहित्य। जो काम तोप तलवार नहीं कर पाती, वह साहित्य अकेले कर सकता है। एक समरस समाज की स्थापना की दिशा में एक कदम आगे बढ़ाने एवं इंसानियत के जज्बे को संवर्द्धित करने हेतु जो भूमिका किताबों की है, उससे किसी को इंकार नही।

इधर स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच जिस तरह की शुष्कता, निर्मम रवैया या क्रूरता की हदें लांघ जाने की घटनाओं में जिस तेजी से बढ़ोत्तरी हो रही है, उसके पीछे कहीं इस पुस्तक संस्कृति का विलुप्त होना या क्षीण होना तो नहीं? इस तरफ गौर करने की जरूरत है। विश्व भर में 23 अप्रैल को विश्व पुस्तक दिवस मनाये जाने की परंपरा विकसित हो चली है, जिसे हमें हर गांव, हर कस्बे, हर छोटे, मंझले शहर में ज्यादा से ज्यादा लोगों तक सस्ती से सस्ती पुस्तकें पहुंचाकर लोगों को जागरुक बनाते हुए, उनके बीच पसरे ईर्ष्या, द्वेष, असमानता, अलगाव और तेरे-मेरे के भेद को पाटने की दिशा में आगे बढ़ सकते हैं। यहाँ यह भी देखना होगा कि पुस्तकें खरीदकर महज गोदाम में रखने या पुस्तकालय में भर देने भर से हमारे कर्त्तव्य की इतिश्री नहीं हो जाती। जब तक पत्रिका या पुस्तक घर में रखना हमारी संस्कृति का अनिवार्य अंग नहीं हो जाता, तब तक केवल भाषण देने से काम नहीं चलने वाला। याद करिए वह दौर जब धर्मयुग जैसी पत्रिका पढ़ना या उसे घर में रखना आन-बान-शान की बात मानी जाती थी। वैसे ही जब तक हर घर में कुछ जरूरी किताबों की डैस्क स्थायी रूप से नहीं बनायी जाती, तब तक सामान्य से सामान्य आदमी के बीच किताबों की जागरुकता नहीं बढ़ेगी और तब तक किताबें हाशिये पर ही रहेंगी।

यह हरेक के जीवन का सबसे मूल्यवान, ज्ञानवान और अनिवार्य उपक्रम है। जो जितनी जल्दी इस सच को स्वीकार करके अमल में लाएगा, उतनी जल्दी उसके भीतर की कठोरता पिघलकर उसे कोमल, उदारमना और सौम्य, संतुलित इंसान में तब्दील कर सकती है। तो आइए! सदियों तक के अर्जित जीवन अनुभवों का निचोड़ और ज्ञान के समुंदर में से चंद बूंदें हम भी अमृत रस की तरह ग्रहण करें। यह समुंदर अथाह है, और जीवन बहुत-बहुत छोटा और अत्यल्प है, तो क्यों न हम इस बेशकीमती समय को अपनी मुट्ठी में भर लें? विश्व भर का ज्ञान-विज्ञान, सभ्यता, संस्कृति, आचार-विचार, इतिहास, जीवन शैली, और न जाने कितनी विभिन्नताओं के बीच साम्यता का रास्ता तलाशता जीवन और न जाने कितने युगों की धड़कनें शुमार हैं हमारी इन किताबों में?

जी हाँ, इनके पन्नों में दर्ज हैं इतिहास और स्मृति के अनमोल पगचिन्ह या ऐसे अनमिटे रास्ते जिन पर चलकर हम युगों पुरानी सभ्यता, संस्कृति को फिर से महसूस कर सकते हैं। अतीत में हुई भूलों या चूकों पर पुनर्विचार कर नए सिरे से संशोधित करते हुए पुनर्नवा होकर रच सकते हैं एक और सुंदर व ताजातरीन जीवन जिसकी खुशबू देश-देशांतर तक विस्तीर्ण होकर युगों-युगों तक एक जिंदा जिंदगी का जीवंत दस्तावेज बन जाती है। तो ये होती है पुस्तकों की महत्ता, या ताजिंदगी चलने वाला अमिट प्रभाव। आज के चकाचौंध भरे तेज जीवन रफ्तार में तड़क-भड़क वाली संस्कृति के विद्रूप तले जहाँ लेखक सेलिब्रिटी बनने या कहलाने की ख्वाहिश पालने लगते हैं, उनसे ऐसी अपेक्षा करना क्या गलत होगा कि वे अपनी इस तथाकथित ख्याति या यशमोह में न पड़कर या चमक-दमक से लोभ संवरण करते हुए आम पाठक या आमजन की प्रतिबद्धता की दिशा में कुछ सार्थक सोच को अमली जामा पहनाएँ? हकीकत तो यह है कि जब तक ये मानव समाज या सभ्यताएँ जिंदा रहेंगी, तब तक इन पुस्तकों को भी अनिवार्य रूप से हमारे साथ जीना पड़ेगा, तभी युगों-युगों तक आने-जाने वाली अनगिनत पीढियाँ हमें यानी हमारे गुजरते समय के निशानों को पढ़ सकेंगी, उनसे कुछ जान सकेंगी, सीख सकेंगीं और हमारी प्राचीन सभ्यता और संस्कृति के पगचिन्हों पर चलने हेतु उत्प्रेरित हो सकेंगी। आमीन!

□□□

विश्व मुझसे चित्रों में बात
करता है, लेकिन मेरी आत्मा
संगीत में उत्तर देती है,
क्योंकि संगीत आत्मा के ताप
को शांत करने की शक्ति
रखता है

रवीन्द्र नाथ टैगोर

महाराष्ट्र में वाचन संस्कृति का विकास

डॉ. अर्जुन घरत

भाषा, मानव जाति को ईश्वर का वरदान है। भाषा वह साधन है, जिसके द्वारा मनुष्य अपने विचार, चिन्तन तथा अनुभवों की पूर्ण अभिव्यंजना करता है। वाणी का वरदान पाकर ही, मनुष्य जाति अन्य वाणी-विहीन प्राणियों की अपेक्षा विकास के पथ पर अग्रसर होने में समर्थ हुई है। भाषा ज्ञान प्राप्ति का मुख्य साधन है। इसके द्वारा बच्चे अपने माँ-बाप से ज्ञान पाते हैं, तथा पाठशाला और महाविद्यालयों में ज्ञानार्जन करते हैं। प्रौढ़, नई पुस्तको को पढ़कर अपने ज्ञान को परिमार्जित करते हैं। इस प्रकार पाठशाला या महाविद्यालयों में प्राप्त ज्ञान अन्य किताबों तथा ग्रंथों को पढ़ने से ही अधिक विस्तृत, व्यापक तथा ज्ञान की वृद्धि, व्यक्तित्व का निर्माण तथा दुनियाभर के ज्ञान-विज्ञान से परिचित करने की शक्ति सिर्फ वाचन में ही है।

वाचन एक कला है। यह ज्ञानार्जन की कुंजी है। विविध ग्रंथों के वाचन से ही मनुष्य जटिल से जटिल विषय पढ़कर समझ सकता है अपने जीवन की कठिनाईयों का हल ढूँढ़ता है। सुवाचन के बिना न तो कोई अच्छा वक्ता बन सकता है और न ही लेखक।

आज विज्ञान युग में जनसंचार माध्यमों ने अपना वर्चस्व इस प्रकार जमाया है कि मनुष्य की वाचन प्रवृत्ति को नष्ट कर दृक्-श्रव्य माध्यमों के अतिरेक के कारण मनुष्य की रुचि बदल गयी। पाश्चात्यों की तुलना में भारतीय लोगों में वाचन की रुचि कम दिख रही हैं। वाचन का महत्व प्रतिपादित करते समय थामस केंपीस ने कहा है ''मैं चारों ओर विश्रांति ढूँढ़ता फिरा मगर वह मुझे कहीं नहीं मिली। आखिर एक कोने में किताब पढ़ते समय वह मुझे मिली।''

भाषा के महत्वपूर्ण चार अंगों में से वाचन को अनन्य स्थान प्राप्त है। वाचन से ज्ञानप्राप्ति तो होती है, साथ ही ज्ञान के प्रचार-प्रसार का काम भी होता है। विचारों को व्यवहार का साथ देना वाचन से ही संभव है। व्यक्ति को सभी अंगों से विकास करना, उज्ज्वल भविष्य की ओर आगे बढ़ना, समृद्ध और सुख-शांति मय जीवन जीना है, तो वाचन ही एकमात्र साधन है। उसकी सहायता से ही हम सामाजिक घटनाओं को समझते हैं, उनका ऑकलन करते हैं और उपाय भी ढूँढ़ते हैं। सत्य-असत्य, अच्छे-बुरे, कटु-मधुर, शुभ-अशुभ, मंगल-अमंगल, भावनाओं का अंतर हम समझ सकते हैं।

सुख-शांति-संपन्नता धन से नहीं, अपनी अंतरात्मा और मन की शांति से मिलता है और अंतरात्मा और मन की शांति किताबों में होती है। मध्यकालीन भक्तों और संतों ने साहित्य के माध्यम से ही अपने समृद्ध अनुभवों और संपन्न विचारों की निधि हमें दी हैं। उन ग्रंथों को पढ़े बिना हमें वह ज्ञान प्राप्त नहीं होगा जो जीवन की अमर निधि है। कबीर, जायसी, तुलसी तथा सूरदास के काव्य को पढ़े बिना हमें जीवन का आदर्श, भक्ति की महत्ता और विश्व मानवता का संदेश नहीं मिल सकता।

विश्व कल्याण का वरदान मांगने वाले ज्ञानेश्वर महाराज ने ज्ञानेश्वरी के अठारहवें अध्याय में 'ग्रंथोपजीविये' कहा है। तुकाराम महाराज ने शब्दों को संपत्ति माना है। माँ-बेटे के अमर प्रेम का अमृतमय कलश साने गुरुजी ने 'श्यामची आई' के माध्यम से दिया है। कालिदास का नाटक 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' पढ़कर पाश्चात्य विद्वान गेटे प्रसन्नता से नाचने लगा था। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद, मराठी में खाडिलकर और अंग्रेजी के शेक्सपीयर के नाटक लोग आज भी दिलचस्पी से पढ़ते हैं। साहित्य हमें जीने की शक्ति देता है, सुंदर, सुनहरे सपने दिखाता है और ये सपने पूरे करने का बल देता है। तूफानों के बीच से मार्ग प्रशस्त करने वाला दीपस्तंभ यानि साहित्य। ये सब किताबें पढ़ने से ही होगा, वाचन से मनुष्य चिंतनशील बनता है।

आज मूल्यों का पतन हो रहा है, जीवन-मूल्यों की रक्षा करना, मानव का धर्म है। लेखक किसी रचना की निर्मिति करता है यानि मूल्यों की निर्मिति करता है। उन्हें आचरण में लाना, प्रत्यक्ष व्यवहार में लाना, जीवन की सफलता है। संतों के काव्य में जीवन-मूल्यों की प्रतिष्थापना है। महान तत्वज्ञानियों ने अपने भाष्य में इन्हीं मूल्यों की निर्मिति की है। जब हम उनका साहित्य पढ़ेंगे तब मूल्यों की यह अपूर्व कुंजी हमें मिलेगी जिसके प्रभाव से मानवता की रक्षा होगी, कारण साहित्यिकों का साहित्य हमें जीवन कैसे जीना है, इसका संदेश देता है। मनुष्य को प्राप्त ज्ञान की गहराई बढ़ाना है, उसकी व्याप्ति बढ़ानी है तो वाचन की जरूरत है, जिसके सहारे हम मानव जीवन अधिक सुंदर, सक्षम और लोककल्याणकारी बना पायेंगे।

किसी विद्वान ने कहा है, ग्रंथों के पठन-पाठन से हम एक ही जीवन में अनेक जीवन जीते रहते हैं। ये भाग्य सिर्फ किताबों में रुचि रखनेवालों को ही मिल सकता है। बहते पानी को नदी कहते हैं। उसी प्रकार शिक्षा का क्षेत्र भी नदी की धार के समान है। उसमें नित्य परिवर्तन आते हैं। उसमें युग की अभिव्यक्ति होती है। बदलता समाज, बदलती परिस्थिति, बदलते संदर्भ, विज्ञान और तंत्र ज्ञान, इन सबकी जानकारी हम वाचन संस्कृति से ही प्राप्त कर सकते हैं। वाचन एक शक्ति है जिसके सहारे हम दुनियाभर के महान साधकों, महर्षियों तथा विद्वानों से मिलते रहते हैं। वर्तमान में जीते हुए भूतकाल से संदेश और भविष्य की चिंता करने की क्षमता सिर्फ वाचन से ही संभव है। घर बैठे दुनिया की परिक्रमा, संपन्न-समृद्ध जीवन और व्यक्तित्व का परिपूर्ण विकास वाचन से ही संभव है। वाचन से ही मनुष्य का उत्साह बढ़ जाता है, घर बैठे मनोरंजन होता है, प्रसन्नता, विद्वता, बहुश्रुतता प्राप्त होती है। वाचन का महत्व प्रतिपादित करते समय महात्मा तुलसीदास कहते हैं -''करत-करत अभ्यास के जड़मति होय सुजान'' इस उक्ति में अभ्यास यानि वाचन का ही महत्व प्रतिपादित किया है।

आज संचार माध्यमों ने वाचन संस्कृति पर अतिक्रमण किया है। सस्ते में मनोरंजन होने के कारण समाज पर भी उनका जरूरत से ज्यादा प्रभाव रहा है। संचार माध्यमों में टी.वी. का अधिक प्रभाव रहा है। सैकड़ों चैनलों पर अनेक मालिकाएँ, विभिन्न प्रतियोगिताएँ, कौन बनेगा करोड़पति जैसे कार्यक्रमों का आकर्षण, नाच-गानों की बहार जैसे अनेक कार्यक्रमों ने लोगों की रूचि बदल दी है। अनेक ऐतिहासिक-पौराणिक व्यक्ति और घटनाओं पर आधरित मालिकाएँ देखकर समाज उसे ही ज्ञान का भंडार समझ बैठा और मूलग्रंथों को भूल गया है।

मराठी में 'वाचाल तर वाचाल' यह एक मुहावरा प्रचलित है। इसका अर्थ यही है कि अब सिर्फ पढ़े-लिखे होकर काम नहीं चलेगा, आपको वाचने का, पढ़ने का शौक निरंतर होना चाहिए। तो ही नये-ज्ञान-विज्ञान में आप टिक सकेंगे।

महाराष्ट्र में वाचन संस्कृति के विकास के लिए खास प्रयास किए गए हैं। बाल साहित्य, किशोर साहित्य, साहस कथा, मनोरंजन साहित्य की निर्मिति कर बचपन से ही वाचन की रूचि निर्मित की जाती है। अन्य भाषाओं से श्रेष्ठ रचनाओं का अनुवाद कर मराठी साहित्य को समृद्ध किया जाता है। मराठी वाचन संस्कृति के विकास में अनुवादित साहित्य का बड़ा योग रहा है। रहस्य कथा, अद्‌भुत कथा, एकांकी और नाटकों ने महाराष्ट्र में धूम मचा दी थी। मराठी मनुष्य को तो 'नाट्यवेडा', 'नाटकों का दीवाना' कहते हैं। यहाँ की संस्कृति-संवर्द्धन में नाटकों का बड़ा योग रहा है। दूर-दराज गाँवों में भी नाटक खेले जाते रहे हैं, अत: नाटक पढ़ने का शौक बच्चों से बूढ़ों तक रहा है, जिससे वाचन की रुचि कायम रही। महाराष्ट्र में लोकजागृति का वह एक सशक्त माध्यम भी रहा है।

महाराष्ट्र में वाचन संस्कृति रूढ़ होने के लिए अनेक सामाजिक कार्यकर्ता और रचनाकारों ने खास प्रयास किये हैं। शहरों में समृद्ध ग्रंथालयों का निर्माण होना कोई आश्चर्य की बात नहीं परंतु पुस्तक प्रेमियों के सहारे गाँवों में भी छोटेखानी

ग्रंथालय सुशोभित होने लगे। गाँव वाले किताबी दुनिया से परिचित होने लगे। सार्वजनिक ग्रंथालयों में रोज के अखबारों को पढ़नेवालों की भीड़ बढ़ती गयी है। रोज के समाचारों के साथ लोगों को वाचन और किताबों का महत्व समझ आने लगा।

नयी पीढ़ी के नौजवान इस क्षेत्र में पीछे नहीं है। शरद अष्टेकर नामक एक युवक ने वाचन संस्कृति के प्रचार के लिए आंदोलन ही छेड़ रखा है। इस आंदोलन का वह एक मात्र सैनिक और सेनापति है। विदर्भ जैसे पिछड़े इलाकों में सिर पर किताबों का बोझ लेकर यह युवक गाँव-गाँव भटकता रहा। स्कूल-कॉलेज ग्रंथालय, सार्वजनिक स्थान में जाकर तथा वैयक्तिक संपर्क रखकर कम कीमत वाली पुस्तकें, सामान्य व्यक्ति भी खरीद सकेगा इस प्रयास में वह विदर्भ के गोंदिया, भंडारा, यवतमाल, बुलढाणा, वाशिम, नागपुर, गडचिरोली जैसे ग्यारह जिलों में पुस्तकें बेचता फिरता रहा है। गाँव-गली, नगर-मोहल्ला, गिरि-पर्वतों से उसका मार्ग जा रहा था। इस कार्य में डॉ. अभय बंग व डॉ. रानी बंग तथा उनकी 'निर्माण' इस युवा संघटन की भी सहायता मिल गयी। निर्माण के शिविर (अधिवेशन) में उसने पुस्तक प्रदर्शनी आयोजित किया था जिसमें दो दिन में बीस हजार रूपयों की पुस्तकें बेची गयीं। मेलाघाट जैसे अतिदुर्गम इलाकों में उसने पुस्तक प्रदर्शन आयोजित कर तीन दिन में चालीस हजार की पुस्तकें बेच डाली थीं। चंद्रपुर में आयोजित 85वें अखिल भारतीय मराठी साहित्य संमेलन में उसने दो लाख रूपयों की किताबें बेच कर रिकॉर्ड स्थापित किया था। इस युवा पुस्तक प्रेमी की यह लगन देख कर प्रकाशक भी उसे पुस्तकें उधार देने लगे। इसका लाभ उठाकर उसने पाठकों तक सस्ते में किताबें भेजने की योजना बनायी। उसने विदर्भ के ग्यारह जिलों में पुस्तकों की रिटेल चेन शुरू की। 250 रूपये सालाना फी लेकर उसने पाठकों को 'मायमराठी पुस्तक सभासद' योजना के सदस्य बनाये। इस योजना के अंतर्गत वह पुस्तक खरीदी पर पचीस प्रतीशत छूट देने लगा। इस प्रकार वह महँगाई के जमाने में पाठकों को सस्ते में किताबें उपलब्ध कराने लगा। शरद जैसे सामान्य युवक की प्रेरणा से महाराष्ट्र के गाँव-गाँव ऐसे जिद्दी युवक खड़े हो जाएंगे जिससे वाचन संस्कृति का प्रचार प्रसार होता रहेगा।

महाराष्ट्र में कई सालों से 'अखिल भारतीय मराठी साहित्य परिषद' का अधिवेशन आयोजित करने की परंपरा है। हाल ही में जनवरी 2013 में अधिवेशन का आयोजन चिपळूण (रत्नागिरी) में संपन्न हो गया। इस अधिवेशन की चर्चा भारत और विदेश के मराठी भाषी प्रेमियों में हो रही थी। अधिवेशन में नाटक, उपन्यास, काव्य आदि साहित्यिक विधाओं की चर्चा होती है। इस अधिवेशन के समान, हर साल मराठी नाट्य साहित्य का

महाराष्ट्र जैसे नाट्यप्रेमी है वैसे ही काव्यप्रेमी भी। यहाँ गाँव-गाँव में और शहर के हर मोहल्ले में कवि हैं। ये कवि अपने काव्य-संग्रहों का प्रकाशन अपने गाँव में करते हैं।

अधिवेशन होता है। 'अखिल भारतीय मराठी साहित्य परिषद' की शाखाएँ हर जिलें में और जिले के हर तहसील में और तहसील के अनेक इलाकों में कार्यरत हैं। ये सभाएँ भी साहित्य सम्मेलनों का आयोजन करती हैं जिससे शहरी और ग्रामीण जनता में साहित्य के प्रति आकर्षण, रुचि का निर्माण होता है। नई रचनाओं के बारे में जानकारी मिलती है। सामान्य जनता भी अपनी हैसियत और रुचि के अनुसार किताबें खरीदते हैं। विविध ग्रंथ पढ़ते हैं। साहित्य के प्रति उनकी रुचि बढ़ने से लोग वाचन के प्रति उन्मुख होते हैं।

महाराष्ट्र जैसे नाट्यप्रेमी है वैसे ही काव्यप्रेमी भी। यहाँ गाँव-गाँव में और शहर के हर मोहल्ले में कवि हैं। ये कवि अपने काव्य-संग्रहों का प्रकाशन अपने गाँव में करते हैं। इस प्रकाशन कार्यक्रम में गाँव के शिक्षित-अशिक्षित लोग आते हैं और दो-चार घण्टे गाँव का वातावरण काव्यमय हो जाता है। इस अवसर पर भी वाचन संस्कृति बनती है।

महाराष्ट्र में संत ज्ञानेश्वर महाराज के युग से साधारणत: सन 1292 ई. से साहित्यिक-सांस्कृतिक वातावरण बना रहा है। भजन, कीर्तन, भारुड, ग्रंथ-पारायण आदि अवसर पर मुखोद्गत अभंग गाने की पद्धति है। यहाँ ज्ञानेश्वर महाराज की ज्ञानेश्वरी मुखोद्गत करने वाले गाँव-गाँव में पाँच-दस लोग रहते हैं। नामदेव के अभंग, तुकाराम महाराज की गाथा, एकनाथ महाराज के भारुड, जनाबाई की ओवी समग्र रूप से कंठस्थ रहते हैं। धार्मिक विधि के अवसर पर या एकादशी, चतुर्थी, नवमी के दिन गाँव-गाँव के मंदिर में भजन-रहता है। गाँव के पाँच-पचास लोग ढोल-मृदंग के साथ सस्वर भजन करते हैं। मुखोद्गत गाते हैं। उस बहाने तुकाराम, नामदेव, एकनाथ महाराज के ग्रंथ घर-घर में होते हैं और उसका वाचन रोज किया जाता है।

महाराष्ट्र के गाँव-गाँव 'ज्ञानेश्वरी पारायण महोत्सव' आयोजित किया जाता है। इसे महोत्सव का रूप प्राप्त होता है। इस पारायण में पास-पड़ोस के गाँव के लोग भी आते हैं। लोग-बाग ज्ञानेश्वरी का ग्रंथ लेकर आते हैं और एक साथ सैकड़ों लोग वाचन करते हैं। वाचन संस्कृति इसी प्रकार बनी रही है। इंद्रायणी में तुकाराम महाराज ने अपनी गाथा डुबाने के बाद वह तैर गयी। उसका मतलब वहाँ गाँव-गाँव में तुकाराम गाथा कंठस्थ थी और सुधी पाठकों ने उसका फिर संग्रह किया।

महाराष्ट्र में श्रवण महिमा यानि धार्मिक-सांस्कृतिक उपक्रमों का पर्व रहता है। श्रावण महीने में रामायण, महाभारत, पांडव प्रताप, शनि महात्म्य जैसे ग्रंथों का पारायण किया जाता है। शिक्षित -अशिक्षित, स्त्री-पुरूष, बच्चे-बूढ़े यहाँ कथा सुनने के लिए आते हैं। जिससे वाचन की प्रवृति बढ़ जाती है।

प्रकाशक और पुस्तक विक्रेताओं द्वारा सस्ते में और कम कीमत में किताबें बेचने से भी पुस्तक प्रेमियों को सहायता मिलती है। जनवरी 2013 में कोल्हापुर के अजब प्रकाशन ने मुंबई के छः स्थानों पर पुस्तक प्रदर्शनी आयोजित किया था। इस प्रदर्शन में 100 रू से लेकर 600 रू. तक कीमत वाली पुस्तकें सिर्फ 50 रूपये देकर खरीद सकते थे। इस योजना का हजारों लोगों ने लाभ उठाया। इसी प्रकार के आयोजन गाँव-गाँव होने चाहिए और उन्हें भी पुस्तकें खरीदने का लाभ मिलना चाहिए। तब वाचन संस्कृति का विकास वास्तविक अर्थ में हो जाएगा। सरकार की ओर से ग्रंथालयों को अनुदान मिलता है जिससे नये-नये ग्रंथ खरीदकर ग्रंथालय तो समृद्ध हो जाते हैं साथ-साथ पाठकों को भी नये-नये ग्रंथ पढ़ने की सुविधा हो जाती है।

आज नयी पीढ़ी पर आरोप लगाया जाता है कि उन्हें वाचन की रुचि नहीं है। वास्तव में इसके लिए सौ प्रतिशत जिम्मेदार नयी पीढ़ी नहीं है। माँ-बाप और परिवार के सदस्य ज्यादा मात्रा में जिम्मेदार हैं। कारण माँ-बाप के मस्तिष्क में एक धुन सवार हो गयी है, बच्चों को डॉक्टर, इंजीनियर, वकील, चार्टर्ड एकाउण्टेण्ट बनाने की। हर माँ-बाप की यह पहली और आखिरी ख्वाहिश होती है-बच्चों को पढ़ा-लिखाकर डॉक्टर के काबिल बनाना। उसके लिए स्कूल में प्रवेश लेते ही खाजगी टयूशन क्लास में भेज देते हैं। पाठ्यक्रम को छोड़कर अन्य बातों में भी लड़का निपुण होना चाहिए, यही भावना माँ-बाप की होती है अतः ट्यूशन क्लास से आते ही बच्चे डान्स स्कूल, कराटे, जूडो, गायन, संगीत, मेंहदी जैसे क्लास में जाते हैं। घर में माँ-बाप का संपर्क भी कम मिलता है। बीस-पचीस साल पहले माँ-बाप इसॅप नीति, तोता-मैना, रामायण, महाभारत, श्यामची आई जैसी किताबें खरीदकर लाते थें और बच्चे दीपावली और दशहरे में महीने की छूट्टियों में सारी किताबें पढते थे। आज माँ-बाप किताबों के स्थान पर विविध गेम्स और सी डी खरीदकर लाते हैं। बचपन से ही उसकी भागदौड़ शुरू हो जाती है। और जब वह दसवीं में पहुँच जाता है तो बारहवीं तक उसके खान-पान पर भी नियंत्रण रखा जाता है। कारण, ज्यादा खाने से उसे नींद आयेगी और अध्ययन पर बुरा असर होगा। और वह मेरिट में नहीं आयेगा। ऐसी हालत में नयी पीढ़ी पाठ्यक्रम का अध्ययन छोड़कर कोई उपन्यास, नाटक, कहानी कैसे पढ़ सकता है?

वर्तमान युग संगणक का, कम्प्युटर का युग है। इंटरनेट-फेसबुक सभी बातें, आसानी से उपलब्ध होती हैं। इसके अतिरिक्त रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा, नाटक आदि मनोरंजन के साधन इतने बढ़ गये हैं कि उसे कोई किताब पढ़ने के लिए समय भी नहीं मिलता। आज अपने मोबाइल पर विशिष्ट नंबर लगाया कि उसे दुनिया के किसी भी क्षेत्र की जानकारी उपलब्ध होती है और नयी पीढ़ी उसका आस्वाद जरूर लेती है, उसे किताबों पर निर्भर रहने की जरूरत नहीं पड़ती। इन सभी कारणों से नयी पीढ़ी में वाचन की रुचि कम दिखायी देती है। परंतु साधारणतः 28-30 वर्ष की उम्र के बाद वही तरुण फिर वाचन की ओर मुड़ता है। रेल यात्रा की भीड़-भाड़ में हजारों तरुणों को खड़े-खड़े पुस्तक पढ़ते वक्त आप रोज देखते हैं।

टी.वी. पर सभी कार्यक्रम गलत रहते हैं, ऐसी बात नहीं है। पिछले चार सालों से दूरदर्शन पर 'अमश्तवेल' कार्यक्रम शुरू हैं। आज तक इसके चार सौ से अधिक प्रयोग हो चुके हैं। पाठकों में साहित्य के प्रति रुचि पैदा करने के लिए इस कार्यक्रम में श्रेष्ठ ग्रंथों का परिचय दिया जाता है। दर्शकों को यह कार्यक्रम काफी पसंद आया। मराठी साहित्य के 86 वें अधिवेशन में इस कार्यक्रम के निर्माता रविराज गंधे जी का विशेष सम्मान किया गया। दर्शकों में वाचन के संस्कार दृढ़ करने के लिए ऐसे और अधिक कार्यक्रमों की आवश्यकता है।

आज विज्ञान युग में भी जहाँ परिवार टूट रहे हैं, मानवी रिश्ते बदल रहे हैं, सामाजिक मानदंडों में परिवर्तन आये हैं वहाँ वाचन संस्कृति अपने प्रगति पथ पर विराजित है। समाज जनसंचार माध्यमों से प्रभावित होते हुए भी प्राचीन और अर्वाचीन किताबों के प्रति मोह बनाए हुए है। पाश्चात्यों के आचार-विचारों के बढ़ते प्रभाव में भी साहित्य के वाचन की रुचि कायम रहना गौरवास्पद है। राजकीय दृष्टि से यह पतनोन्मुख युग है, जिससे हमारे निराश युवकों को वाचन संस्कृति ही संस्कारों की शक्ति देगी। अंत में समर्थ रामदास महाराज जी के शब्दों में यही कहा जाएगा-''दिसामाजि काहि तरी लिहित जावे।'' यहाँ लिखने की क्रिया वाचन के बिना संभव नहीं।

□□□

पुस्तकालय, पुस्तक-पाठ और उसका महत्व

सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला'

ज्ञान-प्राप्ति का एकमात्र उपाय अध्ययन है। ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं होती, चाहे वह आवश्यकता-पूर्ति वाली मुक्ति हो, चाहे सांसारिक बन्धनों से छुटकारा पाने वाली। हमारी कमजोरी का एक सबसे जबर्दस्त कारण हमारा अज्ञान है। देश को अर्थ से समर्थ करने के लिए अर्थ की ही जरूरत है, जो पुस्तकों में ज्ञान के भीतर से प्राप्त होगा।

हमारा विचार है, यदि देश में शिक्षा का विस्तार हो, और जिले-जिले, कस्बे-कस्बे और नगर-नगर साधारण जनों का असाधारण हित करने वाले पुस्तकालय खोल दिये जायें, वहाँ-वहाँ के नयी ज्योति से जगमग, नये खून से स्फूर्त, नवीन विचारों के आश्रय, त्यागी स्वदेश-हितैषी अधीक युवक अशिक्षतों के चिर-हित का विचार कर अपना थोड़ा सा भी समय उनके शिक्षा के लिए दे सकें, स्वदेश-विदेश और स्वजातीय-विजातियों के प्राचीन और नवीन ज्ञान-धारा में उन्हें नहलाकर स्निग्ध-मस्तिक बना सकें, तो वे अपने फायदेवाले, चिर-मलिन मानवीय कृत्यों को नये जीवन से आप चपल वर्तमान सभ्यता के अनुरूप कर ले सकते हैं, और साहित्य, समाज, राजनीति, तथा धर्म आदि जटिल विषयों की न सुलझती हुई गुत्थियों को अपने ही हाथ खोलकर दिखा दे सकते हैं। जो अज्ञानवाला आवरण कुहरे की तरह लोगों के जीवनाकाश पर छाया हुआ है, उसे ही हटाने की जरूरत है, ज्ञान का प्रकाश फिर स्वतः उन पर पड़ेगा, और इसके लिए जगह-जगह पुस्तकालय खोलना अत्यन्त आवश्यक, धर्म से भी बढ़कर, ईश्वर से भी मान्य, प्राणों से भी निकटतर सम्बद्ध विषय है।

आज तक जितने भी भिन्न-भिन्न उपायों से संसार के लोग प्रभावित किये जा चुके हैं। वे सब के सब उपाय किसी न किसी प्रकार ज्ञान से ही युक्त तथा उक्त हैं। समस्त संसार पर ज्ञान का नियंत्रण है, वह अध्यात्मवाद द्वारा हो या जड़वाद द्वारा, साहित्य के भीतर से हो या विज्ञान के भीतर से। सभ्य जातियों का प्राचीन इतिहास जहाँ तक उपलब्ध हो सका है, उसके दर्शन से यह निर्विवाद निश्चय मस्तिष्क में घर कर लेता है कि ज्ञान ही सभ्यता का मुख्य आश्रय रहा है, और सभी जातियाँ देश देशान्तर की ज्ञान राशि से भरी पुस्तकों के संकलन, संरक्षण और पठन-पाठन में दत्तचित्त थीं। भिन्न-भिन्न सभ्यताओं का मिश्रण समकालीन सभी समुन्नत जातियों में जो प्राप्त होता है, उसका यही कारण है कि सभी जातियाँ अपने समय की समृद्ध जातियों के ज्ञान और कौशल से सविशेष परिचय रखती थीं। इतिहास यहाँ तक साक्ष्य देता है कि विजित जाति की पुस्तकें भी विजेतागण अपने देश ले जाते थे। मिस्र की हजारों पुस्तकें इसी प्रकार फारस गयी थीं। नेपोलियन देश को जीतकर वहाँ की सभ्यता के उपकरण अर्थ लेने से पहले लिया करता था।

बड़े-बड़े मनीषियों का, सृष्टि की पहली पहचान वाले स्वप्न-समय से लेकर आज तक हजारों वर्षों का सम्मिलित परिश्रम, मनुष्य-बुद्धि का परिपाक पुस्तकों में एकत्र मिलता है। जो काम एक जिन्दगी तमाम कर देने पर भी कदाचित मनुष्य नहीं कर सकता, वह यदि पहले के किसी विद्वान द्वारा किया जा चुका है, चार ही दिन में पुस्तकों से प्राप्त कर सकता है। नयी-नयी रचनाओं के लिए भी प्राचीन रचनाएं देख लेना आवश्यक है, जो पुस्तकों में संग्रहीत है। साहित्य, दर्शन, समाज, राजनीति, विज्ञान, गणित, चिकित्सा, चित्रकारी, वास्तु निर्माण, संगीत, वाद्य, परिच्छेद, राज्य-परिचालन, युद्ध विद्या, संगठन आदि-आदि विषय पहले कैसे थे, अब कैसे हैं? प्राचीनतम के साथ नवीनतम का कैसे बदलते-बदलते यह भेद हुआ, फिर भी कैसा साम्य है, भाषा की एक ही प्रतिमा किस प्रकार भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न वेश बदलती हुई अब भी अपनी पहली ही पहचान वाली चितवन से देख रही है, यह सब पुस्तकों के पाठ से भली प्रकार ज्ञात हो सकता है। यह सब समझ लेने पर मनुष्यों के प्रति मनुष्यों का यह भेद, यह दासता, यह आतंक, यह विरूपता नहीं रह जाती। जीवन सुगम और सुखमय बन जाता है।

□□□

पुस्तकों की अपनी दुनिया है...

रोहिताश्व

पुस्तक संस्कृति वर्तमान दौर में एक यक्ष प्रश्न है। सवाल यह है कि हमारी अक्षर-संस्कृति, पुस्तक संस्कृति की धरोहर नि:शेष तो नहीं हो रही है? क्या अब भी कहीं **पुस्तक-दर्शन** पुस्तक-संरक्षण अथवा पुस्तक-संस्कृति का दर्शनिक भावबोध बचा है? क्या अब भी हम मॉल-पैलेस आधारित कास्मोपोलिटिन कल्चर की बाजार-व्यावसायिक संस्कृति में... किसी न किसी देहात, कस्बे, जिले या शहर के बीचों-बीच चौराहों, होटलों के ईद-गिर्द या किसी लेखकीय-व्यक्तित्व के घर-ऑगन में प्रेमचंद, गोर्की, शरत, ग़ालिब, मोपॉसा या तुलसी-कबीर, अर्नेस्ट हेमिंग्वे जैसा–अशगिरी शब्दों का अहसासनुमा साया पा सकते हैं? कहीं-कहीं थोड़े से शब्दों का हेर-फेर हो सकता है पर यही भावबोध कई-कई संवेदनशील रचनाकारों, विचारकों-पाठकों व संस्कृति कर्मियों के मन-मस्तिष्क को कुरेदता है। तल्खियत का भाव और दर्द तो इस बात का है कि यह गन्धर्व प्रश्न नहीं है और न ही कोई मिथ या बायस है और न ही कोई शाब्दिक लीगेण्ड। वह हमारे व्यक्तित्व के निर्माण की आधारशिला है और अस्मिता-निर्माण का ज्वलन्त साक्ष्य भी। अपने गरेबाँ में झाँककर प्रश्न कीजिएगा कि शरतचन्द्र के देवदास ने न जाने कितनी ही भारतीय भाषाओं के रचनाकारों, अभिनेताओं, पाठकों-दर्शकों को मध्यवर्गीय जीवन में प्रेम की त्रासदी पर सोचने के लिए विवश नहीं किया है।

मिर्ज़ा रूसवा भले ही उर्दू के पुरस्कर्ता लेखक हैं, पर उनकी उमराव जान नायिका की बेबस जिन्दगी की पीड़ा गजलगोई की शोरनी नृत्य और संगीत की बानगी को जिन्दगी की तल्खियत और अकेलेपन की बन्दिश को शब्दों का जो जामा पहनाया है, रेखा जैसी किरदार ने सेल्यूलाईड के पर्दे पर वह पाठकों-दर्शकों के लिए पत्थरों पर रची गयी जिन्दा ऋचा है, ईबारत है, कालचक्र की वीथियों में। देवकी नंदन खत्री ने उन्नीसवीं शताब्दी के अंत में भले ही 'चन्द्रकांता', 'चन्द्रकांता-संतति', 'भूतनाथ' और 'रोहतासगढ़' आदि रचने में जीवन के तीस-चालीस वर्ष सर्फ किए हों, पर हिन्दी जगत को सैक्सन ब्लैक सी रोज, तिलिस्मी होश रूबा की टक्कर में शब्दों की जिन्दा शहादत, ऐय्यारी-जासूसी-तिलिस्मी दुनिया की हकीकत को रचकर आम पाठकों को समझदारी, होशियारी और दुनियादारी की तहजीब यानि व्यावहारिक संस्कृति की दीक्षा दी है क्या हम उपन्यास संसार की विस्मृत-हकीकत को नकार सकते हैं। उड़िया भाषी समाज आज भी फकीर मोहन सेनापति को, प्रेमचंद के लेखन के पूर्व काल का हस्ताक्षर जानकर उसे किसानों, मजदूरों और निम्न वर्ग का हमदर्द मानता है।

कहना होगा कि शब्द भी कहीं-कहीं हमारे लिए मंत्र शक्ति होते हैं, मंत्रपूत शब्द नीर की तरह अपना निशान हमारे मन-मस्तिष्क पर अंकित कर देते हैं। शब्दों का मामूली हस्ताक्षर, नव जानकार भी अपने आपको पुस्तक संस्कृति का संवाहक मानता है।

शब्दों का, पुस्तकों का अपना जादू होता है तिलिस्म होता है। मशीनी टेप रिकार्ड का मैकेनिकल नकलीपन अपना असर रखता है पर काल की वीथियों में समय-चक्र के प्रभाव में सहगल, भूपेन्द्र हजारिका, मुकेश, सुरैया, बेगम, पुखराज स्मृतियों में ही कैद रह जाते हैं। पर शब्द के शंहशाह, संगीत और निराला अपने विशिष्ट अंदाज में, राम की शक्ति पूजा कविता की संरचना में कालातीत ट्रान्सन्डेन्स होकर समकालीन और शाश्वतता के ध्रुवान्तों को पाठकों के मन-मस्तिष्क में रूपांतरति कर देते हैं। आम पाठक भी महसूस करता है धिक्क ऐसे जीवन को ... जो सदा ही पाता आया है विरोध। यह पुस्तक संस्कृति ही है जो हमें कबीर की तरह 'ईश्क मस्ताना' की रहगुजर बतलाती है। पत्नी नाउम्मीदी में, अकेलपन और टूटन में 'बंदरो-दीवार' का घर बनाने की तजवीज देती है। तवक्को उठ जाने पर किसी से गिला न करने की इस्लाह देती है। ग़ालिब हर आह, दर्द और मोड़ पर हमसाये और रहबर की तरह क्यों नुमायाँ होते हैं?

जीवन संग्राम में, विगत और वर्तमान के रचनाकार न जाने क्यों विश्वस्त साथी और रहनुमा बन जाते हैं, कैसे वे हमारे 'फ्रेण्ड कम फिलासफर' साथी, संरक्षक बन जाते हैं यह संवदेनशील पाठक जानते हैं। पुस्तकों की अपनी दुनिया है तत्व हकीकत और जीवन लक्ष्य के बीच। एक सलाह देने वाली अनाम शख्सियत। गुमनाम ग्रेबियल जैसी मिथकीय विरासत। कर्ण और हरक्युलिस का दु:साहस देने वाली शक्ति। एकिलिस और एकलव्य की त्रासदी का, सहभोक्ता की तजवीजा सीता, राधा, वीनस या फ्रोदिती।

पुस्तक-संस्कृति कोई नश्वर तत्व नहीं है, अन्यथा भोजपत्र, ताड़पत्र पर अंकित होने वाले शब्द वेदपरक-प्राकृतिक भाष्य, ब्राह्मण-आरण्यक ग्रंथ से धुनते मानवीय दु:ख, हर्ष, उल्लास के क्षण, चार्वाक-लोकायत, बौद्ध-जैन संस्कृति के चिन्तन पक्ष, इस्लाम-मसीही जीवन दर्शन के अक्ष-अक्षांश हमें काल-वीथियों पर मानवीय प्रगति, प्रेम संरक्षण, वन संस्कृति, पर्यावरण जीव-रक्षा की पगडंड़ियों पर पुन: पुन: सोचने पर क्यों विवश कर देते हैं? ग़ालिब क्यों हमें पराभव हिंसा, मानवीयता के पतन पर जन्नत को दोजख में मिलाने के तंज पर सोचने के लिए मजबूर करते हैं। इन्सान ही नहीं रहेंगे इस धरती पर तो ईश्वर खुदा या गॉड की बन्दगी कौन करेगा? महायुद्धों की विभीषिका से बचने या बचाने की 'पहल' पुस्तक-संस्कृति और चित्रपरक कलाकृति की दुनिया करती है चाहे वह पिकासो की 'गुएर्निका' पेण्टिंग्स हो अथवा मुक्तिबोध कृत 'अंधेरे में' कविता या शमशेर कृत 'अमन का राग' रचना।

यह सच है कि पाठकों की अपनी रुचि होती है, पसन्द और नापसन्द के कई मसले होते हैं। पर लेखक की अलग-अलग प्रांतों, भाषाओं और वर्गाभिरुचि के होते हैं। चाहे हम आनंदमठ कृति की चर्चा करें या अग्निगर्थ उपन्यास की। चाहे हम शंकर के चारैगी उपन्यास की चर्चा करें या बम्बई के फुटपाथ पर जिन्दगी बसर करते लोगों की हकीकत पर 'मुर्दाघर' की। यही हम जीलानी बानों के ऐवाने-गजल का होगा या कन्नड़ के भैरप्पा को 'पर्व' के आधार पर पसन्द करेंगे तो प्रगतिशील सोच के लोग यू॰आर॰ अनंतमूर्ति के संस्कार उपन्यास को। फर्क हमेशा 'क्लासिकल एप्रोच' और 'पापुलर-लिटरेचर' का रहा है। पंचतंत्र, किस्सा तोता-मैना, बैताल-पचीसी का पाठक-गुणाढ्य की वृहत कथा-और 'कथा सरित सागर' की शाह नहीं ले पायेगा। गम्भीर दार्शनिक मिजाज का पाठक जहाँ राहुल सांकृत्यायन के दर्शन-दिग्दर्शन, अपभ्रंश काव्यधारा और दक्खिनी हिन्दी काव्यधारा को पसन्द करेगा जी-जान से, वहाँ अदने से आम (चेतना का) पाठक उनकी 'वोल्गा से गंगा कहानी संग्रह पढ़कर 'पुनर्जन्म' और 'पाप-पुण्य', 'स्वर्ग-नरक' के तिलिस्म को जानकर उन कर्मकाण्डी हथकण्डों की गप्प का उपहास करेगा। अंतत: वह बौद्ध धर्मी या अम्बेडकरवादी, मार्क्सवादी हो या सनातनी, मसीही मान्यता का हो या इस्लामिक, जरस्तुवादी हो या सीरियन कैथोलिक ... यही कहेगा हाँ यथार्थ में हमारी संतान ही हमारा पुनर्जन्म है। हमें स्वर्ग-नरक, आदम-हव्वा, जन्नत-दोजख के गोरख धन्धे नहीं चाहिए।

जिस प्रकार शब्दों की नश्वर और अनश्वर यात्राएं होती हैं, अनथक-गतिशील संस्कृति होती है, नमस्कार, प्रणाम, आदाब, पैरी-पौणा, चरण-स्पर्श, दुआ-इस्लाम जैसे शब्द भले ही आंतरिक भावों के न हों, आज की दुनिया में तन्मयता के सच्ची भावनाओं के न हों, "अपनी रस्म अदायगी में पर" कहीं न कहीं हमारी भारतीय संस्कृति के बीजाक्षर हैं। पुस्तकें खण्डहर नहीं होती हैं पर वे कहीं न कहीं हमारी अंतश्चेतना की दुर्गाशक्ति होती है। जीवन दर्शन में तारक-मंत्र होती है, अस्मिता के मिथकीय तंत्र में मारण-मोहर उच्चारण की संवाहक शक्ति होती है।

यह शब्दों की, अल्फाज की, पुस्तकों की अक्षर-अक्षय संस्कृति है, जहाँ ग़ालिब, मीर, सौदा, रहीम, कुली कुतुबशाह वली दकनी, इकबाल, फिराक मजाज एक ओर 'रोमांटिक अहसास की तल्ख हकीकत को पेश करते हैं तो दूसरी ओर इन्सान होने के दर्द और दार्शनिक मिजाज को पेश-ए-मंजर रूप में हम पाते हैं। जहाँ ग़ालिब का अन्दाज-ए-बयाँ नुमाया हुआ है इमाँ मुझे रोके है तो खींचे है कुफ्र। काबा मीरे पीछे है, तो कली

सा मीरे आगे। दु:ख-दर्द, पीड़ा के अहसास वाले लरजते पलों में, ईर्ष्या से शिकार, दुर्दशा की अग्नि-ज्वाला के क्षणों में कबीर वाला पुस्तकीय-संस्कृति का मन हमारा बाजार में लुकाठा लिए अकेला ही 'एकला चलो रे' गुहार अपनाता है। जीवन की मार्मिक अनुभूति तुलसी की तरह सोचते हैं कहाँ जाई,0 का करिबा माँग के खाइ को और मस्जिद में सोरबो की दार्शनिक प्रतीति जगा देती है। यह पुस्तक-संस्कृति ही है जो मुक्तिबोध को आधुनिक भावबोध में प्रतीत करा देती है—कहाँ जाऊँ? उज्जैन या दिल्ली? अर्थात अतीत के मिथ और लीजेण्ड (उज्जैन में) विस्मृत हो जाऊँ या अस्मिता और संघर्ष के लिए दिल्ली (भविष्य की दुर्गम-असाध्य) राह अपना लूँ।

गुलाम भारत के वाशिन्दे 18वीं या 19वीं शताब्दी में कभी गिरमिटिया भूमिहीन मजदूर के रूप में अपने साथ 'रामचरित मानस' ले जाते हैं केवल एक पुस्तक-संस्कृति को, धर्म-दर्शन-आस्था व भारतीयता के संवाहक रूप में। यह मिथ या लीजेण्ड नहीं। हकीकत है गिरिराज किशोर हल्फिया बयान के रूप में 'पहला गिरमिटिया' के अन्दाज में। पर आजकल तो हमारे आई॰आई॰टी॰ के टेकनोक्रेट कम्प्यूटर विशेषज्ञ के रूप में कल्चर्ड-लेबर के रूप में, ब्रेन-ड्रेन की विरासत में प्रयाण कर रहे हैं अमेरिका, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन की ओर .....। और उनके माता-पिता, संरक्षक धन्य-धन्य हो रहे हैं उनकी बाँछें खिल रही हैं यह कौन से पराभाव की संस्कृति है? सच कहां है? कभी टी॰ एस॰ इलियट ने कहा था कि हम अभिशप्त हैं अपने युग के श्रेष्ठ? मस्तिष्क को विकृत होते देखने के लिए!!!

सारग्रही पुस्तकें मिथ्या दर्शन नहीं बाँटती और न ही पाखण्ड पूजा का चर्वण-श्रवण कराती है वे वर्ण और वर्ग का विभेद मिटाकर इन्सान होने का सबक सिखाती हैं वे हमारी अस्मिता और चेतना की आधार-शिलाएँ होती हैं।

पुस्तकें जीवन संघर्ष के चक्रव्यूह को जानने, जीवन, समाज और देश की ऊँच-नीच के पेंचोखम को पहचाने में एक विश्वस्त साथी है। रेगिस्तान में खोये हुए मुसाफिर के लिए वह ग्रेबियल दरवेश की तरह दार्शनिक सहारा भी है। पुस्तकें रहजन नहीं होती हैं, वे रहबर होती हैं, संरक्षक और मार्गदर्शक भी। पुस्तकें जायसी के पद्मावत का तोता हैं, पुस्तकें चन्द हसीनों के खत और बुतें तस्वीराँ हैं, और अपने आपके 'मीना बाजार' भी। ये टोबाटेक सिंह का दर्द होती हैं, 'तमस' के बीच रोशनी की किरण भी। ये 'हाल मुरीदों का बायस' भी है और उमरावजान अदा की अदायगी का सबब भी। पुस्तकें आनंदमठ की दस्तक भी है और गालिब के जीवन की तल्ख हकीकत भी। पुस्तकें राहुल की त्रिपिटक भी हैं और थेरी गाथाओं की दास्तान भी। पुस्तकें वासी रेड्डी सीतादेवी की 'मरीचिका है और श्री श्री का 'महाप्रस्थान' भी हैं। पुस्तकें प्रतिभाराय की 'द्रोपदी' है और रोकर की 'चौरंगी' भी। ये बुद्धदेव वसु की 'शतभर वर्षा' है और आलोक धन्वा की 'जनता का आदमी' भी।

पुस्तकें कला, संस्कृति, इतिहास और मानवीय चेतना की दस्तक होती हैं। वे अतीत के खण्डहर का रूपक नहीं हैं और न ही कुतुब मीनार, ताजमहल और चार मीनार की मेहराबें। वे ऋषि आत्मा दधीचि की अस्थियाँ हैं, भतृहरि का श्रृंगार शतक भी हैं और वैराग्य-नीति शतक भी। पुस्तकें रचनाकार-पाठक-आलोचक की त्रयी में, याजक-यजमान-पुरोहित-श्रोता के चतुष्वर्ण और चतुष्वर्ग में उर्ध्वगामी चेतना का अग्नि ज्वाला के स्तम्भ भी। पुस्तकें प्रोमुदियस के हाथों की मशाल हैं, अग्नि हैं जिसे नवसादर में यह अपनाने के लिए याम लेते हैं।

क्या पुस्तकों ने हमें कर्ण के शौर्य और पीड़ा का दिग्दर्शन नहीं कराया है? क्या कृष्ण की वैश्विक प्रजा और मृत्यु सत्य की चेतना को 'भागवतगीता' ने अंकित नहीं किया है? क्यों अब हम एकलव्य की शहादत नहीं चाहते हैं? क्यों हम एकिलिस और अभिमन्यू की पीड़ा, शैब्या का दर्द, हरिश्चन्द्र का स्वप्न भंग नहीं चाहते हैं? क्यों सैरन्ध्री, द्रोपदी, कुन्ती, अफ्रोदिती, एलिजाबेथ टेलर या रेखा की जिन्दगी से सहानुभूति रखते हैं। यह पुस्तक-संस्कृति का ही दाय है जो हमें अधिक संवेदनशील मानुष

और परिपूर्ण व्यक्तित्व का आधार प्रदान करता है।

पुस्तकें हमें दर्शन की प्रज्ञा अथवा अस्मिता का भावबोध ही प्रदान नहीं करती है बल्कि वह हमें इन्सानियत का पचरम थमा देती हैं। प्रेमचंद के कथनानुसार –राजनीति के आगे चलने वाली पथप्रदर्शक मशाल होती है ... साहित्यकार की सृजन प्रक्रिया व चेतना! पुस्तकों से हम अपने अंतस में प्रेमचंद की मानवीय संवेदना शरत के नारी के सम्मान वाले भाव, निराला की संघर्ष भावना, मुक्तिबोध की आत्म संघर्षी चेतना और शमशेर की सृजनात्मक अस्मिता को पा लेते हैं .... और महसूस करते हैं वे हमारे यथार्थ जीवन का दर्पण ही नहीं बल्कि रहनुमा बन जाने का कुतुबनुमा यंत्र भी है।

सारगर्भित, क्लासिक महत्व वाली अच्छी पुस्तकें पढ़कर लगता है, ... जो हम कुछ वक्त पहले थे कुछ दिनों पहले जो थे। ... अब हम 'वह' नहीं हैं कुछ और .... व्यक्तित्व के आदमी बन गये हैं परिपूर्णता के अहसास में। पुस्तकें अर्नेस्ट हेमिंग्वे की तरह 'ओल्ड मैन एण्ड सी' के नायक की तरह दु:साहस पाल लेती हैं। पाठक रूप में हम जानते हैं कि धनिया की ट्रेजडी किसी भी रूप में होरी की ट्रेजेड़ी से कम नहीं है। विशेषकर होरी की मृत्यु के बाद 'गोदान' की रस्म अदायगी के बाद मुक्तिबोध के शब्दों में रचना ... किसी (रचनाकार ब्रह्म) की दुहिता नहीं होती; वह परम स्वाधीन काल यात्रा होती है। कुर्तुल इन हैदर की अंतश्चेतना का वह 'आग का दरिया' होती है। मित्रों, आत्मीय रचनाकार कालचक्र की वीक्षियों में, समय की किसी पगदण्डी पर हम जन्मेंगे, विकसित होंगे और अस्त भी ... वानगाग के सूरजमुखी फूलों की तरह। पर कालजयी पुस्तकें पंचशर वाले कामदेव की तरह अस्त या निरस्त न होकर जीवंत-दर्शन का वाहक होंगी, कोई न कोई रति-आत्मा की शख्सियत मुझे जिन्दा रखेगी। पुस्तकें मिथ्या लीजेण्ड नहीं बल्कि इन्सानियत का जिन्दा रूख याने अंतश्चेतना का वट-वृक्ष प्रमाणित होंगी।

□□□

कविता

शब्द का संसार

वीरेन्द्र मिश्र

जिंदगी को अर्थ देने के लिए
शब्द का संसार हम गढ़ते रहे,
जो गढ़ा है, वह महल तो है नहीं
झोपड़ी में रक्त से जलता दीया।
जो पसीना था समय के माथ पर
कंठ तक आया कि हमने गा दिया,
कौन जाने गीत थे या मर्सिए
जो सरे-बाजार हम पढ़ते रहे।
कुछ न हम, सब कुछ हमारे स्वप्न हैं
दृष्टि जिनसे रोशनी पाती रही,
एक चौराहा शहर के बीच था-
भीड़ जिसको चीर कर जाती रही।
देख हमको मुस्काए हाशिये
आंसूओं के काफिले बढ़ते रहे।
जिस नज़र में एक जंगलपन दिखा,
एक आंसू का समन्दर भर दिया।
और छाया गीत सुनने के लिए
धूप के हर प्रश्न का उत्तर दिया।
सब किया, जो कुछ हुआ अपने किए
पर स्वयं से हम सदा लड़ते रहे।
गुनगुनाना भी न संभव हो जहाँ
हो जहाँ पर आवरण ही आवरण,
घूमता है जो सदा ठहराव में
जी रहा हमको वही वातावरण।
गीत, गंदी बस्तियों के काफिए
छंद की दुर्गन्ध में सड़ते रहे।।

□□□

किताबें

ए कीर्तिवर्धन

बचपन में
जब नींद नहीं आती थी,
माँ की गोद में
लेट जाता था
माँ
मुझे लोरी सुनाती थी,
मेरे बालों को सहलाती
और
मैं सो जाता।
आज भी
जब मुझे
नींद नहीं आती,
मैं
किताब पढ़ता हूँ
और
कुछ ही देर में
नींद के आगोश में
चला जाता हूँ,
सपनों में खो जाता हूँ
शायद किताबें हीं
माँ का
प्रतिरूप है।

□□□

पुस्तक चौपाई

मुन्ना पाठक

(1)

मिटाती है बुराई को, हटाती विकृति पुस्तक।
जलाती ज्ञान का दीपक, बचाती संस्कृति पुस्तक।
ये पुस्तक देवता देवी, ये पुस्तक मित्र है भाई,
अंधेरा मिटता इनसे, है लाती जागृति पुस्तक।।

(2)

कभी ये कृष्ण बनकर के, हमें गीता सुनाती हैं।
मिटाती दुष्ट रावण को ये रामत्व लाती हैं।
कभी बन बाईबल, कुरान, गुरू ग्रंथ साहिब जी,
ऋचाएँ वेद की बनकर, प्रभु को पास लाती हैं।

(3)

ये पुस्तक एक तरकश है, भरा है जो विचारों से।
विचारों के इन्हीं वाणों से मारो मन के रावण को।
मरेगा मन का रावण तो, विजय श्री राम की होगी।
पुर्नस्थापना कर दो, रामत्व पावन की।

(4)

दहशत, जुल्म, हिंसा से, दुनिया जब बिलखती है।
किताबें बन के पैगम्बर, खुदा की नूर बनती हैं।
विचारों की ही ताकत से, मलाला ने किया क्रांति।
दहशत हारेगा हरदम, जीतेगी अमन और शांति।

□□□

पुस्तकें

विश्वनाथ प्रसाद तिवारी

नहीं, इस कमरे में नहीं
उधर, उस सीढ़ी के नीचे,
उस गैरेज के कोने में
ले जाओ पुस्तकें;
वहाँ, जहाँ नहीं अट सकती फ्रिज,
जहाँ नहीं लग सकता आदमकद शीशा
बोरी में बाँधकर, चटाई से ढँककर
कुछ तख्ते के नीचे, कुछ फूटे गमले के ऊपर,
रख दो पुस्तकें।
ले जाओ इन्हें तक्षशिला, विक्रमशिला, या चाहे जहाँ
हमें उत्तराधिकार में नहीं चाहिए पुस्तकें।
कोई आएगा, झपटेगा पासबुक पर,
कोई ढूंढ़ेगा लॉकर की चाबी
किसी की आँख में चमकेंगे खेत
किसी में गड़े हुए सिक्के,
हाय, हाय! समय बूढ़ी दादी-सी उदास हो जाएंगी पुस्तकें।
पुस्तकें जहाँ भी रख दें वही पड़ी रहेंगी इंतजार में
आएगा कोई न कोई, दिग्भ्रमित बालक जरूर
किसी न किसी शताब्दी में,
अंधेरे में टटोलते अपनी राह;
स्पर्श से पहचान लेना उसे
आहिस्ता-आहिस्ता-
खोलना अपना हृदय
जिसमें सोया है अनन्त समय और ढंका हुआ सत्य,
दबा हुआ गुस्सा और गूंगा प्यार,
दुश्मनों के जासूस पकड़ नहीं सकें जिसे।

□□□

पुस्तक प्रार्थना

भास्कर बन्धु 'राही'

हे! ज्ञान ज्योति फैलाने वाली, पुस्तक तुझे नमन है,
तू सब रूपों में करती बस, मानव अज्ञान शमन है।
जब भी तूने मानव मन में, घनघोर तिमिर को देखा,
खींची है तूने अंतर में तब, ज्ञान-रश्मि की रेखा।
है बसा तेरे अन्तर में पुस्तक, ज्ञान सभी धर्मों का,
तू पाठ पढ़ाती है मानव को, पल-पल सत्कर्मों का।
तुझी में समाहित गणित, भौतिकी, अर्थशास्त्र, गायन है,
तुझमें भूगोल, इतिहास समाहित वेद मंत्र पाठन है।
तुझमें अक्षय भंडार ज्ञान का, जो तुझको पढ़ जाये,
वही विद्व है, वही गुणी है, वही ज्ञानी कहलाये।
निर्जीव है तू पर जीवन का है अंकित तुझमें सार,
समझे तेरा मर्म वो जग की हर दुविधा से पार।
क्या विडंबना! तुझे उपेक्षित मान रहा संसार,
वही दीन है बना जिसने सबके भरे ज्ञान भण्डार।
आखिर कब तक कर पायेगा, जगत उपेक्षा तेरी?
तुझे शीघ्र सम्मान मिले, बस यही शुभेच्छा मेरी।
सुने जगत मेरी बातों को, जरा लगाकर ध्यान,
श्रेष्ठ है पुस्तक सब रूपों में, सबसे अधिक महान।
लुप्त हो रही भारत की पहचान जो अब हर पल है।
पुस्तक संस्कृति इस संकट का बस इकलौता हल है।
इसका कर विस्तार सुगंधित करना देश-चमन है,
पुस्तक संस्कृति का केवल उद्देश्य ज्ञानवर्द्धन है।
चलो हिला दें उनकी नीवें जो अज्ञान भवन है,
भारत में फिर लाना अब पुस्तक का हमें चलन है।
हे! ज्ञान ज्योति फैलाने वाली पुस्तक तुझे नमन है,
तू सब रूपों में करती बस मानव अज्ञान शमन है।

□□□

सिसकती किताबें

राम प्रवेश रजक

एक दिन बंद शीशे के दरवाजे
से सिसकियाँ लेती हुई किताबें
झाँक रही थीं, कहा
बहुत दिन हो गये, इन बंद
अलमारियों में दम घुटता है
लगता है, वह दिन गये जब
किसी की तरक्की की मैं, गवाह बना करती थी
अब मेरे अस्तित्व पर खतरा आ गया है
मेरी गवाही अब कौन देगा?
बहुत बैचेन हूँ मैं इन बंद अलमारी में,
आपको पता नहीं अंदर पड़ी वह सूखी
गुलाब की पत्तियाँ एक इतिहास बयाँ करती हैं
वे लोग नहीं रहे जो छाती से लगाकर, तकिये
पर रखकर केहुनी के बल पढ़ा करते थे,
मैं उस वक्त भी काम आयी जब दो जवाँ
जोड़ी मुझे गिराने-उठाने के बहाने रिश्ते बना
लिया करते थे,
मैं पोस्टमैन भी बन जाती थी
मुझमें प्रेम पत्र भी भरकर, भेज दिया जाता था;
अब बिना पत्तों की पेड़ लगती हूँ मैं,
अब इस पर कभी फूल नहीं लगते हैं;
धरती की अंतिम सतह की तरह हूँ
मेरा अफसाना अब एक फसाना बनकर रह गया है,
जायका मिलता था जो सफ़ा पलटने का
अब अंगुली क्लिक करते ही कम्प्यूटर
के पर्दे पर पलक झपकते ही चला आता है।

□□□

किताबें

रचना भंडारी

याद है,
मुझे पहले-पहल देखा था तुमने
किताबों की उस दुकान में,
शेल्फ पर सजी, टकटकी बाँधें,
तुम्हें निहार रही थी।
तुम भी तो जैसे डोर से बँधे
मुझ तक आ गये थे,
मेरी रूखी-सी ज़िल्द को सहला
पहला सफ़ा पलटकर,
मेरा नाम उकेरा था उंगली से अपनी
और प्राक्कथन पढ़ने के बहाने,
गोद में लेकर बैठ गये थे;
कोने-वाली कुर्सी पर
ज़रूर प्रभावित हुए होगे,
तभी बिना दाम देखे
खरीदने को आमादा हो गये थे।
मैंने कहना चाहा था-
कि ज़रा एक-आध पन्ना पलट लो
सरसरी ही सही,
मुझे थोड़ा जान लो
जाने रास आऊँ या यूँ ही-सी लगूँ
और तब मेरे लिए चुकाए दाम
तुम्हें चुभने लगे।
मगर तुम पर था फ़ितूर सवार
मुझे कुछ यूँ सजाया, दर्शाया,
मानो मेरा तुम्हारे पास होना
गर्व की बात हो
जैसे रवि वर्मा का कोई प्रिन्ट,
सुच्चे बसरा मोतियों की लड़ी,
सत्यजित रे का ऑटोग्राफ,
या दादी के कंगनों की जोड़ी।
कितना अरसा बीत गया,
कि कहो एक युग रीत गया
शेल्फ़ पर टिके तुम्हें तकती रहती हूँ,
'गर सुन सको तो कहती रहती हूँ
तुम्हें पढ़ना आता कहाँ है?
सफ़े पलटना जानते हो बस
किताबें खरीदना, उनकी चर्चा करना
एक-आध लाइन याद कर लेना,
कि बहस होने पर रौब पड़ जाये
पढ़ना तुम्हारे लिए है सिर्फ एक शगल;
तभी तो मेरे दो-चार सफे पलट चुकने के बाद
मेरे हिस्से आई, सिर्फ तुम्हारी बेरुखी
बहुत संभाल लिया मुझे
अब ज़रा सहलाओ भी
हक़ से मोड़ दो मेरे पन्नों के सिर
रेखांकित कर दो न अपने पसंदीदा हिस्से
सहेज रखो कोई फूल
मेरे अंतर की परतों में
अक्षर-अक्षर लटें खोल दो;
पन्ना-पन्ना गिरह खोल दो।
औंधे लेटकर, घुटने टेककर,
या सिरहाना बनाकर
मन कहे सो करो,
पर, मुझे पढ़ो।

□□□

कर्मठ वेदान्त : स्वामी विवेकानन्द

रामधारी सिंह 'दिनकर'

राष्ट्रकवि दिनकर ने अपने 'संस्कृति के चार अध्याय' ग्रन्थ में भारतीय परम्परा तथा इतिहास की एक अत्यन्त सुललित झाँकी प्रस्तुत की है। प्रस्तुत लेख जनवरी १९६३ ई॰ में प्रकाशित 'विवेक-ज्योति' के प्रवेशांक से लिया गया है। अब तक स्वामी जी पर जो कुछ लिखा गया है, उन सर्वश्रेष्ठ रचनाओं में से इसे एक कहा जा सकता है। स्वामी विवेकानंद की 150वीं जयंती के अवसर पर इस लेख को विशेष तौर पर प्रकाशित किया जा रहा है।

परमहंस रामकृष्ण ने साधनापूर्वक धर्म की जो अनुभूतियाँ प्राप्त की थीं, स्वामी विवेकानन्द ने उनसे व्यावहारिक सिद्धान्त निकाले। रामकृष्ण आध्यात्मिकता के अद्‌भुत यंत्र थे। वे आत्मानन्द की खोज में थे एवं आनन्द का सबसे सुगम मार्ग उन्हें यह दिखाई पड़ा कि अपने आप को वे काली की कृपा के भरोसे छोड़ दें। उनका सारा जीवन प्रकृति के निश्छल पुत्र का जीवन था। वे अदृश्य सत्ता के हाथ में एक ऐसा यंत्र बन गए थे, जिसमें कालिमा नहीं थी, मैल नहीं था, अतएव, जिसके भीतर से अदृश्य अपनी लीला का चमत्कार अनायास दिखा रहा था। बहुत दिनों से हिन्दुओं का विश्वास रहा है, कि हृदय के पूर्ण रूप से निर्मल हो जाने पर, मन से स्वार्थ की सारी गन्ध निकल जाने पर एवं चित्त में छल की छाया भी नहीं रहने पर मनुष्य की सहज वृत्ति पूर्ण रूप से जागृत हो जाती है एवं तब धर्म की अनुभूतियाँ उसके भीतर आप से आप जगने लगती हैं। रामकृष्ण के जीवन में यह सत्य साकार हो उठा था। अतएव, धर्म की सारी उपलब्धियाँ उन्हें आप-से-आप प्राप्त हो गईं। उन उपलब्धियों के प्रकाश में विवेकानन्द ने भारत और समग्र विश्व की समस्याओं पर विचार किया एवं उनके जो समाधान उन्होंने उपस्थित किये वे, असल में, रामकृष्ण के ही दिए हुए समाधान हैं। रामकृष्ण और विवेकानन्द ये दोनो एक ही जीवन के दो अंश, एक ही सत्य के दो पक्ष हैं। रामकृष्ण अनुभूति थे, विवेकानन्द उसकी व्याख्या बनकर आए। रामकृष्ण दर्शन थे, विवेकानन्द ने उनके क्रिया-पक्ष का आख्यान किया। स्वामी निर्वेदानन्द ने रामकृष्ण को हिन्दू धर्म की गंगा कहा है, जो वैयक्तिक समाधि के कमण्डल में बन्द थी। विवेकानन्द इस गंगा के भगीरथ हुए और उन्होंने देवसरिता को रामकृष्ण के कमण्डल से निकालकर सारे विश्व में फैला दिया।

स्वामी विवेकानन्द का बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। वे सन् १८६३ ई॰ की १२ जनवरी को कोलकाता में एक क्षत्रिय परिवार में पैदा हुए थे। उन्होंने कॉलेज में शिक्षा पायी थी और बड़ी

योग्यता के साथ बी॰ए॰ पास किया था। अपने छात्र-जीवन में वे उन हिन्दू युवकों के साथी थे, जो यूरोप के उदार एवं विवेकशील चिन्तकों की विचारधारा पर अनुरक्त थे तथा जो ईश्वरीय सत्ता एवं धर्म को शंका से देखते थे। विवेकानन्द का आदर्श उस समय यूरोप था एवं यूरोपीय उद्दामता को वे पुरुष का सबसे तेजस्वी लक्षण मानते थे।

नरेन्द्रनाथ का शरीर काफी विशाल और मांसपेशियाँ सुपुष्ट थीं। वे कुश्ती, बाक्सिंग, दौड़, घुडदौड़ और तैराकी– सभी के प्रेमी और सबमें भली-भाँति दक्ष थे। वे संगीत के भी प्रेमी और तबला बजाने में उस्ताद थे। रामकृष्ण का शरीर कोमल था एवं आरम्भ से ही उनमें सात्त्विकता बहुत उच्च कोटि की थी। इसके विपरीत, विवेकानन्द का शरीर पुष्ट तथा स्वभाव पौरुष के वेगों से उच्छल एवं उद्दाम था तथा आरम्भ से ही उनके भीतर राजसिकता के भाव थे। विद्या की दृष्टि से भी देखें तो रामकृष्ण, करीब-करीब, अनपढ़ व्यक्ति थे तथा उनकी सारी पूँजी उनकी सहज वृत्ति थी, जबकि नरेन्द्रनाथ संस्कृत और अँग्रेजी के उद्भट विद्वान् एवं यूरोप के तार्किकों एवं दार्शनिकों की विद्याओं में परम निष्णात थे। उनमें सहज-वृत्ति के बदले तार्किकता और विवेकशीलता की ज्वाला प्रचण्ड रूप से जल रही थी। उनमें यूरोपीय सभ्यता की वह प्रवृत्ति अत्यन्त प्रखर थी, जो निरन्तर खोज और सतत अनुसन्धान में लगी रहती है; जो किसी भी कथन को प्रमाण नहीं मानकर प्रत्येक विषय का विश्लेषण स्वयमेव करना चाहती है, तथा जो सत्य की खोज में विवेक और बुद्धि को छोड़कर और किसी वस्तु का सहारा नहीं लेती।

नरेन्द्रनाथ हर्बट स्पेंसर और जोन स्टुअर्ट मिल के प्रेमी थे। वे शेली के सर्वात्मवाद और वर्ड्सवर्थ की दार्शनिकता के प्रेमी एवं हेगेल के वस्तुनिष्ठात्मक आदर्शवाद पर अनुरक्त थे। फ्रांसीसी राज्य-क्रान्ति का प्रभाव, उस समय, साहित्य के माध्यम से भारत में जोरों से फैल रहा था एवं नरेन्द्रनाथ इसमें विश्वास करते थे। यूरोपीय संस्कारों का उनमें पूरा जोर था और कहते हैं, अपने छात्र जीवन में वे केवल शंकावादी ही नहीं, प्रचण्ड नास्तिक के समान बातें करते थे। किन्तु, बौद्धिकता के इन समस्त उद्वेगों के बीच उनके भीतर वह जिज्ञासा काम कर रही थी, जो पैगम्बरों में उठा करती थी, अवतारों और धर्म-संस्थापकों में जगा करती है, जो सभी प्रश्नों से ऊपर उठकर, यह समझना चाहती है कि सृष्टि है क्या? जीव सान्त है या अनन्त? जन्म के पूर्व हम कहाँ थे? मृत्यु के पश्चात् हम कहाँ जाएँगे? सृष्टि कोई आकस्मिक घटना है या इसके भीतर कोई नियम काम कर रहा है? यदि हाँ, तो उस नियम का निर्माता कौन है? यही जिज्ञासा आरम्भ में उन्हें ब्रह्म-समाज की ओर ले गई और वहाँ से निराश होने पर यही जिज्ञासा उन्हें दक्षिणेश्वर ले आई, जहाँ रामकृष्ण अपनी वैयक्तिक साधना में लीन थे। किन्तु, जहाँ से यह संवाद सारे बंगाल में फैल रहा था कि भारत में धर्म फिर से जीता-जागता रूप लेकर अवतरित हुआ है, जिसके प्रमाण रामकृष्ण हैं।

रामकृष्ण हिन्दू-धर्म की समग्रता के प्रतिनिधि थे। हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ईसाइयों और बुद्धिवादियों ने कसकर निन्दा की थी। राममोहन राय और दयानन्द जब हिन्दुत्व की ओर से बोलने को खड़े हुए, तब उन्हें भी हिन्दुत्व के पौराणिक रूपों की ओर से बोलने का साहस नहीं हुआ। क्योंकि धर्म के इन रूपों की ओर से ऐसा तर्क ही नहीं दिया जा सकता था जो बुद्धिवादियों को मान्य हो। निदान हिन्दुत्व ने रामकृष्ण में अपना जीवित रूप प्रकट किया और आलोचकों से यह कहा कि जिसे तुम बुद्धि से नहीं समझ सकते, उसे आँखों से देख लो। अतएव, रामकृष्ण धर्म के उन रूपों के प्रतिनिधि हुए, जिन पर ईसाई प्रचारकों का कोप था तथा जो बुद्धिवादी हिन्दुओं की भी समझ में नहीं आते थे। किन्तु, नरेन्द्रनाथ बुद्धिवाद की प्रतिमा थे। वे यूरोपीय विचारधाराओं के मूर्तिमान रूप थे एवं उनके भीतर वे सारे संस्कार वर्तमान थे, जिनके कारण अँग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू भी हिन्दू-धर्म की आलोचना करने लगे थे। वस्तुतः नरेन्द्रनाथ का मिलन श्रद्धा और बुद्धि का मिलन था, रहस्यवाद और बुद्धिवाद का मिलन था। इन दो मूर्तियों में से एक तो पुराणों के सत्यों में लिपटी हुई थी, धर्म के बाह्याचारों को भी सत्य मानकर उन्हें कायम रखना चाहती थी तथा प्राचीन भारत की सभी साधनाओं को सत्य बतलाना चाहती थी और दूसरी तर्क के उच्छल एवं धर्म के बाह्य बन्धनों को तोड़कर प्राचीनता से बाहर निकल जाने को बेचैन थी। रामकृष्ण ने नरेन्द्रनाथ से कुछ भी नहीं लिया, हाँ, अपनी साधना का तेज और अपनी अदृश्य-दर्शिनी दृष्टि को नरेन्द्रनाथ में उतारकर उन्होंने उन्हें विवेकानन्द अवश्य बना दिया। कदाचित्, रामकृष्ण और विवेकानन्द के मिलन में पूर्वी और पश्चिमी जगतों का ही मिलन सम्पन्न हुआ है और, शायद, जिस दिन पश्चिमी जगत् के लोग पूर्वी जगत् के आध्यात्मिक संस्कारों को आत्मसात् करेंगे, भूमण्डल का कल्याण उसी दिन होगा और उसी दिन विश्व भर के शान्ति-साधकों के सपने साकार होंगे। किपलिंग ने जो यह बात कही है कि पूर्व, पूर्व और पश्चिम, पश्चिम है तथा दोनों का मिलन नहीं होगा, वह असत्य है। सत्य तो यही दीखता है कि पश्चिम, पूर्व से मिलेगा और और ठीक उसी प्रकार मिलेगा, जैसे नरेन्द्रनाथ रामकृष्ण से मिले थे।

उपनिषदों के समय से भारतवर्ष निवृत्तिवादियों का देश रहा था। एक दृष्टि से देखिए तो निवृत्ति और प्रवृत्ति धर्म के भीतर की राजनीति है, जैसे साहित्य की राजनीति क्लासिक और

रोमांटिक का विवाद है। किन्तु, राजनीति यह केवल पण्डितों की है। पण्डित ही निवृत्ति के पर्दे में प्रवृत्ति का रस लेते हैं, बाहर त्याग का उपदेश देते हैं, संसार को निःसार बताते हैं और भीतर उसे सारपूर्ण मानकर उसका उपभोग करते हैं। किन्तु इस दगाबाजी से जनसाधारण मारा जाता है। जनता के पास छल-प्रपंच और दाँव-पेंच इतने नहीं होते, जितने पण्डितों के पास होते हैं। परिणाम यह होता है कि पण्डित देश में जैसी दार्शनिक धारा चला देते हैं, जनता के कर्म बहुत-कम उसी के अनुरूप हो जाते हैं। वैदिक हिन्दू प्रवृत्तिमार्गी थे। उनके ऋषि भी गृहस्थ और धर्माचार्य भी बाल-बच्चों वाले होते थे। जो लोग वैदिक मंत्रों के द्रश थे, ऊँचे दार्शनिक सिद्धान्तों के आविष्कर्ता और व्याख्याता थे, वे भी खेतों में काम करते थे तथा गऊओं का पालन-पोषण करके परिवार का पालन एवं अतिथियों की सेवा करते थे। जब समाज प्रवृत्तिमार्गी होता है, तब शारीरिक श्रम निन्दा की वस्तु नहीं होता। उस समय हलवाहे और विद्वान—दोनों एक समान उद्यमी होते हैं। वैदिक काल का समाज ऐसे ही कर्मठ लोगों का समाज था, जब हाथ और मस्तिष्क में कोई बैर नहीं था। बाद में पण्डितों ने सिद्धान्त निकाला कि जीवन का सर्वश्रेष्ठ लक्ष्य मोक्ष है और मोक्ष पाने के लिए कामिनी और कंचन का त्याग आवश्यक है। परिणाम यह हुआ कि हट्टे-कट्टे तन्दरुस्त नौजवान संन्यासी होने लगे और नारियों की मर्यादा समाज में घटने लगी। फिर भी, वैदिक संस्कार अभी निःशेष नहीं हुआ था, इसीलिए उपनिषदों में कहीं-कहीं हम यह उपदेश भी देखते हैं कि भोग निरे अनादर की वस्तु नहीं है, यदि वह त्याग के साथ किया जाए (तेन त्यक्तेन भुंजीथाः)। कबीर, नानक और उधर वल्लभाचार्य ने गृहस्थी बसा कर संसार को सम्मान अवश्य दिया, किन्तु, जनता को प्रवृत्ति के मार्ग पर लाने का सचेष्ट प्रयास उनमें भी नहीं था। कण्ठी, माला, आरती और घण्टे में मग्न हिन्दुओं को यह बात अखरी ही नहीं कि उनका देश पराधीन है। अथवा वे निर्धन और दरिद्र होते जा रहे हैं।

जब स्वामी विवेकानन्द का आविर्भाव हुआ, उन्हें अपने सामने कई प्रकार के उद्देश्य दिखाई पड़े। सबसे बड़ा काम धर्म की पुनःस्थापना का काम था। बुद्धिवादी मनुष्यों की धर्म पर से श्रद्धा, केवल भारत में ही नहीं, प्रत्युत, सभी देशों में हिलती जा रही थी। अतएव, यह आवश्यक था कि धर्म की ऐसी व्याख्या प्रस्तुत की जाए, जो अभिनव मनुष्य को ग्राह्य हो, जो मनुष्य की इहलौकिक विजय के मार्ग में बाधा नहीं डाले। दूसरा काम हिन्दू-धर्म पर कम-से-कम हिन्दुओं की श्रद्धा को जमाये रखना था। किन्तु, हिन्दू यूरोप के प्रभाव में आ चुके थे तथा अपने धर्म और इतिहास पर भी वे तब तक विश्वास करने को तैयार नहीं थे, जब तक कि यूरोप के लोग उनकी प्रशंसा नहीं करें। और

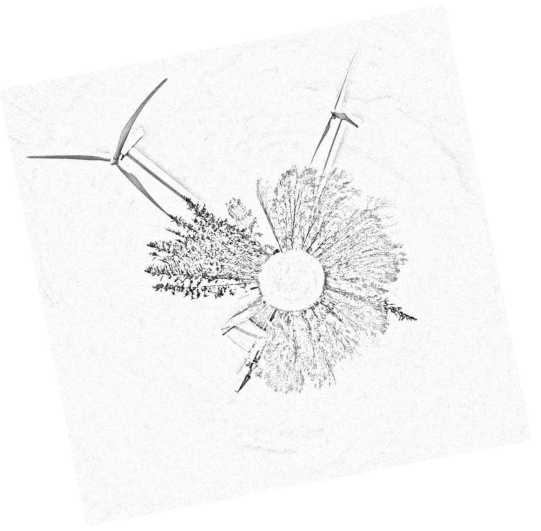

तीसरा काम भारतवासियों में आत्मगौरव की भावना को प्रेरित करना था, उन्हें अपनी संस्कृति, इतिहास और आध्यात्मिक परम्पराओं का योग्य उत्तराधिकारी बनाना था।

स्वामी विवेकानन्द का देहान्त केवल ३९ वर्ष की आयु में हो गया, किन्तु, इस छोटी-सी अवधि में ही उन्होंने उपर्युक्त तीनों कार्य सम्पन्न कर दिए। राममोहन राय के समय से भारतीय संस्कृति और समाज में जो आन्दोलन चल रहे थे, वे विवेकानन्द में आकर अपनी चरम सीमा पर पहुँचे। राममोहन, केशवसेन, दयानन्द, रानाडे, एनीबेसेन्ट, रामकृष्ण एवं अन्य चिन्तकों तथा सुधारकों ने भारत में जो जमीन तैयार की, विवेकानन्द उसमें से अश्वत्थ होकर उठे। अभिनव भारत को जो कुछ कहना था, वह विवेकानन्द के मुख से उद्‌गीर्ण हुआ। अभिनव भारत को जिस दिशा की ओर जाना था, उसका स्पश संकेत विवेकानन्द ने दिया। विवेकानन्द वह सेतु हैं, जिस पर प्राचीन और नवीन भारत परस्पर आलिंगन करते हैं। विवेकानन्द वह समुद्र हैं, जिस में धर्म और राजनीति, राष्ट्रीयता और अन्तरराष्ट्रीयता तथा उपनिषद् और विज्ञान, सब के सब समाहित होते हैं। रवीन्द्रनाथ ने कहा है, यदि कोई भारत को समझना चाहता है, तो उसे विवेकानन्द को पढ़ना चाहिए।" अरविन्द के वचन हैं, पश्चिमी जगत् में विवेकानन्द को जो सफलता मिली, वही इस बात का प्रमाण है कि भारत केवल मृत्यु से बचने को नहीं जगा है, वरन् वह विश्व-विजय करके दम लेगा।" और नेताजी सुभाषचन्द्र बोस ने लिखा है कि स्वामी विवेकानन्द का धर्म राष्ट्रीयता को उत्तेजना देने वाला धर्म था। नई पीढ़ी के लोगों में उन्होंने भारत के प्रति भक्ति जगायी, उसके अतीत के प्रति गौरव एवं उसके भविष्य

के प्रति आस्था उत्पन्न की। उनके उद्‌गारों से लोगों में आत्म-निर्भरता और स्वाभिमान के भाव जगे हैं। स्वामी जी ने सुस्पष्ट रूप से राजनीति का एक भी सन्देश नहीं दिया, किन्तु, जो भी उनके अथवा उनकी रचनाओं के सम्पर्क में आया, उसमें देशभक्ति और राजनीतिक मानसिकता, आप-से-आप उत्पन्न हो गयी।"

ये सारी प्रशंसाएँ सही हैं। इनमें कोई भी अत्युक्ति नहीं है। स्वामी जी धर्म और संस्कृति के नेता थे। राजनीति से उनका कोई सरोकार नहीं था। पर राजनीति तो स्वयं संस्कृति की चेरी है। उसका एक लघु अंग मात्र है। स्वामी जी ने अपनी वाणी व कर्तव्य से भारतवासियों में यह अभिमान जगाया कि हम अत्यन्त प्राचीन सभ्यता के उत्तराधिकारी हैं। हमारे धार्मिक ग्रंथ संसार में सबसे उन्नत और हमारा इतिहास सबसे महान् है; हमारी संस्कृत विश्व की सबसे प्राचीन भाषा और हमारा साहित्य सबसे उन्नत साहित्य है; यही नहीं, प्रत्युत, हमारा धर्म ऐसा है जो विज्ञान की कसौटी पर खरा उतरता है और जो विश्व के सभी धर्मों का सार होता हुआ भी उन सबसे कुछ अधिक है। स्वामी जी की वाणी से हिन्दुओं में यह विश्वास उत्पन्न हुआ कि उन्हें किसी के भी सामने मस्तक झुकाने या लज्जित होने की जरूरत नहीं है। भारत में सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पहले उत्पन्न हुई, राजनैतिक राष्ट्रीयता बाद को जन्मी है और इस सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पिता स्वामी विवेकानन्द थे।

सन् १८९३ ई॰ में शिकागो (अमरीका) में निखिल विश्व के धर्मों का एक महासम्मेलन हुआ था। स्वामी विवेकानन्द के हृदय में यह भाव उत्पन्न हुआ कि वे इस सम्मेलन में अवश्य जाएँगे और अनेक प्रचण्ड बाधाओं के होते हुए भी वे इस सम्मेलन में सम्मिलित हुए। और हिन्दुत्व एवं भारतवर्ष के लिए यह अच्छा हुआ कि स्वामी जी इस सम्मेलन में जा सके क्योंकि इस सम्मेलन में हिन्दुत्व के पक्ष में ऐसा ऊँचा प्रचार हुआ, जैसा न तो कभी पहले हुआ था और न उनके बाद से आज तक हो पाया है।...

स्वामी जी के विदेश-गमन के कई उद्देश्य थे। एक तो वे भारतवासियों के इस अन्धविश्वास को तोड़ना चाहते थे कि समुद्र-यात्रा पाप है तथा विदेशियों के हाथ का अन्न और जल ग्रहण करने से जाति चली जाती है। दूसरे, भारत के अँग्रेजी पढ़े-लिखे लोगों को वे यह भी दिखलाना चाहते थे कि भारतवासी अपना आदर आप भले ही नहीं करें, किन्तु, उनके सांस्कृतिक गुरु पश्चिम के लोग भारत से प्रभावित हो सकते हैं। उनका यह अटल विश्वास था कि भारत के आध्यात्मिक विचारों और आदर्शों का प्रचार यदि पश्चिम के उन्नत देशों में किया जाय, तो इससे वहाँ के लोग अवश्य प्रभावित होंगे तथा पृथ्वी पर एक नई कल्पना, एक नये जीवन का सूत्रपात होगा। स्वामी रामकृष्ण ने साधनापूर्वक यह जान लिया था कि विश्व के सभी धर्म, एक ही धर्म के विभिन्न अंग है एवं सम्पूर्ण विश्व में एक प्रकार की धार्मिक एकता का भाव जगना ही चाहिए। अजब नहीं कि स्वामी जी इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए भी शिकागो के धार्मिक सम्मेलन में जाने को आतुर हो उठे हों।

शिकागो-सम्मेलन में स्वामी जी ने जिस ज्ञान, जिस उदारता, जिस विवेक और जिसे वाग्मिता का परिचय दिया, उससे वहाँ के सभी लोग मंत्रमुग्ध और पहले ही दिन से उनके भक्त हो गए। प्रथम दिन तो स्वामी जी को सबसे अन्त में बोलने का अवसर इसलिए दिया गया था कि उनका कोई समर्थक नहीं था, उन्हें कोई जानता या पहचानता नहीं था। किंतु, उसके बाद सम्मेलन में जो उनके दस-बारह भाषण हुए, वे भाषण भी उन्होंने सभा के अन्त में ही दिए, क्योंकि सारी जनता उन्हीं का भाषण सुनने को अन्त तक बैठी रहती थी। उनके भाषणों पर टिप्पणी करते हुए 'द न्यूयार्क हेराल्ड' ने लिखा कि धर्मों की पार्लियामेंट में सबसे महान् व्यक्ति विवेकानन्द हैं। उनका भाषण सुन लेने पर अनायास ही यह प्रश्न उठ खड़ा होता है कि ऐसे ज्ञानी देश को सुधारने के लिए धर्म-प्रचारक भेजना कितनी बेवकूफी की बात है।"

शिकागो-सम्मेलन से उत्साहित होकर स्वामी जी अमेरिका और इंग्लैंड में तीन साल तक रह गए और इस अवधि में भाषणों, वार्तालापों, लेखों, कविताओं, विवादों और वक्तव्यों के द्वारा उन्होंने हिन्दू धर्म के सार को सारे यूरोप में फैला दिया। प्रायः डेढ़ सौ वर्षों से ईसाई धर्म-प्रचारक संसार में हिन्दुत्व की जो निन्दा फैला रहे थे, उस पर अकेले स्वामी जी के कर्तृत्व ने रोक लगा दी और जब भारतवासियों ने यह सुना कि सारा पश्चिमी जगत् स्वामी जी के मुख से हिन्दुत्व का आख्यान सुनकर गद्‌गद हो रहा है तब हिन्दू भी अपने धर्म और संस्कृति के गौरव का अनुभव कुछ तीव्रता से करने लगे। अँग्रेजी पढ़कर बहके हुए हिन्दू बुद्धिवादियों को समझाना बहुत कठिन कार्य था। किन्तु, जब उन्होंने देखा कि स्वयं यूरोप और अमेरिका के नर-नारी स्वामी जी के शिष्य बनकर हिन्दुत्व की सेवा में लगते जा रहे हैं, तब उनके भीतर भी ग्लानि की भावना जगी और बकवास छोड़कर वे भी स्थिर हो गए। इस प्रकार हिन्दुत्व को लीलने के लिए, अँग्रेजी भाषा, ईसाई धर्म और यूरोपीय बुद्धिवाद के पेट से जो तूफान उठा था, वह स्वामी विवेकानन्द के हिमालय जैसे विशाल वक्ष से टकराकर लौट गया। हिन्दू-जाति का धर्म है कि वह जब तक जीवित रहे, विवेकानन्द की याद उसी श्रद्धा से करती जाय, जिस श्रद्धा से वह व्यास और वाल्मीकि की याद करती है।

स्वामी जी की व्यावहारिकता यह थी कि यूरोप तथा

जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है। किन्तु आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, अतएव, इस स्तर का आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रचुर होता है।

अमेरिका को उन्होंने संयम और त्याग का महत्व समझाया था, किन्तु, भारतवासियों का ध्यान उन्होंने भारतीय समाज की आर्थिक दुरावस्था की ओर आकृष्ट किया एवं धर्म को उनके सामने ऐसा बनाकर रखा जिससे मनुष्य की आधिभौतिक उन्नति में कोई बाधा नहीं पड़े। अमेरिका की उच्छल जीवनी-शक्ति, वहाँ की स्वच्छता, वहाँ का संगठन, वहाँ की सौंदर्य-भावना और वहाँ के वैज्ञानिक साधनों का उपयोग, ये बातें स्वामी जी को बहुत पसन्द आई थीं, किन्तु यूरोपीय सभ्यता के जो दोष हैं, वे भी उनकी आँखों से ओझल नहीं रहे। बोस्टन में दिए गए अपने एक भाषण में स्वामी जी ने इन दोषों का ऐसा पर्दाफाश किया कि वहाँ की जनता उनसे रुष्ट हो गयी। फिर भी स्वामी जी ने अमेरिकी और यूरोपीय लोगों को उनकी सभ्यता का दोष दिखाना बन्द नहीं किया। यूरोप और अमेरिका में जो जातीय अहंकार है, स्वार्थ-साधन और विलासिता के लिए जो पारस्परिक होड़ है, धर्म और संस्कृति के मामले में वहाँ जो भयानक असहिष्णुता है, गरीबों के आर्थिक शोषण का जो विकराल भाव तथा राजनीतिक चालबाजियाँ और हिंसा के जो उद्वेग हैं, उन्हें स्वामी जी यूरोपीय सभ्यता के पाप कहते थे और पश्चिमी देशों के श्रोताओं के सामने वे इनका खुलकर उल्लेख करते थे। व्यक्ति और समाज, दोनों की रक्षा व शान्ति के लिए स्वामी जी धर्म को जरूरी मानते थे, अत: यूरोप को धर्म से विमुख होते देख कर उन्हें चिन्ता हुई। उनका विचार था कि धर्महीन सभ्यता निरी पशुता का उज्ज्वल रूप है तथा उसका विनाश वैसे ही अवश्यम्भावी है, जैसे अतीत के अनेक साम्राज्य विनष्ट हुए हैं। उन्होंने कई बार चेतावनी दी कि आध्यात्मिकता को अनादृत करके यूरोप उस ज्वालामुखी के मुख पर बैठ गया है, जिसमें किसी भी क्षण विस्फोट हो सकता है।

रूढ़ियों, आडम्बरों और बाह्याचारों से ऊपर उठकर स्वामी जी ने धर्म की विलक्षण व्याख्या प्रस्तुत की। धर्म मनुष्य के भीतर निहित देवत्व का विकास है।" धर्म न तो पुस्तकों में है, न धार्मिक सिद्धान्तों में। वह केवल अनुभूति में निवास करता है।" धर्म अन्धविश्वास नहीं है, धर्म अलौकिकता में नहीं है, वह जीवन का अत्यन्त स्वाभाविक तत्त्व है।" मनुष्य में पूर्णता की इच्छा है, उन्नत जीवन की कामना है, ज्ञान और आनन्द प्राप्त करने की चाह है। पूर्णता, ज्ञान और आनन्द है, ये निचले स्तर पर नहीं हैं; उनकी खोज जीवन के उच्च स्तर पर की जानी चाहिए। जहाँ ऊँचा स्तर आता है, वहीं धर्म का आरम्भ होता है। जीवन का स्तर जहाँ हीन है, इन्द्रियों का आनन्द वहीं अत्यन्त प्रखर होता है। खाने में जो उत्साह भेड़िये और कुत्ते दिखाते हैं, वह उत्साह मनुष्य के भोजन के समय नहीं दिखायी देता। कुत्तों और भेड़ियों का सारा आनन्द उनकी इन्द्रियों में केन्द्रित होता है। इसी प्रकार, सभी देशों के निचले स्तर के मनुष्य इन्द्रियों के आनन्द में अत्यन्त उत्साह दिखाते हैं। किन्तु, जो सच्चे अर्थों में शिक्षित और सुसंस्कृत व्यक्ति हैं, उनके आनन्द का आधार विचार और कला होती है, दर्शन और विज्ञान होता है। किन्तु आध्यात्मिकता तो और भी ऊँचे स्तर की चीज है, अतएव, इस स्तर का आनन्द भी अत्यन्त सूक्ष्म और प्रचुर होता है।" यूरोप और अमेरिका के निवासियों पर स्वामी जी ने यह प्रभाव डालना चाहा कि व्यक्ति अथवा समूह के जीवन की सफलता उसकी आधिभौतिक समृद्धि अथवा भौतिक उपलब्धियों पर निर्भर नहीं करके, आध्यात्मिक उन्नति पर निर्भर करती है। अतएव, मनुष्य को चाहिए कि पहले वह पवित्रता, भक्ति, विनयशीलता, सच्चाई, नि:स्वार्थता और प्रेम का विकास करे, तथा बाद को अन्य गुणों का।

यूरोप और अमेरिका में भोग प्रचुर परिमाण में उपलब्ध था। इसीलिए स्वामी जी ने वहाँ के निवासियों को संयम और त्याग की शिक्षा दी। किन्तु, भारत में दरिद्रता का साम्राज्य था, निर्धनता का नग्न वास था एवं यहाँ के लोग धनाभाव के कारण भी

जन-जन में जो शक्ति
छिपी हुई है, हमें उसे साकार
करना है। जन-जन में जो
साहस और विवेक प्रच्छन्न है,
हमें उसे बाहर लाना है।

जीवन के ऊँचे गुणों से वियुक्त हो गए थे। अत: भारतवासियों को उन्होंने जो उपदेश दिया वह केवल धर्म के लिए नहीं था, प्रत्युत, उन्होंने यहाँ के लोगों में असन्तोष जगाना चाहा और उन्हें कर्म की भावना से आन्दोलित करने की चेष्टा की। शिकागो के विश्व-धर्म-सम्मेलन में भी स्वामी जी ने ईसाईयों के समक्ष निर्भीक गर्जना की थी, तुम ईसाई लोग मूर्तिपूजकों को आत्मा के बचाव के लिए भारत में धर्म-प्रचारक भेजने को बहुत ही आतुर दिखते हो, किन्तु, इन मूर्तिपूजकों के शरीर को क्षुधा की ज्वाला से बचाने के लिए तुम क्या कर रहे हो? भयानक दुर्भिक्षों के समय लाखों भारतवासी निराहार मर रहे थे, किन्तु, तुम ईसाइयों से कुछ भी नहीं बन पड़ा। भारत की भूमि पर तुम गिरजे बनवाते जा रहे हो, किन्तु, तुम्हें यह ज्ञात नहीं है कि पूर्वी जगत् की आकुल आवश्यकता रोटी है, धर्म नहीं। धर्म एशिया वालों के पास अब भी बहुत है। वे दूसरों से धर्म का पाठ नहीं पढ़ना चाहते। जो जाति भूख से तड़प रही है, उसके आगे धर्म परोसना, उसका अपमान है। जो जाति रोटी को तरस रही है, उसके हाथ में दर्शन और धर्म-ग्रंथ रखना उसका मजाक उड़ाना है।"

कहते हैं, एक बार कोई नवयुवक स्वामी जी के पास गया और उनसे बोला, स्वामी जी! मुझे गीता समझा दीजिये।" स्वामी जी ने सच्चे मन से कहा, गीता समझने का वास्तविक स्थान फुटबाल का मैदान है। जाओ, घण्टे भर खेल-कूद लो। गीता तुम स्वयं समझ जाओगे।"

स्वामी जी संसार घूम कर देख चुके थे कि नई मानवता कितनी उच्छल और बलवती है। उसकी तुलना में भारत के लोग उन्हें बौने और बीमार दिखाई दिए। अत: भारत में उनके अधिकांश उपदेश शारीरिक उन्नति, साहस, सेवा और कर्म की महत्ता सिद्ध करने को दिए गए। भारतवर्ष को वे क्षीण और कोमल-वपु सन्यासियों का देश बनाना नहीं चाहते थे। न उनका यही उद्देश्य था कि यहाँ के लोग अनिवार्यत: शाकभोजी होकर धर्म की साधना करते हुए निर्धनता और गुलामी का दंश सहते हुए मौन रहें। अपने एक शिष्य द्वारा यह पूछे जाने पर कि मांस-मछली खाना चाहिए या नहीं, स्वामी जी ने कहा, हाँ, निन्दा का भय माने बिना मांस-मछली तुम जी भर खा सकते हो। शाक-पात खाकर जीने वाले आमाशय के रोगी साधुओं से सारा देश भर गया है। ये लक्षण सत्त्व के नहीं, भयानक तमस् के हैं और तमस् मृत्यु की कालिमा का नाम है। आकृति में दमकती हुई कान्ति, हृदय में अदम्य उत्साह, कर्म-चेष्टा की विपुलता और उद्वेलित शक्ति, ये सत्त्व की पहचान है। इसके विपरीत तमस् का लक्षण आलस्य और शैथिल्य है, अनुचित आसक्ति और निद्रा का मोह है।... कौन सा भोजन शुद्ध और कौन सा अशुद्ध है, क्या इसी विचिकित्सा में जीवन बिता दोगे या इन्द्रिय-निग्रह का भी कुछ ध्यान है? हमारा लक्ष्य इन्द्रियों का निग्रह है, मन को वश में लाना है। अच्छे और बुरे का भेद, शुद्ध और अशुद्ध का विचार इन्द्रिय-निग्रह नहीं, उस ध्येय के सहायक मात्र हैं।"

स्वामी जी बार-बार कहा करते थे कि भारत का कल्याण शक्ति की साधना में है। जन-जन में जो शक्ति छिपी हुई है, हमें उसे साकार करना है। जन-जन में जो साहस और विवेक प्रच्छन्न है, हमें उसे बाहर लाना है। मैं भारत में लोहे की मांस-पेशियाँ और फौलाद की नाड़ी तथा धमनी देखना चाहता हूँ, क्योंकि इन्हीं के भीतर वह मन निवास करता है जो शंपाओं एवं वज्रों से निर्मित होता है। शक्ति, पौरुष, क्षात्रवीर्य और ब्रह्मतेज–इनके समन्वय से भारत की नई मानवता का निर्माण होना चाहिए।" मृत्यु का ध्यान करो, प्रलय को अपनी समाधि में देखो तथा महाभैरव रुद्र को अपनी पूजा से प्रसन्न करो। जो भयानक है, उसकी अर्चना से ही भय बस में आएगा।... सम्भव हो तो जीवन को छोड़कर मृत्यु की कामना करो। तलवार की धार पर अपना शरीर लगा दो और रुद्र शिव से एकाकार हो जाओ।"

संस्कृति का ध्यान करते-करते भारत का स्वाभिमान जग चुका था। अब दूसरा सोपान उसकी वीरता, निर्भयता और बलिदान की भावना को जागृत करना था। स्वामी जी ने वीरता, बलिदान और निर्भयता की शिक्षाएँ भी धर्म से निकालीं एवं रुद्र-शिव तथा महाकाली को लोगों का आराध्य बना दिया। स्वामी जी की अहिंसा और वैराग्य-भावना में भी क्षात्र-धर्म का स्पर्श था। जिन विचारों, जिन धर्मों और आचारों से कायरता की

बृद्धि एवं पौरुष का दलन होता है, स्वामी जी उनके अत्यन्त विरुद्ध थे। इसीलिए, बुद्ध की अहिंसा की स्वामी जी ने कभी भी खुलकर प्रशंसा नहीं की, बल्कि एक बार तो उन्होंने कह भी दिया कि बुद्ध की शिक्षाओं के पीछे 'भयानक दुर्बलता की छाया विद्यमान है।' स्वामी जी न तो धर्मयुद्ध के प्रेमी थे, न उनकी यही सम्मति थी कि क्रोध के प्रत्येक उफान पर मनुष्य को तलवार लेकर दौड़ना ही चाहिए। किन्तु, हिंसा को, कदाचित् वे सभी स्थितियों में त्याज्य नहीं मानते थे। एक बार उनसे किसी भक्त ने पूछा–महाराज! कोई शक्तिशाली व्यक्ति यदि किसी दुर्बल का गला टीप रहा हो, तो हमें क्या करना चाहिए?" स्वामी जी ने तड़ाक से उत्तर दिया, क्यों? बदले में उस शक्तिशाली की गर्दन टीप दो। क्षमा भी कमजोर होने पर अक्षम्य है, असत्य है, अधर्म है। युद्ध उससे उत्तम धर्म है। क्षमा तभी करनी चाहिए, जब तुम्हारी भुजा में विजय-शक्ति वर्तमान हो।"

आधिभौतिकता ने भारत के सामने जो चुनौती रखी थी, उसका भी समीचीन उत्तर विवेकानन्द ने दिया। वे उस प्रकार के सुधारक और सन्त थे, जिनकी अनुभूति में पुराने धर्म नवीन रूप ग्रहण करते हैं, प्राचीन दर्शन की परतें छूटकर गिर जाती हैं और जंग लगे विचार धुलकर चमकने लगते हैं। वे इस बात को कब बर्दाश्त कर सकते थे कि परम्पराएँ भारतवासियों की उन्नति का मार्ग रोकें, अथवा धर्म उन्हें निर्धन और गुलाम रहने को लाचार करे? उपनिषदों का उपदेश है कि सभी आत्माएँ एक हैं, क्योंकि वे सब की सब एक ही परब्रह्म के असंख्य प्रतिबिम्ब मात्र हैं। इस सिद्धान्त से स्वामी जी ने यह निष्कर्ष निकाला कि जिसे परब्रह्म कहते हैं वह सभी जीवों के योग से अधिक नहीं है। अतएव, सच्ची ईशोपासना यह है कि हम अपने मानव-बन्धुओं की सेवा में अपने आपको लगा दें। जब पड़ोसी भूखा मरता हो, तब मन्दिर में भोग चढ़ाना पुण्य नहीं, पाप है। जब मनुष्य दुर्बल और क्षीण हो, तब हवन में घृत जलाना अमानुषिक कर्म है। संसार के अगणित नर-नारियों में परमात्मा भासमान है।" तथा मेरे जीवन का परम ध्येय उस ईश्वर के विरुद्ध संघर्ष करना है, जो परलोक में आनन्द देने के बहाने इस लोक में मुझे रोटियों से वंचित रखता है, जो विधवाओं के आँसू पोंछने में असमर्थ है, जो माँ-बाप से हीन बच्चे के मुख में रोटी का टुकड़ा नहीं दे सकता।" केश नामक संथाल को भोजन कराके उन्होंने कहा था, तुम भगवान हो। आज मुझे सन्तोष है कि भगवान ने मेरे समक्ष भोजन किया।" वे कहते थे, वास्तविक शिव की पूजा निर्धन और दरिद्र की पूजा है, रोगी और कमजोर की पूजा है।" निर्धनता, पुरोहितवाद और धार्मिक अत्याचार सिखाने वाले दर्शनों के स्वामी जी प्रचण्ड विरोधी थे। इसी प्रकार, धनियों के प्रति भी उनमें आदर का भाव नहीं था। भारत की एक मात्र आशा उसकी जनता है। ऊँची श्रेणी के लोग तो शरीर और नैतिकता, दोनों ही दृष्टियों से मर चुके हैं।"

स्वामी जी स्वयं संन्यासी थे। संन्यासियों का एक महत् मठ भी उन्होंने ही खड़ा किया एवं समाजसेवी युवकों को वे अविवाहित रहने का उपदेश देते थे। किन्तु, गृहस्थों को वे हीन नहीं मानते थे। उलटे, उनका विचार था कि गृहस्थ भी ऊँचा और संन्यासी भी नीचा हो सकता है। मैं संन्यासी और गृहस्थ में कोई भेद नहीं करता। संन्यासी हो या गृहस्थ, जिसमें भी मुझे महत्ता, हृदय की विशालता और चरित्र की पवित्रता के दर्शन होते हैं, मेरा मस्तक उसी के सामने झुक जाता है।"

नारियों के प्रति उनमें असीम उदारता का भाव था। वे कहते थे, ईसा अपूर्ण थे क्योंकि जिन बातों में उनका विश्वास था, उन्हें वे अपने जीवन में नहीं उतार सके। उनकी अपूर्णता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि उन्होंने नारियों को नरों के समकक्ष नहीं माना। असल में उन्हें यहूदी संस्कार जकड़े हुए था, इसीलिए, वे किसी भी नारी को अपनी शिष्या नहीं बना सके। इस मामले में बुद्ध उनसे श्रेष्ठ थे, क्योंकि उन्होंने नारियों को भी भिक्षुणी होने का अधिकार दिया।" एक बार उनके एक शिष्य ने पूछा, महाराज! बौद्ध मठों में भिक्षुणियाँ बहुत रहती थीं। इसी लिए तो देश में अनाचार फैल गया।" स्वामी जी ने इस आलोचना का उत्तर नहीं दिया, किन्तु, वे बोले, पता नहीं, इस देश में नारियों और नरों में इतना भेद क्यों किया जाता है। वेदान्त तो यही सिखाता है कि सब में एक ही आत्मा का वास है। तुम लोग नारियों की सदैव निन्दा ही करते रहते हो, किन्तु कह सकते हो कि उनकी उन्नति के लिए अब तक तुमने क्या किया है? स्मृतियाँ रचकर तथा गुलामी की कड़ियाँ गढ़कर पुरुषों ने नारियों को बच्चा जनने की मशीन बना रख छोड़ दिया। नारियाँ महाकाली की साकार प्रतिमाएँ हैं। यदि तुमने इन्हें और नहीं उठाया तो यह मत सोचो कि तुम्हारी अपनी उन्नति का कोई अन्य मार्ग है।... संसार की सभी जातियाँ नारियों का समुचित सम्मान करके ही महान् हुई हैं। जो जाति नारियों का सम्मान करना नहीं जानती, वह न तो अतीत में उन्नति कर सकी, न आगे उन्नति कर सकेगी।"

जहाँ तक स्त्री-जाति की वेदनाओं और पीड़ाओं का प्रश्न है, स्वामी जी को भारत और यूरोप, दोनों ही महादेश आँसुओं से सिक्त दिखाई पड़े थे। स्वामी जी ने कहा था, विपत्तियाँ भारत में भी हैं और पश्चिमी देशों में भी। यहाँ विधवाएँ रोती हैं, वहाँ कुमारियाँ।"

स्वामी जी हिन्दुत्व की शुद्धि के लिए उठे थे तथा उनका प्रधान क्षेत्र धर्म था। किन्तु, धर्म और संस्कृति, ये दोनों परस्पर एक दूसरे का स्पर्श करते चलते हैं। भारतवर्ष में राष्ट्रीय पतन के

कई कारण आर्थिक और राजनीतिक थे। किन्तु, बहुत से कारण ऐसे भी थे जिनका धर्म से सम्बन्ध था। अत: स्वामी विवेकानन्द ने धर्म का परिष्कार भारतीय समाज की आवश्यकताओं को दृष्टिगत रखकर करना आरम्भ किया और इस प्रक्रिया में उन्होंने कड़ी-से-कड़ी बातें भी बड़ी ही निर्भीकता से कह दीं। शक्ति का उपयोग केवल कल्याण के निमित्त होना चाहिए। जब उससे पाप का समर्थन किया जाता है, तब वह गर्हित हो जाती है। युगों से ब्राह्मण भारतीय संस्कृति का थातीदार रहा है। अब उसे इस संस्कृति को सब के पास विकीर्ण कर देना चाहिए। उसने इस संस्कृति को जनता में जाने से रोक रखा, इसीलिए, भारत पर मुसलमानों का आक्रमण संभाव्य हो सका। ब्राह्मण ने संस्कृति के भंडार पर ताला लगा रखा, जन-साधारण को उसमें से कुछ भी लेने नहीं दिया, इसीलिए हजारों साल तक जो भी जातियाँ भारत आ पड़ीं, हम उनके गुलाम होते गए। हमारे पतन का कारण ब्राह्मण की अनुदारता रही है। भारत के पास जो भी सांस्कृतिक कोष है, उसे जन-साधारण के कब्जे में जाने दो। और चूँकि ब्राह्मण ने यह पाप किया था, इसीलिए प्रायश्चित भी सबसे पहले उसी को करना है। साँप का काटा हुआ आदमी जी उठता है, यदि वही साँप आकर फिर से अपना जहर चूस ले। भारतीय समाज को ब्राह्मण-रूपी सर्प ने डसा है। यदि ब्राह्मण अपना विष वापस ले ले, तो यह समाज अवश्य जी उठेगा।"

ऊँची और तथाकथित नीची जातियों के बीच सामाजिक पद-प्रतिष्ठा को लेकर जो संघर्ष है, स्वामी जी ने उससे पैदा होने वाले खतरों पर भी विचार किया था। इस संबंध में उनका समाधान यह था कि यदि ब्राह्मण कहलाने से सभी जातियों को संतोष होता है, तो उचित है कि वे अपनी-अपनी सभाओं में यह घोषणा कर दें कि हम ब्राह्मण हैं। इससे भारत को बहुत बड़ी शक्ति प्राप्त होगी। एक तो इस देश में जातियों का भेद आप-से-आप समाप्त हो जाएगा, दूसरे, सभी वर्ण के लोग ब्राह्मण संस्कृति को स्वीकार करके आज के सांस्कृतिक धरातल से स्वयमेव ऊपर उठ जाएँगे। हाँ, स्वामी जी का यह भी विचार था कि रुपये चाहे जिस विद्या से भी प्राप्त हो जाएँ, किन्तु, सामाजिक प्रतिष्ठा भारतवर्ष में अब भी संस्कृत भाषा के ज्ञान से मिलती है। अतएव, जो भी भारतवासी ब्राह्मण की प्रतिष्ठा वाला पद प्राप्त करना चाहता है, उसे संस्कृत में दक्षता अवश्य प्राप्त करनी चाहिए।

भारतीय एकता का महत्व स्वामी जी ने जनता के समक्ष अत्यन्त सुस्पश रूप में रखा। अथर्ववेद में एक मंत्र है, जिसका अर्थ होता है कि मन से एक बनो, विचार से एक बनो। प्राचीन काल में देवताओं का मन एक हुआ, तभी से वे नैवेद्य के अधिकारी रहे हैं। मनुष्य देवताओं की अर्चना इसलिए करते हैं कि देवताओं का मन एक है। मन से एक होना समाज के अस्तित्व का सार है। किन्तु, द्रविड़ और आर्य, ब्राह्मण और अब्राह्मण—इन तुच्छ विवादों में पड़कर तुम जितना ही झगड़ते जाओगे, तुम्हारी शक्ति उतनी ही क्षीण होती जाएगी। तुम्हारा संकल्प एकता से उतना ही दूर पड़ता जाएगा। स्मरण रखो कि शक्ति संचय और संकल्प की एकता, इन्हीं पर भारत का भविष्य निर्भर करता है। जब तक महान् कार्यों के लिए तुम अपनी शक्तियों का संचय नहीं करते, जब तक एक मन होकर तुम आत्मोद्धार के कार्य में नहीं लगते, तब तक तुम्हारा कल्याण नहीं है। प्रत्येक चीनी अपने ही ढंग पर सोचता है, किन्तु मुट्ठी भर जापानियों का मन एक है। इसके जो परिणाम निकले हैं, उन्हें तुम भली-भाँति जानते हो। विश्व के समग्र इतिहास में यही होता आया है।"

व्यावहारिक नेता के समान स्वामी जी ने भारतीयों के चरित्र के एक भीषण दोष पर अपनी उँगली रखी और काफी जोर देकर कहा, हमारे देशवासियों में से कोई व्यक्ति जब ऊपर उठने की चेष्टा करता है, तब हम सब लोग उसे नीचे घसीटना चाहते हैं, किन्तु यदि कोई विदेशी आकर हमें ठोकर मारता है, तो हम समझते हैं, यह ठीक है। हमें इन तुच्छताओं की आदत पड़ गई है। लेकिन, अब गुलामों को अपना मालिक आप बनना है। इसलिए, दास-भावना को छोड़ दो। अगले पचास वर्षों तक भारतमाता को छोड़कर हमें और किसी का ध्यान नहीं करना है। भारतमाता को छोड़कर और सभी देवता झूठे हैं। उन्हें अपने मन से निकालकर फेंक दो। यही देवी, यही हमारी जाति वास्तविक देवी है। सर्वत्र उसके हाथ दिखायी पड़ते हैं, सर्वत्र उसके पाँव विराजमान हैं, सर्वत्र उसके कान हैं और सब कुछ पर उसी देवी का प्रतिबिम्ब छाया हुआ है। बाकी जितने देवता हैं, नींद में है। यह विराट् देवता हमारे सामने प्रत्यक्ष है। इसे छोड़कर हम और किस देवता की पूजा करेंगे?"

धर्म-साधना के लोभ में जीवन से भागकर गुफा में नाक-कान दबाकर प्राणायाम करने की परम्परा की भारत में बड़ी महिमा थी। स्वामी विवेकानन्द ने इस परम्परा की महिमा एक झटके में उड़ा दी। आधा मील की खाई तो हम से पार नहीं की जाती, मगर, हनुमान के समान हम समग्र सिन्धु को लाँघ जाना चाहते हैं। यह होने वाली बात नहीं है। हर आदमी योगी बने, हर आदमी समाधि में चला जाए, यह गलत बात है। यह असंभव है, यह अकरणीय है। दिन भर कर्मसंकुल विश्व के साथ मिलन और संघर्ष तथा संध्या समय बैठकर प्राणायाम! क्या यह इतना सरल कार्य है? तुमने तीन बार नाक बजायी है, तीन बार नासिका से भीतर की वायु को बाहर किया है, तो क्या इतने से ही ऋषिगण आकाश से होकर तुम्हारे पास चले आएँगे? क्या

यह भी कोई मजाक है? ये सारी बेवकूफी की बातें हैं। जिस चीज की जरूरत है वह है चित्तशुद्धि और चित्तशुद्धि कैसे होगी? सबसे पहले पूजा विराट् की होनी चाहिए, उन असंख्य मानवों की जो तुम्हारे चारों ओर फैले हुए हैं। संसार में जितने भी मनुष्य और जीव-जन्तु हैं, सभी परमात्मा हैं, सभी परब्रह्म के रूप हैं और इनमें भी सर्वप्रथम हमें अपने देशवासियों की पूजा करनी चाहिए। आपस में ईर्ष्या-द्वेष रखने के बदले, आपस में झगड़ा और विवाद करने के बदले तुम परस्पर एक-दूसरे की अर्चना करो, एक-दूसरे से प्रेम रखो। हम जानते हैं कि किन कर्मों ने हमारा सर्वनाश किया, किन्तु फिर भी हमारी आँखें नहीं खुलतीं।"

गांधी, रवीन्द्रनाथ, राधाकृष्णन् और जवाहरलाल में हम इस आशा को गतिशील पाते हैं कि भारत के पास जो सन्देश है, भारत के पास जो दीर्घकालीन अनुभव है, उससे सारे विश्व का कल्याण हो सकता है। एशिया साधनहीन और दुःखी, किन्तु यूरोप समृद्ध एवं असन्तुष्ट है। एशिया उच्च जीवन की कामना लिए अनेक दुर्गतियों को झेलता आ रहा है। यूरोप ने दुर्गतियों पर तो विजय प्राप्त कर ली, किन्तु उच्च जीवन की राह उसे मानो मिली ही नहीं। विश्व का कल्याण इसमें है कि एशिया यूरोप की आधिभौतिकता को ग्रहण करे और इस प्रकार ग्रहण करे कि उसकी मानसिकता को आँच नहीं आए। इसी प्रकार यूरोप के दुर्दान्त शरीर के भीतर जो आत्मा सोती जा रही है, उसे जगकर सचेष्ट होना चाहिए। यूरोप का यह आत्मिक जागरण एशिया की संगति से आएगा। स्वामी जी की दृष्टि इस आवश्यकता पर भी पड़ी थी और जब सारा भारतवर्ष यूरोप के चाकचिक्य से मोहित हो रहा था, तब उन्होंने घोषणा की, जीवन का धर्म आदान-प्रदान है। क्या यह अच्छा होगा कि हम सदैव पश्चिमवालों के चरणों के पास बैठकर सब कुछ, यहाँ तक कि धर्म भी, सीखते रहें! क्या हम केवल लेते ही रहेंगे? देना हमें भी नहीं है? पश्चिम से हम यंत्रवाद की शिक्षा ले सकते हैं। और भी कई बातें अच्छी हैं, जिन्हें पश्चिम से ग्रहण करना आवश्यक दीखता है। किन्तु हमें उन्हें कुछ सिखाना भी है। हम उन्हें धर्म और आध्यात्मिकता की शिक्षा दे सकते हैं। विश्व-सभ्यता अभी अधूरी है। पूर्ण होने के लिए वह भारत की राह देख रही है। वह भारत की उस आध्यात्मिक सम्पत्ति की प्रतीक्षा में है, जो पतन, गन्दगी और भ्रष्टाचार के होते हुए भी भारत के हृदय में जीवित और अक्षुण्ण है।... इसलिए संकीर्णता को छोड़कर हमें बाहर निकलना है। पश्चिम वालों से हमें एक विनिमय करना है। धर्म और आध्यात्मिकता के स्तर की चीजें हम उन्हें देंगे और बदले में भौतिक साधनों का दान हम सहर्ष स्वीकार करेंगे। समानता के बिना मैत्री सम्भव नहीं होती और समानता वहाँ आएगी कहाँ से, जहाँ एक तो बराबर गुरु बना रहना चाहता है और दूसरा उसका सनातन शिष्य?"

औसत हिन्दू धीर और अनुग्र होता है। इस धीरज और अनुग्रता को स्वामी जी भावी सभ्यता के लिए वरदान समझते थे। उनका विचार था कि संसार पर धीर और अनुग्र हिन्दू-जाति का जितना आभार है, उतना और किसी जाति का नहीं। हिन्दू-जाति की महिमा राजनैतिक महत्ता अथवा सामरिक शक्ति के कारण नहीं है। राजनैतिक महत्ता और सामरिक शक्ति का अर्जन हमारी जाति का ध्येय न तो पहले था, न कभी आगे होने वाला है।" हिन्दू का मस्तिष्क शीतल और शान्त होता है। मानव-जाति की सर्वांगीण उन्नति में हिन्दुओं को अपना अंशदान इस शीतल-शान्त मस्तिष्क के द्वारा ही प्रदान करना होगा।

स्वामी जी के समय से ही यह प्रत्यक्ष हो गया था कि भारत यूरोप के समान राजनैतिक शक्ति का अगार होना चाहता है। इसकी उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी स्वामी जी ने यह चेतावनी दी थी कि भारत की रीढ़ धर्म है। वह दिन बुरा होगा, जब यह देश अपनी आध्यात्मिक रीढ़ को हटाकर उसकी जगह पर एक राजनैतिक रीढ़ बैठा लेगा।

मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं।

भारत को स्वामी जी ने यह भी सुझाया था कि भारत यूरोप में गरीबी और पाप सहभागी माने जाते हैं। किंतु, अपने देश में गरीबी पाप नहीं है। उलटे, इस देश के सबसे बड़े लोग गरीबी की पोशाक में रहते थे।

हिन्दुत्व का प्रबल समर्थक होने पर भी स्वामी विवेकानन्द में इस्लाम के प्रति कोई द्वेष नहीं था। उनके गुरु परमहंस रामकृष्ण ने तो छः महीनों तक विधिवत् मुसलमान होकर इस्लाम की साधना भी की थी। इस संस्कार के कारण इस्लाम के प्रति उनका दृष्टिकोण यथेष्ट रूप से उदार था। उन्होंने कहा है, यह तो कर्म का फल था कि भारत को दूसरी जातियों ने गुलाम बनाया। किन्तु भारत ने भी अपने विजेताओं में से प्रत्येक पर सांस्कृतिक विजय प्राप्त की। मुसलमान इस प्रक्रिया के अपवाद नहीं हैं। शिक्षित मुसलमान, प्रायः सूफी होते हैं जिनके विश्वास हिन्दुओं से भिन्न नहीं होते। इस्लामी संस्कृति के भीतर भी हिन्दू विचार प्रविष्ट हो गए हैं। विख्यात मुगल सम्राट् अकबर हिन्दुत्व के काफी समीप था। यही नहीं, प्रत्युत, काल-क्रम में इंग्लैंड पर भी भारत का प्रभाव पड़ेगा।"

सिस्टर निवेदिता की (स्वामी जी विषयक अँग्रेजी) पुस्तक में इस बात का उल्लेख है कि एक बार स्वामी जी तीन-चार दिनों की एकान्त समाधि से लौटकर निवेदिता से बोले, मेरे मन में यह सोचकर बराबर क्षोभ उठता था कि मुसलमानों ने हिन्दुओं के मन्दिरों को क्यों तोड़ा, उनके देवी-देवताओं की मूर्तियों को क्यों भ्रष्ट किया। किन्तु आज माता (काली) ने मेरे मन को आश्वस्त कर दिया। उन्होंने मुझसे कहा, 'अपनी मूर्तियों को मैं कायम रखूँ या तुड़वा दूँ, यह मेरी इच्छा है। इन बातों पर सोच-सोचकर तू क्यों दुःखी होता है?' "

इस्लाम और हिन्दुत्व के मिलन का महत्त्व स्वामी जी ने एक और उच्च स्तर पर बतलाया है। सामान्यतः वेदान्त ज्ञान का विषय समझा जाता है, जिसमें त्याग और वैराग्य की बातें अनिवार्य रूप से आ जाती है; किन्तु इस्लाम मुख्यतः भक्ति का मार्ग है तथा हजरत मुहम्मद का पंथ देह-दंडन, संन्यास और वैराग्य को महत्व नहीं देता। किन्तु स्वामी विवेकानन्द की व्याख्या का वेदान्त इस्लाम से कोई विरोध नहीं रखता था। इसलिए स्वामी जी की कल्पना थी कि इस्लाम की व्यावहारिकता को आत्मसात् किए बिना वेदान्त के सिद्धान्त जनता के लिए उपयोगी नहीं हो सकते। सन् १८९८ ई॰ में उन्होंने एक चिट्ठी में यह भी लिखा था—हमारी जन्मभूमि का कल्याण तो इसमें है कि उसके दो धर्म, हिन्दुत्व और इस्लाम मिलकर एक हो जाएँ। वेदान्ती मस्तिष्क और इस्लामी शरीर के संयोग से जो धर्म खड़ा होगा, वही भारत की आशा है।"

भारत के विश्व-धर्म, विश्व-बन्धुत्व और विश्ववाद की भावना का आरम्भ राममोहन राय की अनुभूतियों में हुआ था एवं उन्होंने हिन्दू धर्म की जो व्याख्या प्रस्तुत की, वह विश्वधर्म की भूमिका से तनिक भी कम नहीं थी। मुक्त चिन्तन, वैयक्तिक स्वातंत्र्य और प्रत्येक प्रकार का विश्वास रखकर भी धर्मच्युत नहीं होने की योग्यता—हिन्दू धर्म के ये पुराने लक्षण रहे हैं। हिन्दू नास्तिक भी रहा है और आस्तिक भी, साकारवादी भी रहा है और निराकारवादी भी, उसने महावीर का भी आदर किया है और बुद्ध का भी, उसने वेदों को अपौरुषेय भी माना है और सादि भी। विश्वासों में यह जो प्रचंड भिन्नता है, उससे हिन्दू का हिन्दुत्व दूषित नहीं होता। हिन्दू जन्म से ही उदार होता है एवं किसी एक विचार पर सभी को लाठी से हाँककर पहुँचाने में वह विश्वास नहीं करता। जब थियोसोफिस्ट लोग हिन्दुत्व का प्रचार करने लगे, तब हिन्दुत्व का यह सार्वभौम पक्ष कुछ और विकसित हो गया। और रामकृष्ण ने तो बारी-बारी से मुसलमान और क्रिस्तान होकर इस सत्य पर अपनी अनुभूति की मुहर लगा दी कि संसार के सभी धर्म एक हैं। उनके बीच किसी प्रकार का भेद-भाव मानना नितान्त अज्ञानता की बात है। स्वामी विवेकानन्द ने हिन्दुत्व के सार्वभौम रूप का और भी व्यापक विस्तार किया। संसार में जो अनेक धर्म फैले हुए हैं, उनकी अनिवार्यता बताते हुए उन्होंने कहा कि मनुष्य सर्वत्र अन्न ही खाता है, किन्तु देश-देश में अन्न से भोजन तैयार करने की विधियाँ अनेक हैं। इसी प्रकार धर्म मनुष्य की आत्मा का भोजन है, एवं देश-देश में उसके भी अनेक रूप हैं। भारत में जितने भी धर्म प्रचलित हैं उनके विषय में स्वामी जी का कहना था कि हमें इन धर्मों को केवल बर्दाश्त ही नहीं करना है, ये सभी धर्म हमारे अपने

धर्म हैं–इस भाव से उन सबको हमें अपना लेना है।

संसार के धर्मों में एकता कैसे लायी जाए, इसका समाधान नहीं मिलता। प्राचीन काल में अनेक लोग यह मानते थे कि जो धर्म सबसे अच्छा हो, संसार भर के मनुष्यों को उसी धर्म में दीक्षित हो जाना चाहिए। इसका परिणाम यह हुआ कि प्रत्येक धर्म के लोग अपने ही धर्म का व्यापक प्रचार करने लगे, जिनमें से इस्लाम और ईसाइयत के प्रचारकों ने सबसे अधिक उत्साह दिखलाया। शिकागो में जो विश्व-धर्म-सम्मेलन हुआ था, उसका भी एक आशय यह था कि संसार में सर्वोत्तम धर्म कौन-सा है, इसका निर्णय कर लिया जाए। किन्तु उस सम्मेलन में स्वामी जी ने अपना जो विचार रखा, उससे सभी प्रतिनिधि चमत्कृत हो उठे। उन्होंने कहा, धार्मिक एकता कैसे हो, इस बात की यहाँ काफी विचिकित्सा हुई है। इस सम्बन्ध में मेरा जो अपना मतवाद है, उसे प्रस्तुत करने का साहस मैं नहीं करूँगा। किन्तु इतना कहना आवश्यक है कि यदि कोई व्यक्ति यह समझता हो कि धार्मिक एकता का मार्ग एक धर्म की विजय और बाकी का विनाश है, तो मैं उससे निवेदन करूँगा–'बन्धु! तम्हारी आशा पूरी नहीं होगी।' क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी ईसाई हिन्दू हो जाएँ? भगवान करे कि ऐसा नहीं हो। क्या मैं यह चाहता हूँ कि सभी हिन्दू और बौद्ध ईसाई हो जाएँ? ईश्वर न करे कि ऐसा हो।... ईसाई को हिन्दू या बौद्ध अथवा हिन्दू और बौद्ध को ईसाई नहीं होना है। किन्तु इनमें से प्रत्येक का कर्तवय है कि वह अन्य धर्मों के सार अपने भीतर पचा ले और अपनी वैयक्तिता की पूर्ण रूप से रक्षा करते हुए उन नियमों के अनुसार अपना विकास खोजें, जो उसके अपने नियम रहे हैं।" अन्यत्र उन्होंने कहा है, आत्मा की भाषा एक है, किन्तु जातियों की भाषाएँ अनेक होती हैं। धर्म आत्मा की वाणी है। वही वाणी अनेक जातियों की विविध भाषाओं तथा रीति-रिवाजों में अभिव्यक्त हो रही है।"

धर्म को स्वामी जी व्यक्ति और समाज दोनों के लिए उपयोगी मानते थे। धर्म के विरुद्ध संसार में जो भयानक प्रतिक्रिया उठी है, उसका निदान वे यह देते थे कि दोष धर्म का नहीं, धर्म के गलत प्रयोग का है। ठीक वैसे ही जैसे विज्ञान से उठने वाली भीषणताओं का दायित्व विज्ञान पर न होकर, उन लोगों पर है जो विज्ञान का गलत उपयोग करते हैं। स्वामी जी का विचार था, धर्म को समाज पर जिस ढंग से लागू किया जाना चाहिए था, उस ढंग से वह लागू नहीं किया गया। हिन्दू अपनी सारी धार्मिक योजनाओं को कार्य के रूप में परिणत करने में असफल भले ही रहा हो, किन्तु यदि कभी भी कोई विश्वधर्म जैसा धर्म उत्पन्न होने वाला है, तो वह हिन्दुत्व के ही समान होगा जो देश और काल में कहीं भी सीमित या आबद्ध नहीं होगा, जो परमात्मा के समान ही अनन्त और निर्बाध होगा तथा जिसके सूर्य का प्रकाश कृष्ण और ईसा के अनुयायियों पर, सन्तों और अपराधियों पर एक समान चमकेगा। यह धर्म न तो ब्राह्मण होगा, न बौद्ध, न ईसाई, न मुसलमानी, प्रत्युत, वह इन सब के योग और सामंजस्य से उत्पन्न होगा।"

विवेकानन्द ने हिन्दू धर्म और भारतीय संकृति की जो सेवा की, उसका मूल्य नहीं चुकाया जा सकता। उनके उपदेशों से भारतवासियों ने यह सीखा कि भारतवर्ष का अतीत इतना उज्ज्वल और महान् है कि उसके प्रति गौरव तथा अभिमान होना ही चाहिए। उनके उपदेशों से हमें यह ज्ञान हुआ कि हमारी प्राचीन संस्कृति प्राणपूर्ण एवं आज भी विश्व का कल्याण करने वाली है। अँग्रेजी पढ़े-लिखे हिन्दू, जो अपने धर्म और संस्कृति की खिल्ली उड़ाने में ही अपनी सार्थकता समझते थे, विवेकानन्द के उपदेशों और कर्तृत्व से ही अन्तिम बार पराजित हुए। यह भी हुआ कि विवेकानन्द के उपदेशों से ही भारतवासी अपने पतन की गहराई माप सके, अपने शारीरिक क्षय एवं आधिभौतिक विनाश, अपनी क्रिया-विमुखता और आलस्य तथा अपने पौरुष के भयानक ह्रास को पहचान सके और विवेकानन्द की वाणी में ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता का जन्म हुआ एवं लोगों में अपने भविष्य के प्रति उज्ज्वल आशा संचरित हुई। साहस का सूर्य उदित हो चुका है, भारत का उत्थान अवश्य होगा। किसी में यह दम नहीं कि वह अब भारत को रोक सके। भारत अब फिर से निद्रा में नहीं पड़ेगा। यह भीमाकार देश फिर से अपने पाँव पर खड़ा हो रहा है।"

जब नरेन्द्रनाथ, परमहंस रामकृष्ण की संगति में आए, तो रामकृष्ण ने उनकी प्रतिभा को फौरन पहचान लिया। एक बार परमहंस जी ने कहा था, जिस एक शक्ति के उत्कर्ष के कारण केशवचन्द्र सेन (ब्रह्म-समाज के प्रसिद्ध नेता) जगद्विख्यात हुआ है, वैसी अठारह शक्तियों का नरेन्द्र में पूर्ण उत्कर्ष है।" स्वयं नरेन्द्रनाथ के समक्ष प्रार्थना की मुद्रा में रामकृष्ण ने कहा था, प्रभो! मुझे लगता है कि तू पुरातन नारायण ऋषि है और जीवों की दुर्गति का निवारण करने के लिए पुनः शरीर धारण करके आया है।" यह भक्त की परम्परागत भाषा है। किन्तु विवेकानन्द की प्रतिभा लोकोत्तर थी, यह हम भी कह सकते हैं। वर्तमान भारत जिस ध्येय को लेकर उठा है, उसका सारा आख्यान विवेकानन्द कर चुके थे। बाद के महात्मा और नेता उस ध्येय को कार्य का रूप देने का प्रयास करते रहे हैं। जिस स्वप्न के कवि विवेकानन्द थे, गांधी और जवाहरलाल उसके इंजीनियर हुए हैं।

□□□

पुस्तक-मित्र पंचायत

पुस्तकें मनुष्य जाति की श्रेष्ठ मित्र हैं। यह बात सर्वविदित है!! हम सभी जिन्हें 'साक्षर' कहा जाता है, पुस्तकों से आनंदित एवं लाभान्वित होते रहे हैं। साथ ही वे लोग जो अनपढ़ रह गये हैं उनको भी पुस्तकों के ज्ञान एवं विज्ञान का लाभ मिलता रहा है। कहते हैं यदि आपका सर्वस्व छिन जाये किन्तु आप में पठन-अध्ययन की प्रवृत्ति हो तो आप स्वयं को समृद्ध अनुभव कर सकते हैं। कुल मिलाकर यदि आप पुस्तकों से मित्रता रखते हैं तो आप जीवन भर ऊर्जावान व उपयोगी अस्तित्व बनाये रख सकते हैं। आज वह समय आ गया है जब हमलोग विभिन्न प्रकार के तनावों, अवसादों और संतापों से ग्रस्त हो रहे हैं। हर ओर हड़बड़ी मची हुई है इंटरनेट, टीवी, सिनेमा, रेडियो, मोबाइल जैसे संचार व मनोरंजन माध्यमों की भरमार में हमारा 'स्वाध्याय' समाप्त होता जा रहा है। पुस्तकों की विशिष्टता है कि वे एकांत माँगती हैं अथवा एकांत प्रदान करने की क्षमता भी रखती हैं। एक पुस्तक खुलते ही आप को उस काल में ले जाती है जिसमें वह रची अथवा जिसके लिए वह रची गई हो। ऐसी समयातीत भावना जगानेवाली हमारी परम मित्र पुस्तकों को वर्तमान में भारी उपेक्षा का सामना करना पड़ रहा है, लोग प्राय: पुस्तकों से विरत और उदासीन होते जा रहे हैं तथा सरकारी तंत्र भी बड़ा मुस्तैद नहीं दिख रहा, ऐसे में हम पुस्तक-मित्रों का यह उत्तरदायित्व है कि हम लोग एक साथ मिलकर बैठें, पुस्तकों को पढ़ें, पुस्तकें पढ़ायें और उन पर परिचर्चा कर अन्य लोगों में अध्ययनशीलता जगाएँ। नि:संदेह! हमारे पुनीत प्रयासों से समाज में एक शांतिमय-प्रेमपूर्ण-ऊर्जा का बहाव होगा, जो नये-युग का सृजन-सोपान सिद्ध होगा...

आज जहाँ प्रत्येक उल्टे-पुल्टे विषय पर नई-नई पंचायत दिखाई देती है ऐसे में 'पुस्तक-मित्र पंचायत' बड़ी महत्वपूर्ण रहेगी, जहाँ एक साथ बैठकर लोग पुस्तकों और पुस्तक सामग्रियों पर सृजनात्मक चिंतन-मनन और परिचर्चा करेंगे और अनेकानेक सामाजिक प्रश्नों को भी हल करने का प्रयास करेंगे।

आइये! समय के इस धुँधले कालखंड में पुस्तकों में निहित ज्योति कणों को एक साथ मिलकर एकत्रित करें और ऐसे 'ज्ञान-सूर्य' की रचना करें जो इस धारा पर 'वास्तविक-प्रभात' ला सके!!

इस पुस्तक-मित्र पंचायत अभियान के लिए ओमा-दि-अक् द्वारा रचित अभियान गीत

पुस्तक-मित्र बनेंगे हम-तुम
पुस्तक-मित्र बनाना है,
पुस्तक-मित्रों की पंचायत
हर चौपाल बिठाना है...

पुस्तक ऐसी मित्र
कि सुख के वृक्ष लगाना सिखलाती,
दु:ख का ताप बढ़े तो
हौले-हौले माथा सहलाती;
कभी सिरहाने,
कभी गोद में
कभी लगे जो सीने से;
ऐसी जीवन-साथी पुस्तक
का सम्मान बढ़ाना है।
पुस्तक-मित्रों की पंचायत
हर चौपाल बिठाना है....

पुस्तक ऐसी मित्र
कि जिसमें इतिहासों की थाती है,
संस्कृतियों के दीपक रखे
साहित्यों की बाती है;

कहीं भौतिकी, गणित, रसायन
कहीं नाचना-गाना है,
पुस्तक-मित्रों की पंचायत
हर चौपाल बिठाना है....

पुस्तक ऐसी मित्र
जो गीत भविष्यत् के गाती है,
वर्तमान की रचना करती
स्मृतियाँ दोहराती है;
ऐसी शक्ति, ऐसी ऊर्जा
जो नव-युग का सृजन करे,
उज्ज्वल-जग की रचना हित
हम सबको हाथ मिलाना है।
पुस्तक-मित्रों की पंचायत
हर चौपाल बिठाना है...!!

□□□

RNI. NO.- MAHHIN/2004/19150
ISSN 2229-5747 ANBHAI

राष्ट्रकवि रामधारी सिंह 'दिनकर' स्मृति न्यास
प्रधान कार्यालय : 206, द्वितीय तल, विराट भवन, कॉमर्शियल कॉम्प्लेक्स
डॉ. मुखर्जी नगर, दिल्ली–110009
दूरभाष : 011–47027661, 65029239
वेबसाइट : www.dinkarnyas.com, www.dinkarnyas.org
ईमेल : dinkarsmriti@yahoo.co.in